नमस्ते जी

ऋषि दयानंद द्वारा प्रचारित वैदिक विचारधारा ने सैकड़ो हृदय को क्रन्तिकारी विचारो से भर दिया | जो वेद उस काल में विचारो से भी भुला दिए गए थे | ऋषि दयानंद ने उन हृदयों को वेदों के विचारो से ओतप्रोत कर दिया और देश में वेद गंगा बहने लगी | ऋषि के अपने अल्प कार्य काल में समाज की आध्यात्मिक, सामाजिक, और व्यक्तिगत विचार धारा को बदल के रख दिया | ऋषि के बाद भी कही वर्षो तक यह परिपाटी चली पर यह वैचारिक परिवर्तन पुनः उसी विकृति की और लौट रहा है | और इसी विकृति को रोकने के लिए वैदिक विद्वान प्रो० राजेंद्र जी जिज्ञासु के सानिध्य में "पंडित लेखराम वैदिक मिशन" संस्था का जन्म हुआ है | इस संस्था का मुख्य उद्देश्य वेदों को समाज रूपी शरीर के रक्त धमनियों में रक्त के समान स्थापित करना है | यह कार्य ऋषि के जीवन का मुख्य उद्देश्य था और यही इस संस्था का भी मुख्य उद्देश्य है | संस्था के अन्य उद्देश्यों में सम्मिलत है साहित्य का सृजन करना | जो दुर्लभ आर्य साहित्य नष्ट होने की और अग्रसर है उस साहित्य को नष्ट होने से बचाना और उस साहित्य को क्रम बद्ध तरीके से हमारे भाई और बहनों के समक्ष प्रस्तुत करना जिससे उनकी स्वाध्याय में रूचि बढ़े और वे तुलनात्मक अध्यन कर सकें जिससे उनकी स्वधर्म में रूचि बढ़े और अन्य मत मतान्तरो की जानकारी उन्हें प्राप्त हो और वे विधर्मियो द्वारा लगाये जा रहे विभिन्न आक्षेपों का उत्तर दे सकें विधर्मियो से स्वयं भी बचें और अन्यो की भी सहयता करें | संस्था का उद्देश्य है समाज के समक्ष हमारे गौरव शाली इतिहास को प्रस्तुत करना जिससे हमारा रक्त जो ठंडा हो गया है वह पुनः गर्म हो सके और हम हमारे इतिहास पुरुषो का मान सम्मान करें और उनके बताये गये नीतिगत मार्ग पर चलें | संस्था का अन्य उद्देश्य गौ पालन और गौ सेवा को बढ़ावा देना जिससे पशुओ के प्रति प्रेम, दया का भाव बढ़े और इन पशुओ की हत्या बंद हो, समाज में हो रहे परमात्मा के नाम पर पाखण्ड, अन्धविश्वास, अत्याचार को जड़ से नष्ट करना और परमात्मा के शुद्ध वैदिक स्वरुप को समाज के समक्ष रखना, हमारे युवा शक्ति को अनेक भोग, विबिन्न व्यसनों, छल, कपट इत्यादि से बचाना |

इन कार्यो को हम अकेले पूरा करने का सामर्थ्य नहीं रखते पर, यह सारे कार्य है तो बड़े विशाल और व्यापक पर अगर संस्था को आप का साथ मिला तो बड़ी सरलता से पूर्ण किये जा सकते है | हमारा समाजिक ढाचा ऐसा है की हम प्रत्येक कार्य की लिए एक दुसरे पर निर्भर है | आशा करते है की इस कार्य में आप हमारी तन, मन से साहयता करेंगे | संस्था द्वारा चलाई जा रही वेबसाइट www.aryamantavya.in और www.vedickranti.in पर आप संस्था द्वारा स्थापित संकल्पों सम्बन्धी लेख पड़ सकते है और भिन्न-भिन्न वैदिक साहित्य को निशुल्क डाउनलोड कर सकते है | कृपया स्वयं भी जाये और अन्यो को भी सूचित करे यही आप की हवी होंगी इस यज्ञ में जो आप अवश्य करेंगे यही परमात्मा से प्रार्थना करते है |

जिन सज्जनों के पास दुर्लभ आर्य साहित्य है एवं वे उसे संरक्षित करने में संस्था की सहायता करना चाहते हैं वो कृपया निम्न पते पर सूचित करें

ptlekhram@gmail.com

धन्यवाद् !

पंडित लेखराम वैदिक मिशन

आर्य मंतव्य टीम

अनुसन्धानात्मक प्रकाशन

विशुद्ध-मनुस्मृतिः

[हिन्दीभाष्य, प्रक्षिप्तश्लोकरहित एवं 'अनुशीलन' नामक समीक्षासहित शास्त्रीयप्रमाणों से अलंकृत तथा मनुस्मृतिसम्बन्धी आलोचनात्मक अध्ययन से युक्त]

[परिवर्धित एवं परिष्कृत संस्करण]

भाष्यकार, अनुसन्धानकर्त्ता एवं समीक्षक –

प्रो० डॉ० सुरेन्द्रकुमार

आचार्य (संस्कृत-साहित्य, व्याकरण, दर्शन) एम.ए. (हिन्दी), पी-एच०डी०

सम्पादक

श्री राजवीर शास्त्री (एम. ए.)

प्रकाशक

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट

४५५, खारी बावली, दिल्ली-११०००६

प्रकाशक-
आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट
४५५, खारी बावली, दिल्ली–११०००६
मुख्य कार्यालयः ४२७ नया बांस दिल्ली–६
दूरभाष– २३३११२, २३८३६०, २६२२६१२

जनवरी, १९९९
दयानन्दाब्द : १७१
विक्रमाब्द : २०५२
सृष्टिसंवत् : १,९६,०८,५३,०९९

चतुर्थ संस्करण
मूल्यः रु RS. 120/- मात्र)

प्रथम संस्करण	३०००
द्वितीय संस्करण	३०००
तृतीय संस्करण	३२००
चतुर्थ संस्करण	५५००
कुल योग	१४७००

मुद्रकः रविन्द्रा आफसैट प्रेस, नरायणा, नई दिल्ली
[illegible]

A Research Publication

THE
VISHUDDHA MANUSMRITI

(Hindi Exposition, without interpolated shlokas, alongwith Anusheelan Commentary embellished with authority from Shastras, and a critical study of The Manusmriti)

[Enlarged and Improved Edition]

Bhashyakar, Researcher and Commentator

Prof. Dr. Surendra Kumar
Acharya (Sanskrit Literature, Grammar and Philosophy), M.A. (Hindi)
Ph.D.

Editor
Shri Rajvir Shastri (M.A.)

Published by :

Arsh Sahitya Prachar Trust,
455, Khari Baoli, Delhi-110 006

Published by:

Arsh Sahitya Prachar Trust,
455-Khari Baoli, Delhi-110006
Main Office 427 Naya Bans Delhi-11006
Phone : 233112, 238360, Regi : 2526828, 2517377

Jan 1996
Year of Dayanand : 171
Vikrami Samvat: 2052
Srishti Samvat: 1,96,08,53,096

Fourth Edition
Price: Rs

RS. 120/-

First Edition	3000
Second Edition	3000
Third Edition	3200
Fourth Edition	5500
Total	14700

महर्षि दयानन्द

मनुस्मृति के अनुसन्धानकर्ता, भाष्यकार एवं समीक्षक
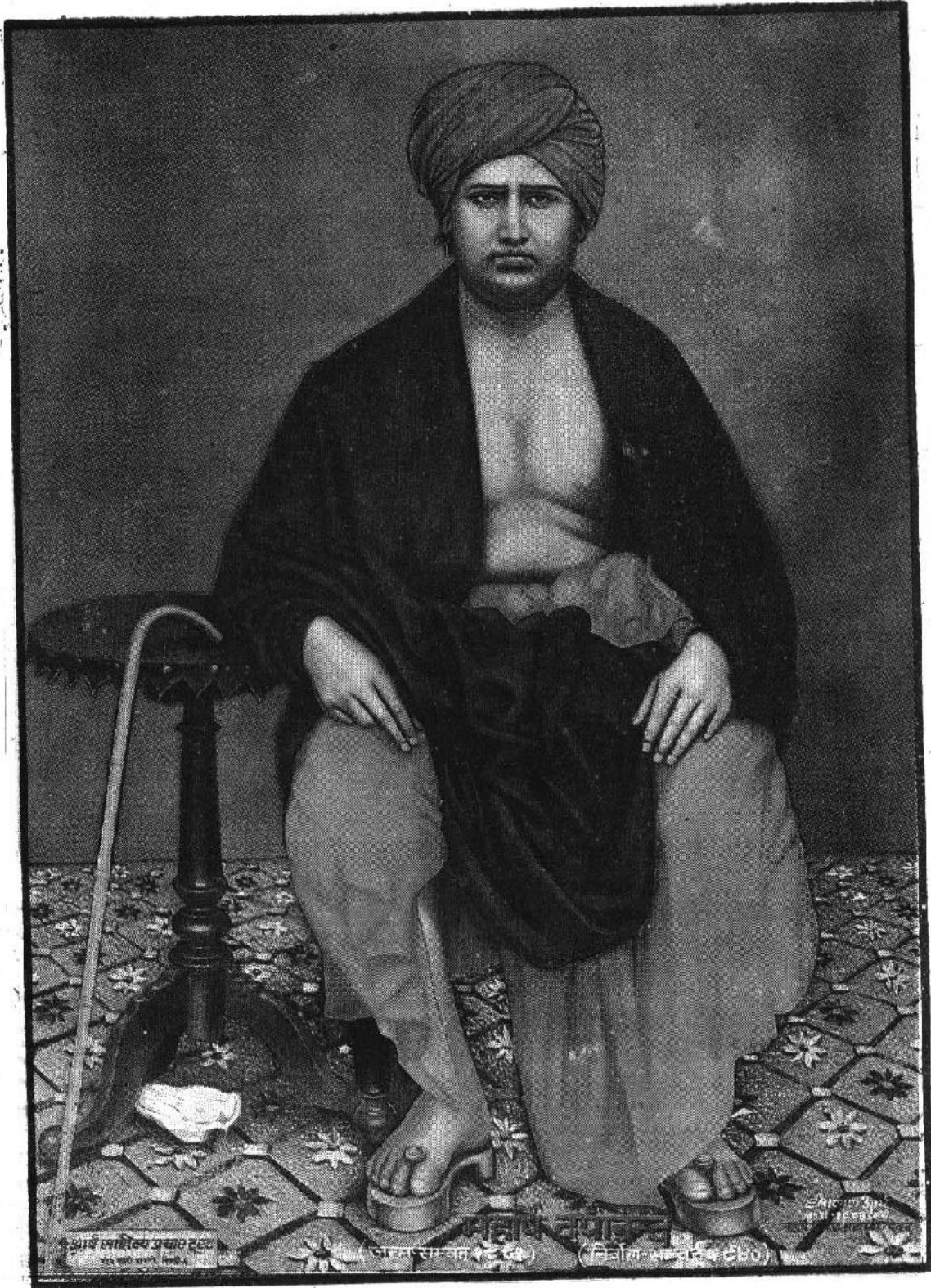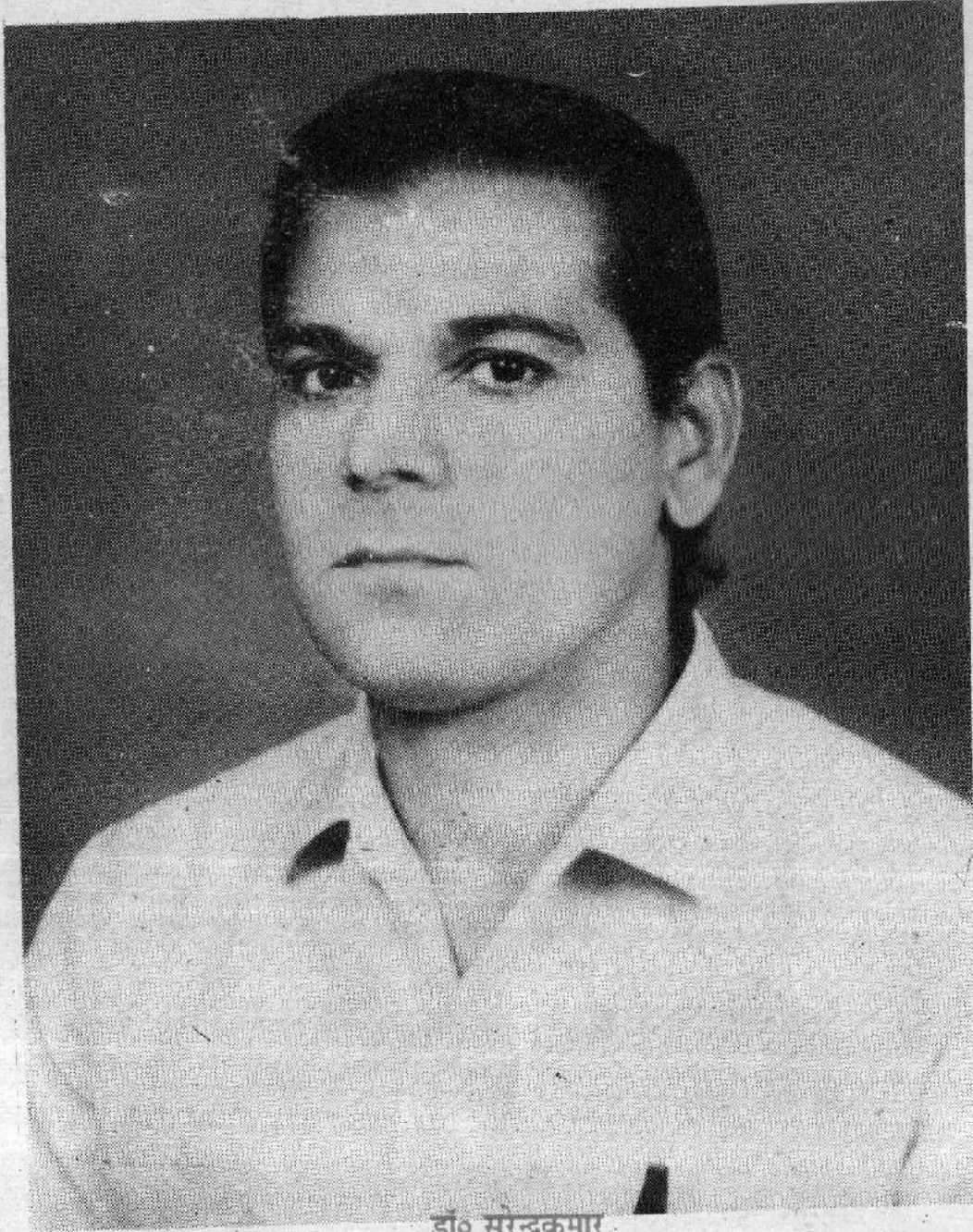
डॉ० सुरेन्द्रकुमार

कृतियां— सम्पूर्ण मनुस्मृति, विशुद्ध मनुस्मृति, महर्षि दयानन्द के यजुर्वेदभाष्य में संगतिस्थापना, वैदिक आख्यान—संस्कृत एवं हिन्दी काव्यों में चित्रण और स्वरूपविवेचन (शोध प्रबन्ध), वाल्मीकि रामायण—प्रक्षेपानुसन्धानपूर्वक भाष्य एवं ऐतिहासिक, भौगोलिक, शास्त्रीय आदि समीक्षाओं सहित (दोनों शीघ्र प्रकाश्य), विभिन्न पत्रिकाओं में दो दर्जन से अधिक लेख प्रकाशित।

आचार्य राजवीर शास्त्री
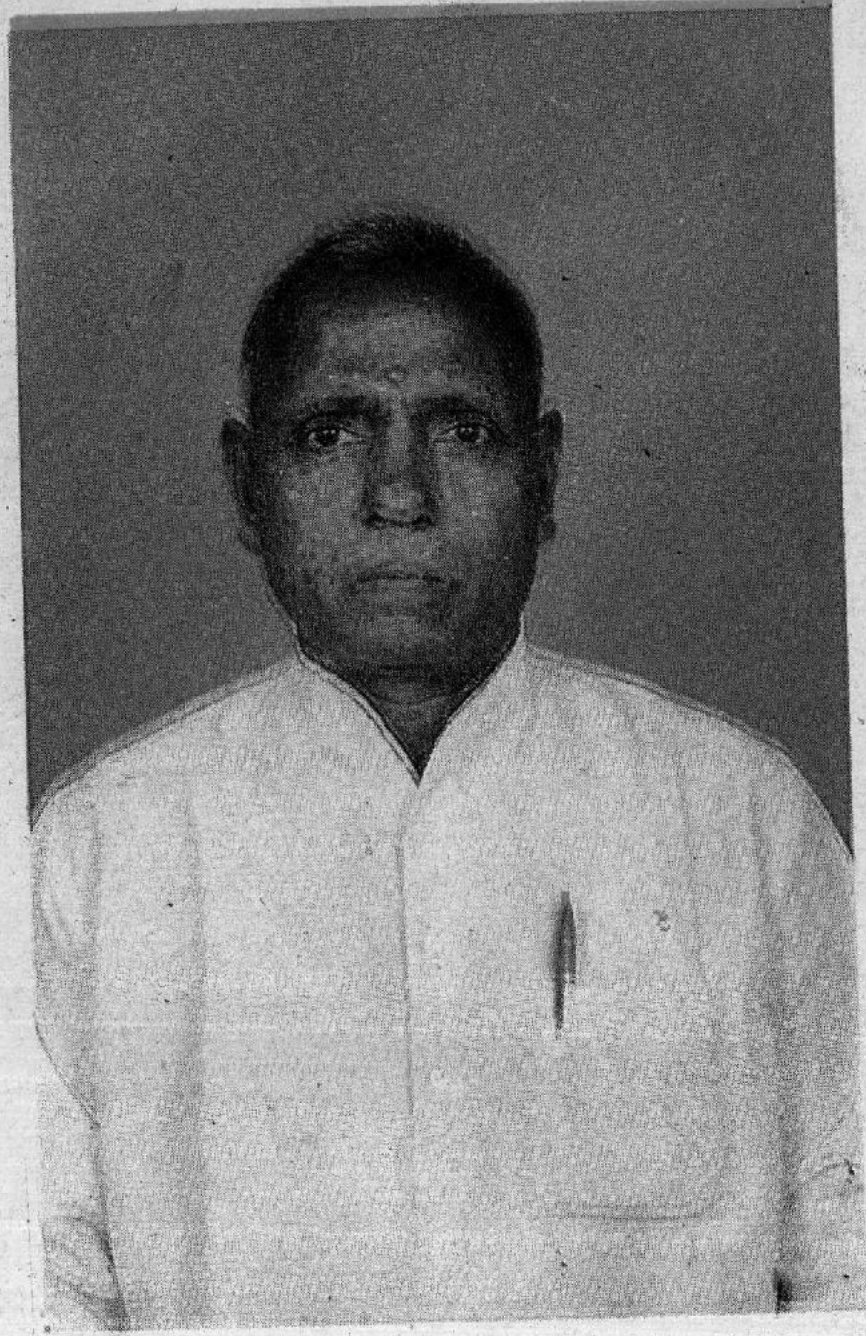
अवैतनिक सम्पादकः "दयानन्द सन्देश" मासिक

प्रधानः आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली

ऋषिभक्त, अथक परिश्रमी स्वर्गीय महाश्य दीप चन्द जी आर्य
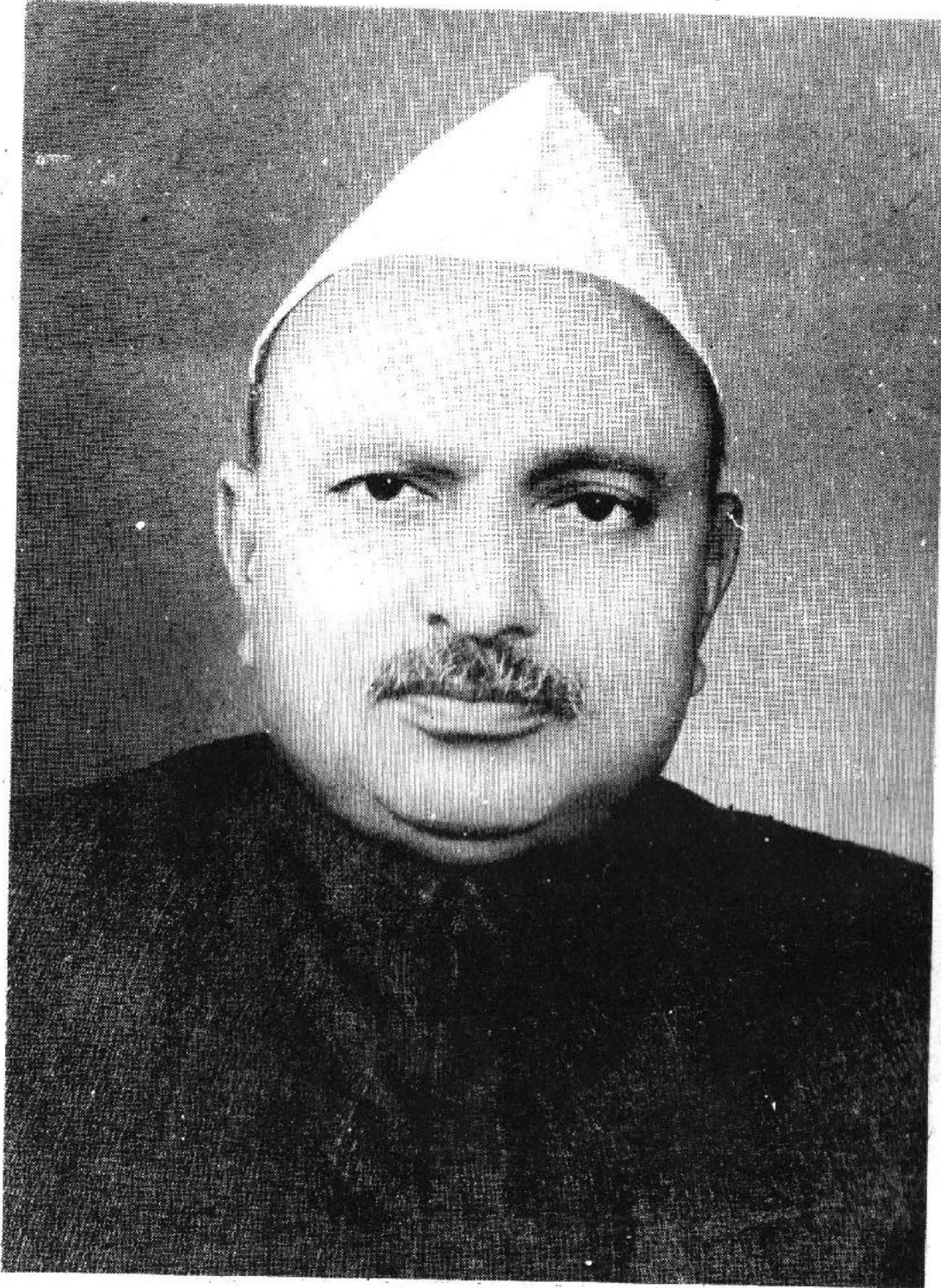
स्व० दीपचन्द आर्य

जन्मः- भादवा बदी- १ संवत् १९७६ निधन-पोष सुदी दूज संवत् २०३८

प्रकाशकीय

मनुस्मृति, ट्रस्ट का एक गौरवपूर्ण और अनुपम प्रकाशन है । ट्रस्ट ने मनुस्मृति के प्रक्षेपों के अनुसंधान का जो प्रामाणिक कार्य जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया है, ऐसा आज तक किसी ने नहीं किया था ।

ट्रस्ट की ओर से मौलिक और प्रक्षिप्त श्लोकों के अनुसंधान और विवेचन से युक्त सम्पूर्णमनुस्मृति का संस्करण जब पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया गया तो उस कार्य से संतुष्ट हुए पाठकों ने यह मांग रखी कि जब आपने मनुस्मृति के मौलिक और प्रक्षिप्त श्लोकों का निर्धारण कर लिया है तो क्यों न केवल मौलिक श्लोकों से युक्त एक पृथक् संस्करण 'विशुद्ध मनुस्मृति' के रूप में प्रकाशित कर दिया जाये, जिससे मनुस्मृति का स्वाध्याय करने के इच्छुक और धर्मजिज्ञासु व्यक्ति तथा छात्र, भ्रान्ति, पक्षपात, दुराग्रह-पूर्ण श्लोकों के मायाजाल से बच सकें और मनु के मौलिक और निर्भ्रान्त उपदेशों-आदेशों को अविरल रूप में पढ़ने का आनन्द प्राप्त कर सकें ।

पाठकों की उसी मांग को पूरा करने के उद्देश्य से ट्रस्ट ने यह 'विशुद्ध मनुस्मृति' नामक पृथक् संस्करण प्रकाशित किया है । यह सम्पूर्ण मनुस्मृति के अनुसन्धानकार्य पर आधारित है । उसमें निर्धारित मानदण्डों के आधार पर प्रक्षिप्त घोषित हुए श्लोकों को इस संस्करण में छोड़ दिया है और केवल मौलिक श्लोकों को ग्रहण किया गया है । इसका प्रथम संस्करण दिसम्बर १९८१ में प्रकाशित हुआ था ।

विशुद्ध मनुस्मृति का यह नवीन संस्करण है, जो अपने अन्दर और अधिक विशेषताएं लिये हुए है । इसमें मनुस्मृति के मूल्यांकन से सम्बन्धित तथा श्लोकसम्बन्धी समीक्षा से सम्बन्धित लगभग २५० पृष्ठों की नयी सामग्री प्रदान की जा रही है । लेखक ने मनु और मनुस्मृति से सम्बन्धित विवादों, प्रश्नों पर प्रक्षेपरहित नवीन दृष्टिकोण से सप्रमाण और युक्तियुक्त विवेचन किया है । वेदों तथा अन्य शास्त्रग्रन्थों के प्रमाणों से मनु के भावों को उद्घाटित एवं पुष्ट किया है । मैं विश्वास के साथ कह सकता हूं कि यह संस्करण पाठकों और अनुसंधानकर्त्ताओं के लिए और अधिक उपयोगी सिद्ध होगा ।

ट्रस्ट का प्रमुख उद्देश्य है — 'आर्ष साहित्य का प्रचार-प्रसार एवं उसका तथा उस पर किये गये अनुसन्धानकार्य का प्रकाशन' । किन्तु प्राचीन आर्ष साहित्य के सन्दर्भ में आज हमारे सामने जो सबसे बड़ी समस्या उपस्थित होती है, वह है उसमें प्रक्षेपों की मिलावट । वेदों को छोड़कर प्राय : समस्त प्राचीन ग्रन्थों में स्वार्थी और दुर्भावनाग्रस्त लोगों ने प्रक्षेप कर डाले हैं । प्राचीन काल में यह काम अत्यन्त आसानी से हो सकता था, क्योंकि ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियां होती थीं । जिसके पास जो प्रति थी, उसने उसमें मनचाही सामग्री जोड़ दी । आज

प्रकाशन के युग में भी लोग पूर्ववर्ती लेखकों की पुस्तकों में मनचाहा संशोधन कर डालते हैं ।

मैं समझता हूं कि आज हमारे सामने जो सबसे पहली और बड़ी चुनौती है, वह है आर्ष साहित्य को प्रक्षेपों से रहित करना । क्योंकि जब तक उनमें प्रक्षेप हैं, तब तक उन पर तरह-तरह की शंकाएं और आक्षेप उठते रहेंगे । उनकी प्रामाणिकता में सन्देह रहेगा और उनके प्रचार में वे बाधा बनेंगे । प्रक्षेपों ने प्राचीन साहित्य के वास्तविक स्वरूप को विकृत कर दिया है । उससे प्राचीन भारत की संस्कृति-सभ्यता और इतिहास का स्वरूप भी विकृत हो गया है । यह रूप तभी स्वच्छ हो सकता है, जब अनुसन्धान करके उनके प्रक्षेपों का निर्देश किया जाये । इस जटिल कार्य को करने का दायित्व ट्रस्ट ने स्वीकार किया है और इस कार्य की पहली भेंट यह मनुस्मृति है । इसके प्रक्षेपों को निकालने में कृतित्व पर आधारित तटस्थ मानदण्डों को अपनाकर जो परिश्रम किया गया है, उसका अनुमान आपको प्रथम संस्करण से हो गया होगा ।

ट्रस्ट की ओर से इसी पद्धति पर वाल्मीकि-रामायण पर भी कार्य चल रहा है । उस कार्य को भी प्रो. सुरेन्द्र कुमार ही सम्पन्न कर रहे हैं । एक-आध वर्ष में ही वह पाठकों के सामने आ जायेगा ।

इस जटिल और परिश्रमसाध्य कार्य को सम्पन्न करने के लिए मैं श्री सुरेन्द्र कुमार जी को बहुश: धन्यवाद देता हूं । श्री राजवीर जी शास्त्री ने भी इस कार्य में समय-समय पर अपने सुझाव देकर इसे परिष्कृत करने में सहयोग किया है, एतदर्थ मैं उनका भी आभारी हूं । इनके अतिरिक्त जिन विद्वानों, पाठकों या अन्य व्यक्तियों ने प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से इस कार्य में किसी भी प्रकार का योगदान किया है, उनका भी मैं धन्यवादी हूं । आशा करता हूं कि इस अत्यावश्यक एवं महान् कार्य को पूर्ण करने में ट्रस्ट को सदैव सभी का सहयोग प्राप्त होता रहेगा ।

निवेदक —

धर्मपाल आर्य

मंत्री — आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट

२- एफ, कमलानगर, दिल्ली-७

प्राक्कथन

सम्पूर्ण मनुस्मृति का अनुसन्धानपूर्ण प्रकाशन, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट की ओर से दो बार (मई १९८२ और सितम्बर १९८५ में) किया जा चुका है । उस संस्करण में सभी श्लोकों को यथास्थान और यथाक्रम रखते हुए, निर्धारित सात मानदण्डों — १. परस्परविरोध (अन्तर्विरोध), २. प्रसंगविरोध, ३. विषयविरोध, ४. अवान्तरविरोध, ५. शैलीगत आधार, ६. पुनरुक्ति, ७. वेदविरोध — के आधार पर प्रक्षिप्त श्लोकों का अनुसन्धान किया गया है और प्रक्षिप्त सिद्ध हुए श्लोकों पर सकारण, सयुक्तिक, साधार, विस्तृत समीक्षा दी गयी है । अनुसन्धानकर्त्ताओं तथा प्रक्षिप्त एवं मौलिक श्लोकों में सयुक्तिक जिज्ञासा रखने वाले या उनके चिन्तन में अभिरुचि रखने वाले पाठकों के लिए वह विस्तृत विश्लेषण लाभप्रद रहा, किन्तु उक्त विस्तृत ऊहापोह में रुचि न रखने वाले और प्रक्षिप्त श्लोकों के अध्ययन की इच्छा न रखने वाले स्वाध्यायी व्यक्तियों, धर्मजिज्ञासुओं, अल्पविकसितमति छात्रों तथा मनु के उपदेशों-आदेशों की भ्रान्तिरहित जानकारी चाहने वाले अन्य सामान्य पाठकों को पृथक् से एक 'केवल मौलिक श्लोकों से युक्त' संस्करण की आवश्यकता अनुभव होती रही । पाठकों की इस मांग को पूरा करने के उद्देश्य से सम्पूर्ण मनुस्मृति के अनुसन्धानकार्य पर आधारित यह 'विशुद्ध मनुस्मृति' का संस्करण पृथक् से प्रकाशित किया जा रहा है ।

सम्पूर्ण मनुस्मृति में मौलिक सिद्ध हुए श्लोकों को बड़े टाइप में तथा एक अतिरिक्त क्रमसंख्या, जो कि लघुकोष्ठक में है, देकर प्रकाशित किया है और प्रक्षिप्तों को छोटे टाइप में छापा है, ताकि पढ़ने से पूर्व देखते ही मौलिक और प्रक्षिप्त श्लोकों का ज्ञान हो सके । उन्हीं मौलिक श्लोकों से यह 'विशुद्ध मनुस्मृति' नामक संस्करण तैयार किया गया है और निर्धारित मानदण्डों के आधार पर प्रक्षिप्त सिद्ध हुए श्लोकों को इसमें छोड़ दिया गया है ।

विशुद्ध मनुस्मृति का यह परिवर्धित एवं परिष्कृत नवीन संस्करण है । प्रथम संस्करण का प्रकाशन अत्यन्त शीघ्रता में हुआ था । प्रकाशन के साथ-साथ अग्रिम अनुसन्धान कार्य भी चलता रहा था । इस तथा कुछ अन्य कारणों से प्रथम संस्करण में कुछ कमियां और त्रुटियां रह गयी थीं । उनके लिए हमें खेद है । इस संस्करण में उन त्रुटियों को दूर कर दिया गया है । साथ ही पाठकों के लिए बहुत सारी नयी सामग्री भी इसमें दी जा रही है । भूमिका में मनु एवं मनुस्मृति से सम्बन्धित नये विषयों पर भी विचार किया गया है और नये दृष्टिकोण से निर्णय लेने का प्रयास किया गया है । इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि प्रक्षेपानुसन्धान के परिप्रेक्ष्य में मनुस्मृति का पुनर्मूल्यांकन किया जाये । उसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए यह एक प्रयास है । मैं आशा करता हूँ कि यह संस्करण पाठकों के लिए और अधिक उपयोगी सिद्ध होगा ।

इससे प्रक्षिप्त श्लोकों के विश्लेषण में अपना समय-यापन करने की इच्छा न रखने वाले स्वाध्यायी व्यक्तियों, धर्मजिज्ञासुओं को जहाँ मनुस्मृति के मौलिकरूप को पढ़ने का अवसर मिलेगा और मनु के उपदेशों-आदेशों को अविरल रूप में पढ़ने का आनन्द मिलेगा, वहां सामान्य पाठकों को मनु की

वास्तविक मान्यताओं का ज्ञान निभ्रान्ति रूप में हो सकेगा । छात्रों को भी क्रम और विषयबद्ध रूप में निर्भ्रान्त सामग्री का ग्रन्थ अध्ययन-अध्यापन के लिए सुलभ होगा ।

स्मृतियों या धर्मशास्त्रों में मनुस्मृति सर्वाधिक प्रामाणिक आर्ष ग्रन्थ है । मनुस्मृति के परवर्तीकाल में अनेकों स्मृतियां प्रकाश में आयीं किन्तु मनुस्मृति के तेज के समक्ष वे टिक नहीं सकीं — अपना प्रभाव न जमा सकीं, जबकि मनुस्मृति का वर्चस्व आज तक पूर्ववत् विद्यमान है । मनुस्मृति में एक ओर मानव एवं मानव-समाज के लिए सांसारिक श्रेष्ठ कर्त्तव्यों का विधान है, तो साथ ही मानव को मुक्ति प्राप्त कराने वाले आध्यात्मिक उपदेशों का निरूपण भी है, इस प्रकार मनुस्मृति भौतिक एवं आध्यात्मिक आदेशों — उपदेशों का मिलाजुला अनूठा शास्त्र है ।

इसके साथ-साथ सभी धर्मशास्त्रों से प्राचीन होने और सृष्टि के प्रारम्भिक काल का शास्त्र होने का गौरव भी मनुस्मृति को ही प्राप्त है । शतपथ, तैत्तिरीय, काठक, मैत्रायणी, ताण्ड्य आदि ब्राह्मणों में मनु का उल्लेख होना और '**मनुर्वै यत्किञ्चावदत् तद् भैषजम्**'' (तैत्ति. सं. २।१।१०।२ ; ३।१।९।४।। तां.ब्रा. २३।१६।७।।) अर्थात् — 'मनु ने जो कुछ कहा है, वह भेषज = औषध के समान गुणकारी एवं कल्याणकारी है,' आदि वचनों का प्राप्त होना, मनुस्मृति को प्राचीनतम और विशिष्ट धर्मशास्त्र सिद्ध करता है । महर्षि-दयानन्द ने मनुस्मृति का काल आदिसृष्टि में माना है । उसका अभिप्राय यही है कि मनु मानव एवं मानव-समाज की मर्यादाओं, व्यवस्थाओं के सर्वप्रथम उपदेष्टा थे । मनु की व्यवस्थाएं सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक रूप में सत्य एवं व्यावहारिक हैं । इसका कारण यह है कि मनुस्मृति वेदमूलक है । पूर्णत : वेदमूलक होना मनुस्मृति की एक और परमविशेषता है । इस विशेषता के कारण भी मनुस्मृति को सर्वाधिक सम्मान मिला । शास्त्रकारों ने मनुस्मृति के महत्त्व को निर्विवाद रूप में स्वीकार करते हुए ही यह स्पष्ट घोषणा की है कि —

मनुस्मृति-विरुद्धा या सा स्मृतिर्न प्रशस्यते ।
वेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्राधान्यं हि मनो:स्मृते: ।। (बृह. स्मृति)

अर्थात् — 'जो स्मृति मनुस्मृति के विरुद्ध है, वह प्रशंसा के योग्य नहीं है । वेदार्थों के अनुसार वर्णन होने के कारण मनुस्मृति ही सब में प्रधान और प्रशंसनीय है' ।

इस प्रकार अनेकानेक विशेषताओं के कारण मनुस्मृति मानवमात्र के लिए उपयोगी एवं पठनीय है । किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि आज ऐसे उत्तम और प्रसिद्ध ग्रन्थ का पठन-पाठन लुप्तप्राय : होने लग रहा है । इसके प्रति लोगों में अश्रद्धा की भावना घर करती जा रही है । इसका कारण है — 'मनुस्मृति में प्रक्षेपों की भरमार होना' । प्रक्षेपों के कारण मनुस्मृति का उज्ज्वल रूप गन्दा एवं विकृत हो गया है । परस्परविरुद्ध, प्रसंगविरुद्ध एवं पक्षपातपूर्ण बातों से मनुस्मृति का वास्तविक स्वरूप और उसकी गरिमा विलुप्त हो गये हैं । एक महान् तत्त्वद्रष्टा, ऋषि के अनुपम शास्त्र को प्रक्षेपकर्त्ताओं ने विविध प्रक्षेपों से दूषित करके न केवल इस शास्त्र के साथ अपितु महर्षि मनु के साथ भी अन्याय किया है ।

इस अनुसन्धानकार्य एवं भाष्य की विशेषताएं —

१. निर्धारित मानदण्डों के आधार पर मौलिक सिद्ध हुए श्लोकों का संकलन —

महर्षि-दयानन्द के वचनों से प्रेरणा एवं मार्गदर्शन प्राप्त करके मनुस्मृति के प्रक्षेपों के अनुसन्धान का यह कठिन एवं उलझनभरा कार्य प्रारम्भ किया और कई वर्षों तक सतत प्रयास के परिणामस्वरूप

मनुस्मृति के प्रक्षेपों को निकालने का कार्य सम्पन्न हो पाया है । यद्यपि अभी इस अनुसन्धान कार्य को 'अन्तिम' नहीं कहा जा सकता किन्तु इतना अवश्य है कि अधिकांश प्रक्षेपों के निकल जाने से मनुस्मृति का वह दूषित, विकृत और गदला स्वरूप पर्याप्त रूप से दूर हो गया और उसका उज्ज्वल वास्तविक रूप सामने आया है ।

इस प्रकाशन का सबसे प्रमुख प्रयोजन यही है कि मनुस्मृति के दूषित, गदले, विकृत स्वरूप को दूरकर उसके वास्तविक स्वरूप को प्रस्तुत करना । वैसे तो बाजार में हिन्दी-संस्कृत की टीका युक्त मनुस्मृति के सैकड़ों प्रकाशन उपलब्ध हैं और कई सौ वर्षों से मनुस्मृति पर लेखन कार्य होता चला आ रहा है, किन्तु अभी तक इस दृष्टि से और इस रूप में किसी भी लेखक ने कार्य नहीं किया ।

प्रक्षेपों को निकालने में किसी पूर्वाग्रह या पक्षपात की भावना का आश्रय न लेकर तटस्थता को अपनाया है और ऐसे 'आधारों' या 'मानदण्डों' को आधार बनाया है, जो सर्वमान्य हैं । वे हैं — (१) अन्तर्विरोध या परस्परविरोध, (२) प्रसंगविरोध, (३) विषयविरोध, (४) अवान्तरविरोध, (५) शैलीविरोध, (६) पुनरुक्ति, (७) वेदविरोध । ये सभी मानदण्ड कृति के अन्त : साक्ष्य पर आधारित हैं । इनके आधार पर जो श्लोक प्रक्षिप्त सिद्ध हुए हैं, उन्हें छोड़ दिया गया है और शेष रहे मौलिक श्लोकों को इसमें संकलित किया है ।

सम्पूर्ण मनुस्मृति में, मनुस्मृति के सभी श्लोकों को यथा स्थान, यथाक्रम रखते हुए, जहाँ-जहाँ प्रक्षेप हैं, वहाँ-वहाँ उन पर पूर्वोक्त आधारों के नामोल्लेख पूर्वक 'अनुशीलन' नामक समीक्षा दे दी है, जिससे पाठक स्वयं भी उनकी परीक्षा कर सकें । 'विशुद्ध मनुस्मृति' उसी संस्करण पर आधारित है ।

उपलब्ध मनुस्मृतियों में कुल श्लोक-संख्या २६८५ है । प्रक्षेपानुसन्धान के पश्चात् १४७१ श्लोक प्रक्षिप्त सिद्ध हुए हैं और १२१४ मौलिक । अध्यायानुसार प्रक्षिप्त एवं मौलिक श्लोकों की तालिका निम्न प्रकार है —

अध्याय	उपलब्ध कुल श्लोक	प्रक्षिप्त	मौलिक शेष
प्रथम अध्याय	१४४ (इस संस्करण के अनुसार)	६६	७८
द्वितीय अध्याय	२२४ (इस संस्करण के अनुसार)	६०	१६४
तृतीय अध्याय	२८६	२०२	८४
चतुर्थ अध्याय	२६०	१७०	९०
पञ्चम अध्याय	१६९	१२८	४१

षष्ठ अध्याय	९७	३३	६४
सप्तम अध्याय	२२६	४२	१८४
अष्टम अध्याय	४२०	१८७	२३३
नवम अध्याय	३२५ (इस संस्करण के अनुसार)	१६८	१५७
दशम अध्याय	१४२ (इस संस्करण के अनुसार)	१२७	१५
एकादश अध्याय	२६६	२३४	३२
द्वादश अध्याय	१२६	५४	७२
कुल योग	२६८५	१४७१	१२१४

(२) विभिन्न शास्त्रों के प्रमाणों से पुष्ट अनुशीलन समीक्षा —

मनुस्मृति में लगभग ६०० श्लोकों पर 'अनुशीलन' समीक्षा देकर उसमें श्लोक के भावों, गुत्थियों, विवादों, मान्यताओं तथा अन्याय विचारणीय बातों पर मनन किया गया है और अधिक से अधिक स्पष्ट करने तथा सुलझाने का प्रयास किया गया है। अनेक स्थलों पर विषय को तालिकाओं के द्वारा भी स्पष्ट किया गया है। समीक्षा में वेदों, ब्राह्मण ग्रन्थों, संहिताओं, उपनिषदों, दर्शनों, व्याकरण एवं सूत्रग्रन्थों, निरुक्त, सुश्रुत तथा कौटिल्य अर्थशास्त्र आदि के अनेक प्रमाण देकर, उनसे मनु की मान्यताओं और भावों का समन्वय स्थापित करते हुए, उन्हें और अधिक प्रमाणित एवं पुष्ट किया गया है। अनेक पदों का व्याकरण देकर उनका अर्थ भी उद्घाटित किया है। कौटिल्य अर्थशास्त्र को आंशिक रूप में ही प्रामाणिक माना गया है। उसे तुलनात्मक रूप में उद्धृत करने का अभिप्राय यह दर्शाना भी है कि मनूक्त विधि- विधान पर्याप्त अवरकाल तक अविरलरूप में मान्य और प्रचलित रहे हैं।

(३) मनु के वचनों से मनु के भावों की व्याख्या —

उपर्युक्त अनुशीलन के साथ-साथ यह भी प्रयास किया गया है कि जिन श्लोकों या भावों की व्याख्या और स्पष्टीकरण स्वयं मनु के वचनों से प्राप्त हो सकें, उन्हें उनके आधार पर ही समझा और स्पष्ट किया जाये। ऐसी बहुत सी मान्यताएं हैं, जिन्हें स्वयं मनु ने ही अन्य श्लोकों में यत्र-तत्र स्पष्ट

या पुष्ट किया है । ऐसे श्लोकों को अथवा उनकी संख्या को सम्बद्ध श्लोक पर अनुशीलन समीक्षा में तुलना या अन्यत्र व्याख्यात के रूप में दे दिया है । इसके अतिरिक्त श्लोकव्याख्या के बीच में भी वृत्तकोष्ठक के अन्तर्गत ऐसे श्लोकों की संख्या दी हुई है, जिनसे उस विषय पर प्रकाश पड़ता है ।

(४) मनु का मान्यता के अनुकूल और प्रसंगसम्मत अर्थ —

परम्परागत संस्कृत एवं हिन्दी के भाष्यों में कुछ श्लोकों के अर्थ ऐसे किये गये हैं, जो मनुस्मृति की मान्यता के अनुकूल सिद्ध नहीं होते और न प्रसंगसम्मत हैं, जैसे —१ /२, ३, ६, २२, १३७ (२ /१८) ; ३ /५६ आदि । कुछ श्लोकों के अर्थों में क्रमबद्धता नहीं बन पायी है, जैसे — १ /१४ –१५, १६, १८, १९ आदि । ऐसे सभी श्लोकों का अर्थ मनु की मान्यता के अनुकूल, प्रसंग एवं क्रमसंगत किया गया है, और उनकी समीक्षा में उस अर्थ की पुष्टि में कारण, युक्तियाँ एवं प्रमाण दिये गये हैं । साथ ही टिप्पणी में उन श्लोकों का प्रचलित अर्थ भी दे दिया गया है, ताकि पाठक उन पर विचार कर सकें । इस भाष्य में ऐसे परिवर्तित अर्थ वाले श्लोकों की संख्या ५४ है । साथ ही टिप्पणी में उन श्लोकों के प्रचलित अर्थ भी दे दिये हैं ताकि पाठक उन अर्थों पर तुलनापूर्वक विचार कर सकें ।

(५) भूमिका भाग में मनुस्मृति का नया मूल्यांकन —

ग्रन्थ के प्रारम्भ में मनुस्मृति से सम्बन्धित 'मनुस्मृति का पुनर्मूल्यांकन' नामक एक विस्तृत भूमिका दी गयी है । इसमें मनुस्मृति से सम्बन्धित सभी प्रश्नों, यथा — मनु एवं मनुस्मृति का काल, मनुस्मृति का आद्य और वर्तमान रूप, मनुस्मृति के प्रक्षेपों के अनुसन्धान के आधार और उनका परिभाषा-उदाहरण-पूर्वक विवेचन, मनुस्मृति में अध्यायविभाजन, मनु की मौलिक मान्यताएं और उनके कारण, आदि पर युक्ति-प्रमाण-पूर्वक विचार किया गया है । यह विवेचन उक्त विषयों पर एक नया मूल्यांकन है ।

(६) महर्षि-दयानन्द के अर्थ और भावार्थ —

महर्षि-दयानन्द ने अपने ग्रन्थों के लिए मनुस्मृति को प्राथमिक आधार माना है और लगभग ५१४ श्लोको या श्लोकखण्डों को प्रमाणरूप में उद्धृत किया है, अनेक श्लोकों के केवल भाव ग्रहण किये हैं । महर्षि मनु के श्लोकों पर महर्षि-दयानन्द का समग्र भाष्य प्रस्तुत करना इस प्रकाशन की दूसरी प्रमुख विशेषता है । अपने ग्रन्थों में महर्षि-दयानन्द ने मनुस्मृति के जिस-जिस श्लोक का भाष्य किया है, उस श्लोक पर केवल महर्षि का ही भाष्य दिया गया है और शेष श्लोकों पर मेरा भाष्य है । यदि महर्षि ने किसी श्लोक को अपने ग्रन्थों में एक से अधिक बार उद्धृत करके भाष्य किया है तो उन सभी अर्थों को इसमें उद्धृत कर दिया है । जहां मनु के श्लोकों के केवल भाव ही महर्षि के ग्रन्थों में उपलब्ध हुए, वहां तत्तत्श्लोक पर वे भाव भी सकंलित कर दिये हैं । इन सभी बातों से मनु के भावगाम्भीर्य पर अधिकाधिक प्रकाश पड़ेगा । महर्षि के भाष्य से मनु के श्लोकों की अनेक गुत्थियां सुलझ जाती हैं । एक ऋषिकृत ग्रन्थ पर एक ऋषि का ही भाष्य होने से 'सोने में सुगन्ध' वाली कहावत चरितार्थ हो जाती है और उसका महत्त्व कई गुणा बढ़ जाता है । इसी बात को ध्यान में रखकर महर्षि के भाष्य को उद्धृत किया है ।

इस भाष्य में कुल ४२२ श्लोकों या श्लोकखण्डों पर महर्षि के अर्थ और भावार्थ दिये गये हैं, जिनमें ३४२ श्लोकों पर महर्षि का अर्थ है और ८० श्लोकों पर केवल भावार्थ है । जिन श्लोकों पर महर्षि का केवल भावार्थ है, उन पर पदार्थभाष्य मेरा किया हुआ है ।

(७) प्रथम बार हिन्दी-पदार्थ टीका प्रस्तुत —

पहली बार सम्पूर्ण मनुस्मृति के संस्कृत पदों को रखकर उनके साथ हिन्दी का अर्थ प्रस्तुत किया गया है । इससे विद्यार्थियों को सुगमता होगी और थोड़ी संस्कृत जानने वाले स्वाध्यायी पाठक भी संस्कृत पदों के ज्ञान-मनन पूर्वक श्लोकों का अर्थ आसानी से ग्रहण कर सकेंगे । इस दृष्टि से यह प्रकाशन सर्वसाधारण के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होगा ।

(८) सभी अनुक्रमणिकाओं एवं सूचियों से युक्त —

किसी भी ग्रन्थ में अनुक्रमणिकाएं और विषयसूचियां अत्यन्त उपयोगी और सुविधाजनक होती हैं । छात्रों और पाठकों की सुविधा को दृष्टिगत रखते हुए इस प्रकाशन में श्लोकों की उभयपंक्ति-अनुक्रमणिका, विषयानुक्रमणिका, अनुशीलन समीक्षा में विचारित विषयों की सूची, संकेत सूची, आदि समस्त आवश्यक सामग्री का समावेश किया गया है ।

(९) मनुस्मृति के प्रकरणों का उल्लेख —

मनु की यह शैली है कि वे प्रत्येक मुख्य विषय या प्रकरण को प्रारम्भ करते समय उसका स्वयं संकेत करते हैं या समाप्ति पर विषय का संकेत करते हैं । मनु द्वारा प्रदर्शित संकेतों के अनुसार मनुस्मृति में २१ प्रकरण या मुख्यविषय बनते हैं । इस संस्करण में उनका यथास्थान उल्लेख कर उसकी सीमा का भी उल्लेख कर दिया है ।

आभार-प्रदर्शन

सर्वप्रथम आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट के संस्थापक एवं संचालक स्वर्गीय सेठ दीपचन्द जी आर्य का मैं सदैव अत्यन्त आभारी रहूँगा, जिनकी सतत प्रेरणा एवं प्रोत्साहन से मनुस्मृति का यह प्रक्षेप-अनुसन्धान तथा भाष्य का कार्य प्रारम्भ एवं सम्पन्न हुआ, जिन्होंने इस बृहत् ग्रन्थ के प्रथम संस्करण के प्रकाशन का भार अपने कन्धों पर वहन किया । सेठ जी ने प्रक्षेपानुसन्धान-सम्बन्धी सुझाव और मार्गदर्शन देकर इस कार्य को और अधिक परिष्कृत करने में भी सहयोग किया, इसके लिये भी मैं उनका आभारी रहूँगा ।

सेठ जी के सुपुत्र और आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट के वर्तमान संचालक श्री धर्मपाल जी आर्य ने इस द्वितीय संस्करण का प्रकाशन अत्यन्त रुचि, उत्साह, और परिश्रम एवं विवेक से किया है । उनके प्रयत्नों से यह संस्करण सभी तरह से उत्तम बन गया है । मैं इनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ । श्री पं. राजवीर जी शास्त्री, जिन्होंने इस कार्य में अपने मूल्यवान् सुझाव और अनुसन्धान में सक्रिय सहयोग तथा समय प्रदान किया तथा श्री पं. सुदर्शनदेव जी आचार्य, जिन्होंने इस कार्य को करने की प्रेरणा एवं समय-समय पर उचित सुझाव प्रदान किये हैं, दोनों ही विद्वानों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ । इनके साथ-साथ अपनी धर्मपत्नी श्रीमती कमला शास्त्री के प्रति भी इस बात के लिये आभार प्रकट करता हूँ कि उन्होंने मुझे सभी पारिवारिक व्यस्तताओं से दूर रखते हुए इस अनुसन्धान कार्य को सम्पन्न करने के लिये यथावश्यक समय प्रदान करने का सदैव ध्यान रखा और लेखन कार्य में भी यथाशक्ति सहयोग प्रदान किया । प्रूफसंशोधक श्री कर्मवीर जी शर्मा, श्री रामहौसला मिश्र जी ठेकेदार का भी मैं धन्यवादी हूँ, जिन्होंने पूर्ण श्रद्धा तथा पुरुषार्थ से इस कार्य को पूर्ण करने में सहयोग दिया है ।

पाठकों से निवेदन

मनुस्मृति के प्रक्षेपों के अनुसन्धान और अनुशीलन का यह कार्य कुछ निश्चित आधारों पर सम्पन्न करने का दायित्व मैंने स्वीकार किया। अपनी अल्पमति के आधार पर यथाशक्ति परिश्रम करके जैसा भी इसे कर पाया हूँ, वह आपके हाथों में है। नि:सन्देह, यह अत्यन्त कठिन, उलझनभरा और विवादस्पद कार्य है, जिसे अभी तक इस रूप में किसी के द्वारा सम्पन्न नहीं किया गया, जबकि अब से बहुत पहले यह कार्य हो जाना चाहिए था। ऐसे उलझभरे कार्य में कहीं-कहीं कमियों और त्रुटियों का रह जाना संभव है, अत: विद्वान पाठकों से विनम्र अनुरोध है कि वे इस पर मनन करके मेरी त्रुटियों को क्षमा करते हुए, मुझे उनसे अवश्य अवगत करायें और इसविषयक सुझाव प्रदान करें, जिससे अगले संस्करण में अधिक से अधिक परिष्कार किया जा सके।

दिनाँक ९-१२-१९८५ ईस्वी
स्थान —झज्जर (जिला-रोहतक)
[हरियाणा]

निवेदक —
सुरेन्द्रकुमार

संकेत-सूची

अ. /अष्टा.	अष्टाध्यायी
अथर्व.	अथर्ववेद
आप. ध.	आपस्तम्ब धर्मसूत्र
आप. श्रौ.	आपस्तलम्ब श्रौतसूत्र
आश्व. गृ. सू.	आश्वलायन गृह्यसूत्र
आ. /आश्व. श्रौ. सू.	आश्वलायन श्रौतसूत्र
उणा.	उणादिसूत्रपाठः
उपा.	उपासनाविषय
ऋ. /ऋक	ऋग्वेद
ऋ. दया	ऋषि दयानन्द
ऋ. दया. पत्र वि. / ऋ. पत्र वि. / ऋ. प. वि.	ऋषि दयानन्द के पत्र-विज्ञापन
ऋ. भू. /ऋ. भा. भू.	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका
ऐ. /ऐत. /ऐ. ब्रा.	ऐतरेय ब्राह्मण
कां.	काण्ड
काठ. /काठ. सं.	काठक संहिता
कौ. अ. /कौटि, अर्थ.	कौटिल्य अर्थशास्त्र
-- प्रक. /प्र. अ.	— प्रकरण, अध्याय
कौ.	कौषितकि ब्राह्मण
कौषि. गृ.	कौषितकि गृह्यसूत्र
गो. ब्रा. / गो. पू. /गो. उ.	गोपथ ब्राह्मण, पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक
गो. गृह्य.	गोभिलगृह्यसूत्र
गो. ध.	गौतम धर्मसूत्र
चा. /चाण. सू.	चाणक्यसूत्र
छान्दो.	छान्दोग्योपनिषद्
जै. उ.	जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण
जै. गृ.	जैमिनि गृह्यसूत्र

ता /ताण्ड्य. ब्रा.	ताण्ड्यब्राह्मण
तै. आ.	तैत्तिरीय आरण्यक
तै. /तै. ब्रा. /तैत्ति.	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै. सं. /तैत्ति सं.	तैत्तिरीय संहिता
द. ल. आ.	दयानन्द लघुग्रन्थसंग्रह आर्याभिविनय
द. ल. गो.	दयानन्द लघुग्रन्थसंग्रह गोकरुणानिधि
द. ल. ग्र. /द. ल. ग्र. सं	दयानन्द लघुग्रन्थसंग्रह
द. ल. पं.	दयानन्द लघुग्रन्थसंग्रह पञ्चमहायज्ञविधि
द. ल. पृ.	दयानन्द लघुग्रन्थ संग्रह पृष्ठ
द. ल. भ्र.	दयानन्द लघुग्रन्थ संग्रह भ्रमोच्छेदन
द. ल. भ्रा. नि.	दयानन्द लघुग्रन्थ संग्रह भ्रान्तिनिवारण
द. ल. वेदांक	दयानन्द लघुग्रन्थ वेदभाष्य के नमूने का अंक
द. ल. वे. ख.	दयानन्द लघग्रंथ वेदविरुद्धमतखण्डन
द. शा. /द. शा. सं.	दयानन्द शास्त्रार्थसंग्रह
द. ल. शि.	दयानन्द लघुग्रन्थ शिक्षापत्री ध्वान्तनिवारण
द्र	द्रष्टव्य
दिवा.	दिवादिगण (धातुपाठ)
नि. /निरु.	निरुक्त
पार. गृह्य	पारस्कर गृह्यसूत्र
पू. प्र.	पूना प्रवचन
पू. मी.	पूर्वमीमांसा
पृ.	पृष्ठ
पं. वि.	पञ्चमहायज्ञविधि
प्रपा.	प्रपाठक
बृह. स्मृति.	बृहस्पतिस्मृति
बौधा. ध.	बौधायन धर्मसूत्र
ब्रह्मा.	ब्रह्मावल्ली
भ्वा.	भ्वादिगण (धातुपाठ)
मनु.	मनुस्मृति
मनु. का पु.	मनुस्मृति का पुनर्मूल्यांकन
महा.	महाभारत
— आदि.	— आदिपर्व
— भीष्म	— भीष्मपर्व
— शान्ति.	— शान्तिपर्व
मं.	मण्डल
मैत्रा. सं.	मैत्रायणी संहिता
यजु.	यजुर्वेद

याज्ञ. स्मृ.	**याज्ञवल्क्य स्मृति**
योग.	**योगदर्शन**
वा. रामा.	**वाल्मीकि रामायण**
— बाल.	— बालकाण्ड
— अयो.	— अयोध्याकाण्ड
— किष्कि.	— किष्किन्धाकाण्ड
— आर.	— आरण्यककाण्ड
वासि. ध.	वासिष्ठ धर्मसूत्र
वेदा. सू.	वेदान्त सूत्र
वैशे. / वैशेषिक	वैशेषिक दर्शन
श. /शत .	शतपथ ब्राह्मण
स. प्र.	सत्यार्थप्रकाश (द्वितीयसंस्करण)
— प्र. समु.	प्रथम समुल्लास
सं.	सम्पादक
सं. वि.	संस्कारविधि (द्वितीयसंस्करण)
साम.	सामवेद
सांख्य	सांख्यदर्शन
सू.	सूक्त
सूत्र.	सूत्रस्थान

विशेष — इस ग्रन्थ में पृष्ठसंख्या देते हुए सत्यार्थ-प्रकाश व संस्कारविधि के द्वितीय संस्करण तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रथम संस्करण का उपयोग किया गया है । अत : जिन सज्जनों के पास ये संस्करण नहीं हैं उनकी सुविधा के लिये इन पुस्तकों की पृष्ठ-संख्या देकर सामने उनके प्रकरण वा समुल्लास दिये जाते हैं । पृष्ठसंख्या के अनुसार पाठक उन-उन प्रकरणों वा समुल्लासों को देख लें —

सत्यार्थप्रकाश

१ — ८	निवेदन व भूमिका
९ — २७	प्रथम समुल्लास
२८ — ३६	द्वितीय "
३७ — ७७	तृतीय
७८ — १२३	चतुर्थ "
१२४ — १३७	पञ्चम "
१३८ — १७७	षष्ठ "
१७८ — २०६	सप्तम "
२०७ — २३१	अष्टम "
२३२ — २५५	नवम समुल्लास
२५६ — २७०	दशम "
२७१ — ३९४	एकादश "
३९५ — ४६१	द्वादश "
४६२ — ५१८	त्रयोदश "
५१९ — ५९२	चतुर्दश "

संस्कारविधि

१३ — २६	सामान्य प्रकरण
२७ — ३८	गर्भाधान संस्कार
३९ — ४१	पुंसवन "

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

श्लोकों की संख्याविषयक तथा अन्य ज्ञातव्य बातें —

१. विशुद्ध मनुस्मृति में श्लोकक्रमसंख्या मौलिकश्लोकों के अनुसार ग्रहण की गयी है, जो लघुकोष्ठक में है। सभी अनुक्रमणिकाएं उसी के अनुसार देखें।

२. अनुशीलन तथा श्लोकार्थों के अन्तर्गत आने वाली श्लोकसंख्याएं प्रचलित क्रम के अनुसार ही हैं, मौलिक क्रम के अनुसार नहीं। अत: उनका मिलान करते समय प्रचलित प्रथम संख्या और बृहत् कोष्ठकान्तर्गत संख्याएं ही देखें।

३. जिन अध्यायों के विभाजन में परिवर्तन नहीं किया गया है (प्रथम, द्वितीय और दशम को छोड़कर), उनमें श्लोकों के साथ दो-दो संख्याएं है। उनमें पहले, सभी श्लोकों की क्रमानुसार संख्या है, और उसके बाद लघुकोष्ठक में मौलिक माने गये श्लोकों की क्रमसंख्या है।
— प्रथम अध्याय में जिन श्लोकों के बाद तीन-तीन संख्याएं हैं(१/१२० से १४४ तक), उनमें पहली क्रमानुसार श्लोक संख्या है, दूसरी बृहत्कोष्ठक में द्वितीय अध्याय के उन श्लोकों की प्रचलित संख्या है जो सम्मिलित किये गये हैं, और तीसरी, लघुकोष्ठक में मौलिक श्लोकों की क्रम संख्या है।
— द्वितीय अध्याय की तीन संख्याओं में पहली क्रमानुसार संख्या है, दूसरी बृहत्कोष्ठक में प्रचलित संख्या है, तीसरी लघुकोष्ठक में मौलिक श्लोकों की क्रम संख्या है।
— दशम अध्याय में दो-दो श्लोक संख्याएं हैं। पहली प्रचलित अध्याय व श्लोक की क्रमसंख्या है। दूसरी लघुकोष्ठक में मौलिक श्लोकों की क्रम संख्या है।

४. महर्षि दयानन्द के भाष्य वाले श्लोकों में श्लोकों के पद भाष्यकार की ओर से डाले गये हैं। जहां उनका भाष्य या भाव ज्यों का त्यों बिना श्लोकपद डाले उद्धृत किया है, वहां उसे उद्धरण चिन्ह " " के अन्तर्गत रखा गया है। महर्षि के भाव में जहां कहीं किसी श्लोकपद का अर्थ नहीं है, वहां चिन्ह देकर श्लोकार्थ के नीचे भाष्यकार की ओर से अर्थ दिया गया है। उन पदों को पाठक उन-उन चिन्हों के स्थान पर जोड़कर पढ़ें।

५. टिप्पणी में दर्शाये गये प्रचलित अर्थ कुल्लूक भाष्य पर आधारित पं. हरगोविन्द शास्त्री की हिन्दी टीका से उद्धृत किये गये हैं।

विशुद्ध मनुस्मृति- विषयानुक्रमणिका

निर्देश — विशुद्ध मनुस्मृति में श्लोक- संख्या मौलिकश्लोकों की देखें, जो लघुकोष्ठक में है ।

प्रथम अध्याय **श्लोक संख्या**

(सृष्टि-उत्पत्ति एवं धर्मोत्पत्ति विषय)

द्वितीय अध्याय

(संस्कार एवं ब्रहमचर्याश्रम-विषय)

तृतीय अध्याय
(समावर्तन, विवाह एवं पञ्चयज्ञ-विधान)

चतुर्थ अध्याय

(गृहस्थान्तर्गत आजीविका एवं व्रत विषय)

पञ्चम अध्याय

(गृहस्थान्तर्गत-भक्ष्याभक्ष्य-देहशुद्धि-द्रव्य-शुद्धि-स्त्रीधर्म विषय)

षष्ठ-अध्याय

(वानप्रस्थ-संन्यासधर्म विषय)

सप्तम-अध्याय

(राजधर्म विषय)

अष्टम अध्याय
(राजधर्मान्तर्गत व्यवहार-निर्णय)
८ – १ से ९ – ९९ तक

नवम अध्याय

(राजधर्मान्तर्गत व्यवहारनिर्णय)
(९ – १ से ९ – ९९ तक)

(१६) स्त्री-पुरुष धर्म सम्बन्धी विवाद और उसका निर्णय (९ – १ से ३९)

(१७) दायभाग विवाद-वर्णन (९ – ४० से ८४)

दशम अध्याय

(चातुर्वर्ण्य धर्मान्तर्गत वैश्य शूद्र के धर्म एवं चातुर्वर्ण्य धर्म का उपसंहार)

एकादश-अध्याय

प्रायश्चित्त विषय

(११ – १ से ३१ तक)

द्वादश अध्याय

कर्मफल-विधान एवं नि:श्रेयस कर्मों का वर्णन (१२ – १ से १६६ तक)

अनुशीलन समीक्षा में विचारित विषयों की सूची

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

अष्टम अध्याय

नवम अध्याय

मनुस्मृति
का
पुनर्मूल्यांकन
(भूमिका भाग)

भूमिका का विषयानुक्रम

प्रथम अध्याय — मनुस्मृति-महत्ता, रचयिता, काल, एवं आद्यरूप

द्वितीय अध्याय — मनुस्मृति और प्रक्षेप

तृतीय अध्याय — मनु की प्रमुख मौलिक मान्यताएं और उनके आधार

चतुर्थ अध्याय —

पंचम अध्याय — महर्षि दयानन्द और मनुस्मृति

मनुस्मृति
का
पुनर्मूल्यांकन
(भूमिका भाग)

भूमिका का विषयानुक्रम

प्रथम अध्याय

[मनुस्मृति – महत्ता, रचयिता, काल एवं आद्यरूप]

१. मनुस्मृति की महत्ता एवं प्रभाव

भारतीय साहित्य में मनुप्रोक्त स्मृति का 'मनुस्मृति' 'मनुसंहिता' 'मानवधर्मशास्त्र' 'मानवशास्त्र' आदि कई नामों से उल्लेख आता है। मनुस्मृति भारतीय साहित्य में सर्वाधिक चर्चित धर्मशास्त्र है क्योंकि अपने रचना काल से ही यह सर्वाधिक प्रामाणिक, मान्य एवं लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है। स्मृतियों में इसका स्थान सबसे ऊंचा है। यही कारण है कि परवर्ती काल में अनेक स्मृतियां प्रकाश में आयीं किन्तु मनुस्मृति के प्रभाव के समक्ष टिक न सकीं, अपना प्रभाव न जमा सकीं; जबकि मनुस्मृति का वर्चस्व आज तक बना हुआ है।

मनुस्मृति एक विधि-विधानात्मक शास्त्र है। इसमें जहां एक ओर वर्णाश्रम धर्मों के रूप में व्यक्ति एवं समाज के लिए हितकारी धर्मों, नैतिक कर्त्तव्यों, मर्यादाओं, आचरणों का वर्णन है, वहां श्रेष्ठ समाज-व्यवस्था के लिए विधानों = कानूनों का निर्धारण भी है, और साथ ही मानव को मुक्ति प्राप्त कराने वाले आध्यात्मिक उपदेशों का निरूपण है। यों कहिये कि यह भौतिक एवं आध्यात्मिक शिक्षाओं का मिला-जुला अनूठा धर्मशास्त्र है। इस प्रकार यह व्यक्ति एवं समाज के लिए धर्मशास्त्र एवं आचारशास्त्र है, तो साथ ही सामाजिक व्यवस्थाओं को सुचारु रूप में रखने के लिए 'संविधान' भी है।

मनुस्मृति को इतना अधिक महत्त्वशाली, सम्मान्य तथा लोकप्रिय बनाने वाले कारणों में जहां इसके व्यक्ति और समाज के लिए हितकारी, व्यावहारिक एवं युक्तियुक्त विधि-विधान हैं, वहां इसकी प्राचीनता एवं वेदानुकूलता भी उल्लेखनीय कारण हैं। सर्वप्राचीन, सर्वाधिक मान्य और श्रद्धेय होने से वेद ही समस्त भारतीय साहित्य के मूलस्रोत हैं तभी तो मनु ने भी वेदों को ही प्रधानरूप से अपनी स्मृति का आधार बनाया है। उनकी दृढ़ मान्यता है कि —

'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'' [मनु २।६]

अर्थात् —वेद ही धर्म के मूलाधार हैं।

मन्त्रार्थों के साक्षात्द्रष्टा ऋषि-मुनियों ने वेदों के मौलिक सिद्धान्तों को समझकर ही वेदांग, ब्राह्मण, दर्शन, धर्मशास्त्र आदि ग्रन्थों की रचना की, जिससे मानव, ज्ञान को प्राप्त करके अज्ञान को छोड़कर अपने चरमलक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर सकें। मनु ने भी मनुस्मृति में वर्णों एवं आश्रमधर्मों के रूप में व्यक्ति एवं समाज के लिए हितकारी धर्मों-कर्त्तव्यों, विधानों का वर्णन वेद के आधार पर ही किया है' और धर्म जिज्ञासा में वेद को ही परम प्रमाण माना है —

''धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः'' [मनु. २।१३]

अर्थात् – धर्म की जिज्ञासा रखने वालों के लिए वेद ही परम प्रमाण है। उसी से धर्म-अधर्म का निश्चय करें।

मनु की वेदों के प्रति गहन श्रद्धा है। वे वेदों को अपौरुषेय मानते हैं।[२] क्योंकि वेदज्ञान

---

१ [illegible]

२ ''विधानस्य स्वयम्भुवः। अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य...''

अपौरुषेय होने से निर्भ्रान्त ज्ञान है, धर्म का मूल स्रोत है एवं परमप्रमाण है; अत: वह कुतर्कों द्वारा खण्डनीय नहीं है। जो कुतर्क आदि का आश्रय लेकर वेदज्ञान का खण्डन, अवमानना या निन्दा करता है, उसे वे 'नास्तिक' जैसे तिरस्कारपूर्ण शब्द से सम्बोधित करते हैं –

> **ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ।।**
> **योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विज: ।**
> **स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दक: ।।** [मनु. २।१०-११]

अर्थात – श्रुति और स्मृतिग्रन्थों की किसी भी अवस्था में आलोचना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उन्हीं से धर्म की उत्पत्ति हुई है। वही धर्म के मूल स्रोत हैं। जो व्यक्ति तर्कशास्त्र का आश्रय लेकर कुतर्क आदि से उनकी अवमानना-निन्दा करता है,तो साधु-श्रेष्ठ लोगों को चाहिए कि उसे समाज से बहिष्कृत कर दें; क्योंकि वेद की निन्दा करने वाला वह व्यक्ति नास्तिक है।

मनुस्मृति को गौरव प्रदान कराने वाले कारणों में यह कारण भी विशेष स्थान रखता है कि मनु अपने समय के एक प्रख्यात, तत्त्वद्रष्टा, धर्मवेत्ता ऋषि थे और अपने समय में धर्मनिष्ठ, न्यायकारी प्रजाप्रिय शासक रहे थे। इसका प्रमाण मनुस्मृति की भूमिका में उल्लिखित वचनों से मिलता है। जिज्ञासु ऋषियों ने धर्मज्ञान के लिए महर्षि मनु को चुना, क्योंकि अपने समय के वही एकमात्र अधिकारी एवं विशेषज्ञ विद्वान् थे, जो धर्मों को यथार्थरूप में बतला सकते थे। धर्मों के मूलस्रोत अपौरुषेय अचिन्त्य अपरिमित ज्ञान वाले वेदों के ज्ञाता और उनमें निर्दिष्ट धर्मों के ज्ञाता केवल मनु ही हैं, ऐसा ऋषियों ने अनुभव किया[3]। निश्चय ही मनु 'अमितौजा' = अत्यधिक ज्ञानशक्ति से सम्पन्न व्यक्ति थे।[4] इस बात से भी उनकी अगाध विद्वत्ता का संकेत मिलता है कि उन्होंने धर्मप्रवचन का अधिकार केवल उन्हीं विद्वानों को दिया है "जिन्होंने पूर्ण ब्रह्मचर्यपालन करते हुए धर्मपूर्वक सांगोपांग वेद पढ़े हैं और जिन्होंने वेदार्थों का प्रत्यक्ष किया है, वे ही धार्मिक और परोपकारी विद्वान् धर्मनिर्णय करने के अधिकारी हैं"[5]। उन्हीं के वचन और आचरण धर्म में प्रमाण माने जा सकते हैं।[6] जो व्यक्ति धर्मनिर्णय में केवल उपर्युक्त विद्वानों को ही प्रमाण मान रहा है, वह स्वयं विशिष्ट विद्वान् अवश्य रहा होगा, फिर ऐसे अधिकारी विद्वान् द्वारा प्रोक्त धर्मशास्त्र की प्रामाणिकता और महत्ता को कौन नहीं स्वीकार करेगा?

यही कारण है कि समस्त भारतीय साहित्य में मनु के वचनों को आदर की दृष्टि से देखा गया है और प्रामाणिक माना है। यहाँ कुछ भारतीय एवं भारतीयेतर उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं, जिनसे मनुस्मृति की महत्ता, प्रामाणिकता, प्रभावशालिता एवं लोकप्रियता का निश्चय आसानी से किया जा सकता है।

---

३. "भगवन् . . . धर्मान् न: वक्तुमर्हसि ।। त्वमेकोह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुव: । अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो ।। मनु. १।२-३ ।।
४. "स तै: पृष्टस्तथा सम्यक्-अमितौजा" ।। मनु. १।४ ।।
५. "यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयु: स धर्म: स्यादशंकित: ।। धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेद: सपरिबृंहण: । ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेया: श्रुतिप्रत्यक्षहेतव: ।। मनु. १२।१०८-१०९ ।।
६. १२।११३, १०८, ११०-११२ ।।

(क) भारत में मनुस्मृति का प्रभाव एवं महत्त्व

मनुस्मृति का आद्यरूप क्या था, इस विषय में आगे इसी अध्याय में विचार किया जायेगा। यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि मनु के धर्मशास्त्र का अस्तित्व वैदिक काल से ही रहा है। इसकी पुष्टि कई संहिताग्रन्थों, ब्राह्मणग्रन्थों में लगभग एक जैसे रूप में पाये जाने वाले निम्न वाक्य से हो जाती है —

"मनुर्वै यत्किञ्चावदत् तद् भैषजम्"[७]

अर्थात् – मनु ने जो कुछ कहा है, वह मानवों के लिए भेषज = औषध के समान कल्याणकारी एवं गुणकारी है।

ब्राह्मणग्रन्थों का यह वचन यह सिद्ध करता है कि उस समय मनु के धर्मशास्त्र को प्रामाणिक माना जाता था। धर्मनिश्चय में उसका सर्वाधिक महत्त्व था। एक ही रूप में कई ग्रन्थों में पाया जाने वाला यह वाक्य इस बात की ओर भी इंगित करता है कि मनु का धर्मशास्त्र उस समय इतना लोकप्रिय हो चुका था कि वह औषध के तुल्य हितकारी, गुणकारी के रूप में स्वीकृत था। तभी तो उसके विषय में यह उक्ति भी प्रसिद्ध हो चुकी थी।

निरुक्तशास्त्र में महर्षि यास्क ने दायभाग में पुत्र और पुत्री के समान अधिकार के विषय में किसी प्राचीन ग्रन्थ का श्लोक उद्धृत करके मनु के मत का उल्लेख किया है[८]। मनु का यह समानाधिकार सम्बन्धी मत प्रचलित मनुस्मृति के ९।१३०, १९२, २१२ श्लोकों में वर्णित है[९]। इससे भी मनु के वचनों की विशेष प्रामाणिकता और महत्ता का अनुमान लगाया जा सकता है।

वाल्मीकि रामायण में, वालि और सुग्रीव के परस्पर युद्ध के अवसर पर राम द्वारा बालि का वध किये जाने पर घायल वालि राम के इस कृत्य को अनुचित एवं अधर्मानुकूल ठहराता है। तब राम अपने इस कृत्य का औचित्य सिद्ध करने के लिए मनुस्मृति के वचनों का सहारा लेते हैं और दो श्लोक उद्धृत करके अपने कार्य को धर्मानुकूल सिद्ध करते हैं।[१०] वे दोनों श्लोक प्रचलित मनुस्मृति में किंचित् पाठान्तर से ८।३१६, ३१८ में पाये जाते हैं। इन वचनों से भी ज्ञात होता है कि उस समय मनुस्मृति को धर्मनिश्चय में अत्यधिक प्रामाणिकता, प्रसिद्धि, मान्यता और महत्ता प्राप्त थी।

महाभारत में अनेक स्थलों पर मनु को विशिष्ट प्रामाणिक स्मृतिकार के रूप में वर्णित किया है[११]। महाभारत के निम्न श्लोक से ज्ञात होता है कि उस समय मनु के वचनों को कुतर्क आदि के द्वारा अकाट्य माना जाता था —

पुराणं मानवो धर्मः सांगोपांगचिकित्सकः।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि, न हन्तव्यानि हेतुभिः॥ (महा.)

---

७. तैत्ति सं. २।२।१०।२; ३।१।९।४॥ तां. ब्रा. २३।१६।७॥

८. निरु. ३।४॥ अर्थ सहित श्लोक द्रष्टव्य है, — मनु. का. पु. प्रथम अध्याय 'मनु कालनिर्णय' शीर्षकान्तर्गत

९. **यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।**
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत्॥९।१३०॥
— जैसी अपनी आत्मा है, वैसा ही पुत्र होता है, और पुत्र के समान ही पुत्री होती है; उस आत्मारूप पुत्री के रहते हुए कोई दूसरा धन को कैसे ले सकता है, अर्थात् पुत्र के साथ पुत्री भी धन की अधिकारिणी होती है॥ द्रष्टव्य मनु. ९।१९२, और २१२ भी॥

१०. किष्कि. १८।३०, ३२॥ अर्थसहित श्लोक द्रष्टव्य है — मनु. का. पु. प्रथम अध्याय, 'मनुस्मृति कालनिर्णय' शीर्षकान्तर्गत।

११. महा. आदि. ७३।८९॥ शान्ति. ३६।३॥ शान्ति. ५६।२३; ११८।२५; १२१।१०, १२; २०१।३२-३३ ३३५।४४, ४६ आदि॥

अर्थात् — पुराण[१२] अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थ, मनु द्वारा प्रतिपादित धर्म, सांगोपांग चिकित्सक धार्मिक विद्वानों की आज्ञा से सिद्ध कार्य, इन चारों का हेतुशास्त्र का आश्रय लेकर कुतर्क आदि द्वारा खण्डन नहीं करना चाहिए ।

आचार्य बृहस्पति ने तो अपनी स्मृति में स्पष्ट शब्दों मे मनुस्मृति को सर्वोच्च स्मृति घोषित किया है। उसकी प्रामाणिकता,महत्ता की उद्घोषणा और उसकी प्रशंसा करते हुए वे कहते है:-

वेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्राधान्यं हि मनो: स्मृतम् ।
मन्वर्थविपरीता तु या स्मृति: सा न शस्यते ।।
तावच्छास्त्राणि शोभन्ते तर्कव्याकरणानि च ।
धर्मार्थमोक्षोपदेष्टा मनुर्यावन्न दृश्यते ।।(बृह.स्मृति संस्कारखण्ड १३–१४)

अर्थात् —वेदार्थों के अनुसार रचित होने के कारण सब स्मृतियों में मनुस्मृति ही सबसे प्रधान एवं प्रशंसनीय है । जो स्मृति मनु के अर्थ के विपरीत है, वह प्रशंसा के योग्य अथवा ग्राह्य नहीं है । तर्कशास्त्र, व्याकरण आदि शास्त्रों की शोभा तभी तक है, जब तक धर्म, अर्थ, मोक्ष का उपदेश देने वाला मनु नहीं होता अर्थात् मनु के उपदेशों के समक्ष सभी शास्त्र निस्तेज, प्रभावहीन प्रतीत होते हैं ।

इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक प्रसिद्ध लेखक-व्याख्याकार हुए हैं,जिन्होंने अपने मत के समर्थन में या अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए मनु के वचनों को उद्धृत किया है और इस प्रकार अपने ग्रन्थ का गौरव बढ़ाया है ।

बौद्ध महाकवि अश्वघोष ने, जो राजा कनिष्क का समकालीन था, जिसका कि समय प्रथम शताब्दी माना जाता है, अपनी 'वज्रकोपनिषद्' कृति में अपने पक्ष के समर्थन में मनु के श्लोकों को उद्धृत किया है । विश्वरूप ने अपने यजुर्वेदभाष्य और याज्ञवल्क्य स्मृति भाष्य में मनु के अनेक श्लोकों को उद्धृत किया है । शंकराचार्य ने वेदान्तसूत्रभाष्य में मनुस्मृति के पर्याप्त उद्धरण दिये हैं ।[१३] ५०० ई. में जैमिनि सूत्रों के भाष्यकार शबरस्वामी ने अपने भाष्य में मनु के अनेक वचनों का उल्लेख किया है । याज्ञवल्क्य स्मृति के एक अन्य भाष्यकार विज्ञानेश्वर ने याज्ञ०स्मृति के श्लोकों की पुष्टि के लिए मनु के श्लोकों को पर्याप्त संख्या में उद्धृत किया है[१४] । गौतम, वशिष्ठ, आपस्तम्ब, आश्वलायन, जैमिनि, बौधायन आदि सूत्रग्रन्थों में भी मनु का आदर के साथ उल्लेख है ।[१५] आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में बहुत-से स्थलों पर मनुस्मृति को आधार बनाया है, और कई स्थलों पर मनु के मतों का उल्लेख किया है ।[१६] इनके अतिरिक्त भी बहुत सारे ऐसे ग्रन्थ हैं, जिन्होंने अपनी प्रमाणिकता और गौरव बढ़ाने के लिए अथवा मनु के मत को मान्य मानकर उद्धृत किया है ।[१७]

अठारहवीं शताब्दी में मनुस्मृति को सर्वाधिक महत्त्व आर्यसमाज के प्रवर्त्तक महर्षि दयानन्द ने

---

१२. निरुक्त ४।१९ में पुराण शब्द का निर्वचन करते हुए कहा है —''पुरा नवं भवतीति' अर्थात् जो पहले नया था, अब नहीं । इस प्रकार पुराण शब्द ब्राह्मण आदि ऐतिहासिक ग्रन्थों का वाचक है । इसी के आधार पर बाद में ऐतिहासिक ग्रन्थों का 'पुराण' नाम रखा गया । यहां पुराण शब्द से १८ पुराणों का ग्रहण नहीं करना चाहिये ।

१३. विश्वरूप याज्ञ स्मृ.भाष्य १।४५ ।। वेदा. सू. भाष्य १।३।२८, ३६ ; २।१।१, ११ ; ३।१।१४ ; ३।४।३८ ; ४।२।६ ।।

१४. याज्ञ. स्मृ. १।७, ५३, ६२, ६८, ७२, ७९, ८० ; २।१, २, ५, २१, २६ आदि ।।

१५. गौ. ध. २१।७ ।। वासि. ध. १।१७ ।। आप. ध. [illegible] ।। आप. श्रौ. ३।१०।३५ ।। ३।१।७ ।। आश्व. श्रौ. ९।७।२ ; १०।७।१ ।। जै. गृ. १।२४ ।। बौ. ध. ४।१।१४, [illegible]

१६. कौ. अर्थ. प्र. १।अ. १ ।। प्र. १०।अ. १४ ।।

१७. जैसे कि स्मतिचन्द्रिका, निर्णयसिन्धु, संस्कारमयूख, श्रीमद्भागवत, ~~[illegible]~~ आदि ।

दिया । उन्होंने केवल मनुस्मृति को ही आर्ष एवं प्रामाणिक धर्मशास्त्र घोषित किया और अपने मन्तव्यों का आधार बनाया । उन्होंने अपने ग्रन्थों में मनुस्मृति के लगभग ५१४ श्लोकों या श्लोकखण्डों को प्रमाणरूप में उद्धृत किया है ।

इनके अतिरिक्त ऐसे भी बहुत सारे ग्रन्थ मिलते हैं जिनमें किसी अन्य ग्रन्थ के ऐसे वचन उद्धृत हैं, जिनमें कि मनु के मत का उल्लेख है, या मनु के नाम से कोई मान्यता निर्दिष्ट है । यद्यपि इनमें बहुत से श्लोक ऐसे भी हैं,जो न तो वर्तमान मनुस्मृति में मिलते हैं और न अन्य किसी स्मृति में । यह भी संभव है कि अपने पक्ष की पुष्टि के लिए लोगों ने मनु के नाम से स्वयं ही श्लोक रच लिये हों । यहां इस विवाद में न पड़कर केवल इतना कहना ही प्रासंगिक होगा कि इन सब बातों से मनु के एकछत्र प्रभाव का संकेत अवश्य मिलता है ।

प्राचीन काल से मनुस्मृति के अनुकूल आचरण को भी प्रतिष्ठा-सूचक माना जाता रहा है । वलभी के राजा धारसेन का एक शिलालेख उपलब्ध हुआ है, जो ५७१ ई. का है । उसमें उस राजा को मनु के धर्मनियमों का पालनकर्त्ता कहकर उसकी विशेषता बतलायी गयी है ।

सभी स्मृति-ग्रन्थों एवं धर्मशास्त्रों में प्राचीनकाल से लेकर अब तक सर्वाधिक टीकाएं एवं भाष्य मनुस्मृति पर ही लिखे गये हैं और अब भी लिखे जा रहे हैं । यह भी मनुस्मृति की सर्वोच्चता एवं सर्वाधिक प्रभविष्णुता का द्योतक है ।[१८]

आजकल भी पठन-पाठन, अध्ययन-मनन में मनुस्मृति का ही सर्वाधिक प्रचलन है । हिन्दू कोड बिल एवं संविधान का प्रमुख आधार मनुस्मृति को माना जाता है । आजकल भी न्यायालयों में न्याय दिलाने में मनुस्मृति का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है । सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं के प्रसंग में मनुस्मृति का उल्लेख अनिवार्यरूप से होता है और इससे मार्गदर्शन भी प्राप्त किया जाता है ।

(ख) विदेशों में मनुस्मृति का प्रभाव

भारत ही नहीं अपितु विदेशों में भी मनुस्मृति का प्रभाव रहा है और इसे महत्त्व मिला है । चम्पाद्वीप के एक शिलालेख में मनु का निम्न श्लोक उद्धृत मिलता है —

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी ।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ।। [२ । १३६]

बालि, स्याम और जावा के विधान मनुस्मृति से पर्याप्त साम्य रखते हैं । वर्मा का 'धम्मथट्' मनुस्मृति से ही प्रेरित प्रतीत होता है । नेपाल का विधि-विधान, आचार, मनुस्मृति का ही अनुकरण करता है ।

फिलिपीन द्वीप के नये लोकसभा भवन के सामने उस देश की संस्कृति के निर्माण में आधारभूत योगदान देने वाले चार व्यक्तियों की मूर्तियां उत्कीर्ण की गयी हैं, जिनमें एक महर्षि मनु की है ।

इस प्रकार मनु और मनु के शास्त्र का महत्त्व एवं प्रभाव देश-विदेश में प्राचीन काल से लेकर आजतक अल्पाधिक रूप में सदैव रहा है । उक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट हो गया है कि स्मृतिग्रन्थों एवं धर्मशास्त्रों में मनुस्मृति ही सर्वाधिक प्रामाणिक, प्रभावशाली, लोकप्रिय एवं मान्यताप्राप्त ग्रन्थ है ।

[illegible] उपलब्ध हैं और [illegible] मनुस्मृति पर [illegible] लगभग तीस हिन्दी टीकाएं उपलब्ध हैं ।

मनुस्मृति अपनी अनेक विशेषताओं के कारण सर्वोच्च स्थान को प्राप्त कर पायी है । किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि आज ऐसे उत्तम और प्रसिद्ध धर्मशास्त्र का पठन-पाठन क्षीण होता जा रहा है । इसके प्रति लोगों के मन में अश्रद्धा की भावना घर करती जा रही है । इसका कारण है —'मनुस्मृति में प्रक्षेपों की भरमार होना' । प्रक्षेपों के कारण मनुस्मृति का उज्ज्वलरूप गन्दा एवं विकृत हो गया है । परस्परविरुद्ध, प्रसंगविरुद्ध एवं पक्षपातपूर्ण वर्णनों से मनुस्मृति की गरिमा विलुप्त हो गई है । एक महान् तत्त्वद्रष्टा ऋषि के अनुपम शास्त्र को प्रक्षेपकर्त्ताओं ने विविध प्रक्षेपों से दूषित करके न केवल इस शास्त्र के साथ, अपितु महर्षि मनु के साथ भी अन्याय किया है ।

२. मनुस्मृति का मूल प्रवक्ता कौन ?

अतिप्राचीन काल से अध्यावधि पर्यन्त भारतीय वाङ्मय, संस्कृति-सभ्यता, धर्म, आचार-व्यवहार, कानून, पठन-पाठन आदि प्रत्येक क्षेत्र पर अपना न्यूनाधिक प्रभाव बनाये रखने वाले मनुस्मृति या मानवधर्मशास्त्र जैसे विशिष्ट ग्रन्थ का मूल प्रवक्ता या रचयिता सम्बन्धी प्रश्न आज विवादों शंका-संदेहों के भंवर में फंसा हुआ है, यह आश्चर्य की बात है। यद्यपि इस विवाद के बीज पूर्वकालीन साहित्य में भी पाये जाते हैं, किन्तु आधुनिक अनुसन्धान ने इसे वृक्ष का रूप दे दिया तथा लेखकों ने अपनी-अपनी ऊहाओं, कल्पनाओं, अटकलों से इसे विवादास्पद बना दिया।

मनुस्मृति में हुए प्रक्षेप भी इसमें प्रमुख कारण हैं, अत: आज इस बात की अति-आवश्यकता है कि प्रक्षेपों का अनुसन्धान, निर्धारण करके उसके पश्चात् मनुस्मृति सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार किया जाये। तभी निर्भ्रान्त निष्कर्ष निकल सकते हैं।[१५] मनुस्मृति के मूल रचयिता या प्रवक्ता के सम्बन्ध में इस समय चार मत प्रचलित हैं —

१. मनुस्मृति के मूल रचयिता या प्रवक्ता स्वायम्भुव मनु हैं।
२. मनुस्मृति वैवस्वत मनु द्वारा प्रोक्त या रचित है।
३. मनुस्मृति भृगुप्रोक्त है।
४. मनुस्मृति ब्रह्माप्रोक्त है।

आगे इन सभी मतों के पक्ष-विपक्ष पर सप्रमाण और प्रक्षिप्त श्लोकों की विवेचनापूर्वक विचार किया जाता है।

१. मनुस्मृति के प्रवक्ता — स्वायम्भुव मनु

अधिकांश विचारक इस मत से सहमत हैं कि मनुस्मृति का मूल प्रवक्ता मनु है और वह भी स्वायम्भुव मनु ही है। मैं भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचा हूं। इस सम्बन्ध में प्राप्त सामग्री के आधार पर दो प्रकार से विचार किया जा सकता है — क. अन्त:साक्ष्य के आधार पर, और ख. बाह्यसाक्ष्य के आधार पर। प्रथम अन्त:साक्ष्य को ही लेते हैं —

क. अन्त:साक्ष्य के आधार पर

अन्त:साक्ष्यों पर विचार करते समय पहले मनुस्मृति की रचनाशैली को समझना आवश्यक है।

१. मनुस्मृति की शैली — मनुस्मृति के अध्ययन से ज्ञात होता है कि मनुस्मृति की रचनाशैली 'प्रवचनशैली' है, अर्थात् मनुस्मृति मूलत: प्रवचन है। बाद में मनु के शिष्यों ने उनका संकलन करके उसे एक शास्त्र या ग्रन्थ का रूप दिया है। मनुस्मृति के भूमिकारूप, प्रथम अध्याय के पहले चार श्लोकों के **''मनुम् ..... अभिगम्य महर्षय: ..... वचनमब्रुवन्''** [१।१], **''भगवन् सर्ववर्णानां ..... धर्मान्नो वक्तुमर्हसि''** [१।२], **''त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य ..... कार्यतत्त्वार्थवित् प्रभो''** [१।३] **''प्रत्युवाच ..... महर्षीन्**

---

१५. लेखक ने मनुस्मृति के प्रक्षेपों का अनुसन्धान करके अन्त:साक्ष्यसिद्ध सात मानदण्डों के आधार पर उनका निर्धारण किया है। [illegible] है — द्रष्टव्य [illegible] द्वितीय अध्याय एवं सम्पूर्ण मनुस्मृति में उन-उन श्लोकों पर समीक्षा।

श्रूयताम् इति'' [१।४] आदि वचनों से ज्ञात होता है कि प्रथम मूलरूप में मनुस्मृति महर्षियों की जिज्ञासा का दिया गया उत्तर है, जो प्रवचनरूप में है । ये सभी श्लोक और विशेषरूप से **''स : तै : पृष्ट :''** [१।४] पदप्रयोग यह सिद्ध करता है कि इसे बाद में अन्य व्यक्ति ने संकलित किया है । यह प्रवचनों के रूप में सुना-सुनाया गया है, इसी कारण इसके प्रत्येक प्रसंग के प्रारम्भ या अन्त अथवा दोनों स्थानों पर सुनने-सुनाने वाली क्रियाओं का प्रयोग है, यथा — **'वक्तुमर्हसि'** [१।२], **'श्रूयताम्'** [१।४], **'तत्तथा वोऽभिधास्यामि'** [१।४२], **'एषा समासेन प्रकीर्तिता ... वर्णधर्मान्निबोधत'** [१।१४४ (२।२५], **'एष प्रोक्त ... कर्मयोगं निबोधत'** [२।४३ (६८)], **'स्त्रीविवाहान्निबोधत'** [३।२०], **'एतद्वोऽभिहितं ... श्रूयतामिति'** [३।२८६], **'एषोदिता'** [४।२५९], **'प्रवक्ष्यामि'** [५।५७], **'व : प्रोक्त : ... शृणुत निर्णयम्'** [५।११०], **'उक्तो व : ... धर्मान्निबोधत'** [५।१४६], **'एष वोऽभिहित : ... राज्ञां धर्मं निबोधत'** [६।९७], **'राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि'** [७।१], **'तत्तद्वोऽहं प्रवक्ष्यामि'** [७।३६], **'एष उक्त :'** [८।४०९], **'दायभागं निबोधत'** [९।१०३], **'एषोऽखिल : उक्त :'** [९।३२५], **'एष : कीर्तित : ... परं प्रवक्ष्यामि'** [१०।१३१], **'तान्वोऽभ्युपायान् वक्ष्यामि'** [११।२१०], **'एष वोऽभिहित : ... इमं निबोधत'** [११।२२६], **'समासेन वक्ष्यामि'** [१२।३९], **'इदं निबोधत'** [१२।८२], **आदि ।**

और मौलिक संकलन वही कहाता है जो मूलप्रवक्ता की बातों का यथावत् रूप में संकलन किया गया हो ।

यह भी ध्यान देने की बात है कि सम्पूर्ण मनुस्मृति में प्रारम्भ से अन्त तक कहने-सुनाने की क्रियाओं में उत्तम पुरुष का प्रयोग है — **'अभिधास्यामि'** [१।४२], **'प्रवक्ष्यामि'** [५।५७], **'राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि'** [७।१], **'अहं प्रवक्ष्यामि'** [७।३६], **'परं प्रवक्ष्यामि'** [१०।१३१], **'वक्ष्यामि'** [११।२१०], **'समासेन वक्ष्यामि'** [१२।३९], **आदि ।**

इस शैली की पुष्टि निरुक्त में वर्णित इस तथ्य से भी होती है कि अत्यन्त प्राचीन काल में साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों द्वारा प्रवचनों, उपदेशों के माध्यम से ही शिक्षा दी जाती थी । और वह शिष्य-परम्परा के रूप में सुरक्षित रहती थी, लिपिबद्ध ग्रन्थों को पढ़ाकर नहीं । लिपिबद्ध ग्रन्थों के माध्यम से विद्याओं की शिक्षा की परम्परा पर्याप्त समय पश्चात् आयी, जब लोग उपदेशग्रहण करने में आलस्य उदासीनता और उत्साहहीनता प्रदर्शित करने लगे[20] । महर्षि दयानन्द की मान्यता के अनुसार सूर्यवंशी राजा इक्ष्वाकु के समय उपदेशों को लिपिबद्ध करने की परम्परा प्रचलित होने लगी थी ।[21] इस प्रकार हम कह सकते हैं —

मनुस्मृति की प्रवचन शैली, १।१-४ श्लोकों में वर्णित घटना — जिसमें कि महर्षि लोग केवल मनु के पास धर्मजिज्ञासा लेकर आते हैं और फिर मनु ही उनका उत्तर देते हैं, तथा सम्पूर्ण मनुस्मृति में प्रारम्भ से अन्त तक मनु द्वारा १।४ से प्रारम्भ की गई कहने-सुनाने की क्रियाओं

---

२०. **''साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवु :, तेऽवरेभ्यो साक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादु : । उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदांगानि च ।''** [निरु. १।१९]

२१. उपदेश मञ्जरी, नवम उपदेश, पृ. ६२ ।

का उत्तम पुरुष एकवचन में प्रयोग, ये बातें यह सिद्ध करती हैं कि मनुस्मृति का प्रवक्ता मनु ही है ।

यहां प्रसंगवश १।१-४ श्लोकों से सम्बन्धित शंका का समाधान करना भी आवश्यक है । कुछ लोगों का कथन है कि मनुस्मृति की भूमिका रूप ये श्लोक मौलिक श्लोकों के रूप में परिगणित नहीं किये जाने चाहियें क्योंकि ये मनुप्रोक्त नहीं हैं, और न ही इन्हें प्रामाणिक मानना चाहिये ।

इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि यद्यपि १-४ श्लोक मनुप्रोक्त श्लोकों की भांति मौलिक नहीं हैं,तथापि ये,शैली, घटना और प्रश्न के आधार पर मौलिक ही स्वीकार किये गये हैं, क्योंकि भूमिका के रूप में इनका उल्लेख है । (१) मनुस्मृति की शैली से यह विदित होता है कि मनु के भावों (जो प्रवचन के रूप में थे) का संकलन भृगु या किसी अन्य शिष्य ने किया है । संकलयिता ने इन श्लोकों के द्वारा मनु के पास महर्षियों के आने की घटना और उनके प्रश्न का भूमिका के रूप में उल्लेख किया है । (२) घटना मौलिक है । (३) प्रश्न भी मौलिक है, अत : संकलन-शैली के अनुसार ये श्लोक मौलिक ही माने जायेंगे । जैसा कि कुछ टीकाकारों ने पांचवें श्लोक से मौलिक मनुस्मृति का प्रारम्भ माना है, उनका यह विचार भ्रान्तिपूर्ण है । मनुस्मृति संकलित शैली का ग्रन्थ है, इस दृष्टि से ये चारों श्लोक मौलिक संकलितरूप में ही हैं ।

यहां यह भी स्पष्ट कर देना उपयोगी होगा कि इस शैली के आधार पर टीकाकारों ने उन सभी श्लोकों को मौलिक मान लिया है,जिनमें मनु के नामपूर्वक वर्णन हैं । ('**महर्षिर्मनुना भृगु :**', १।६० ।। 'उक्तवान् मनु :' १।११८ ।। '**मनुना परिकीर्तित :**' १।१२६ ।। '**मनुरब्रवीत्**'। ८।३३९ ।। आदि) । उनका कहना है कि मनु के भावों के आधार पर भृगु ने मनुस्मृति को रचा है, अत : इस प्रकार के श्लोक असंगत नहीं लगते । यह विचार भी भ्रान्तिपूर्ण है । क्योंकि, (१) मनुस्मृति, मनु के भावों को लेकर रचा ग्रन्थ नहीं है, अपितु मनु के भावों का यथावत् उसी शैली में संकलन है । (२) संकलन में मौलिक अंशों के बीच में संकलयिता की ओर से कोई बात नहीं कही जाती;अत : '**मनूक्तवान्**' आदि पद वाले श्लोक संकलयिता की ओर से कहे होने के कारण प्रक्षिप्त हैं, मौलिक नहीं । (३) १।४ में '**श्रूयताम्**' कहकर मनु उत्तर देना आरम्भ करते हैं । इस शैली से सिद्ध है कि इस श्लोक के बाद मनु के द्वारा कहे विचारों का उत्तमपुरुष की शैली के माध्यम से जो कथन है,वही मौलिक संकलन है; अन्य द्वारा नामोल्लेख पूर्वक प्रदर्शित वर्णन प्रक्षिप्त है । अत : उन सभी श्लोकों को मूल संकलन से परवर्ती माना जाना चाहिए, जो उत्तमपुरुष की शैली में नहीं है ।

२. प्राचीन काल से अद्यावधि पर्यन्त इस ग्रन्थ का 'मनुस्मृति' या 'मानवधर्मशास्त्र' नाम प्रचलित होना भी इसे मनुप्रोक्त सिद्ध करता है ।

यह मनु स्वायम्भुव मनु ही है । इस बात को मनुस्मृति में स्पष्ट भी किया है और विभिन्न स्थलों पर मनु के साथ '**स्वायम्भुव**' विशेषण का प्रयोग भी किया है ।

३. प्रचलित मनुस्मृति में बीच-बीच में लगभग तीस स्थलों पर मनु का नामोल्लेखपूर्वक वर्णन है । उनमें छह स्थलों पर स्पष्टत :'**स्वायम्भुव**' विशेषण का प्रयोग किया है ।[२२] ये उल्लेख भी इसका

---

२२. (क) स्वायम्भुव मनु के नामोल्लेख वाले स्थल — १।३२-३६, ५८-६१, १०२ ; ६।५४ ; ८।१२४ ; ९।१५८ ।।
(ख) केवल मनु नामोल्लेख वाले स्थल — १।१-४, ११८, ११९, १२६ ; ३।३६, १५० ; ४।१०३ ; ५।४१ ; ८।१३९, १६८, २०४, २४२, २७९, २९२, ३३९ ; ९।१७, १८२, १८३, २३९ ; १०।६३, ७८ ; १२।१०७, १२६ ।।
१।१-४ को छोड़कर अन्य सभी श्लोक इस अनुसन्धान कार्य के आधार पर प्रक्षिप्त सिद्ध हुए हैं, तथापि उन्हें एक पारम्परिक जनश्रुति के समान पोषक आधार माना है ।

प्रवक्ता स्वायंभुव मनु को ही सिद्ध करते हैं।

४. निम्न श्लोकों में मनुस्मृति का रचयिता स्वायंभुव मनु को बतलाया गया है —

(क) इदं शास्त्रं तु कृत्वाऽसौ मामेव स्वयमादितः ।
विधिवद् ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन् ।।
स्वायम्भुवस्यास्य मनोः षड्वंश्या मनवोऽपरे।।१।५८, ६१।।

(ख) स्वायम्भुवो मनुर्धीमानिदं शास्त्रमकल्पयत् ।।१।१०२।।

यतोहि भृगु स्वायम्भुव मनु का पुत्र और शिष्य था। [१।३४-३५; ३।१९४; १२।२;]. अतः भृगुवचनों में उल्लिखित मनु भी स्वायम्भुव मनु ही है, जिसको शास्त्र का कर्त्ता कहा है —

(ग) यथेदमुक्तवान् शास्त्रं पुरा पृष्टो मनुर्मया ॥ १ । ११९ ।।

(घ) एवं स भगवान्देवो लोकानां हितकाम्यया ।
धर्मस्य परमं गुह्यं ममेदं सर्वमुक्तवान् ॥ १२ । ११७ ।।

(ङ) ''मानवस्यास्य शास्त्रस्य'' १२ । १०७ ।।

(च) ''एतन्मानवं शास्त्रम् भृगुप्रोक्तम्'' १२ । १२६ ।।

यद्यपि इस अनुसन्धानकार्य के आधार पर ये सभी श्लोक प्रक्षिप्त सिद्ध हुए हैं, अतः मौलिकवत् प्रामाणिक नहीं है; किन्तु फिर भी इन्हें ऐतिहासिक सन्दर्भ में पारम्परिक जनश्रुति के समान पोषक आधार के रूप में ग्रहण किया है।

५. ऐतिहासिक, ब्रह्मावर्त प्रदेश में स्थित बर्हिष्मती नगरी को स्वायम्भुव मनु की राजधानी मानते हैं। मनुस्मृति में ब्रह्मावर्त प्रदेश को धर्मशिक्षा, सदाचार का केन्द्र घोषित करके सर्वोच्च महत्त्व दिया गया है [१।१३६-१३९ (२।१७-२०]। इसी क्षेत्र में मनुस्मृति का प्रवचन-प्रणयन हुआ था। इससे भी मनुस्मृति का रचयिता स्वायम्भुव मनु होने का संकेत मिलता है।

(ख) बाह्यसाक्ष्य के आधार पर —

मनुस्मृति के अन्तर्गत प्राप्त पूर्वोक्त प्रमाणों, संकेतों के अतिरिक्त भी इस बात के बहुत से आधार मिलते हैं कि मनुस्मृति का प्रवक्ता स्वायंभुव मनु है। यथा —

१. तैत्तिरीय आदि संहिताओं,[२३] ब्राह्मणग्रन्थों से लेकर अर्वाक्कालीन भारतीय वाङ्मय में स्वायंभुव मनु ही एक धर्मशास्त्रकार या स्मृतिकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। अतः कहा जा सकता है कि मनु के नाम से प्राप्त होने वाले धर्मशास्त्र का रचयिता भी यही मनु है।

२. निरुक्त[२४] में, दायभाग के प्रसंग में किसी प्राचीन ग्रन्थ का श्लोक उद्धृत करके स्वायंभुव मनु के मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि 'दायभाग में पुत्र और पुत्री, दोनों का अधिकार होता है'। मनु के नाम से प्राप्त यह मत वर्तमान मनुस्मृति में ९।१३०, १९२ श्लोकों में निर्दिष्ट है। यह प्राचीन उल्लेख भी मनुस्मृति को स्वायंभुव मनुकृत सिद्ध करता है।

३. महाभारत में, कई स्थलों पर स्वायंभुव मनु को एक धर्मशास्त्रकार के रूप में उद्धृत किया है और कुछ स्थलों पर उसके नामोल्लेख के साथ उसके मत और श्लोकों को भी उद्धृत किया है। वे

---

२३. (क) तैत्ति. सं. २।२।१०।२; ३।१।९।४ ।। तां. ब्रा. २३।१६।७ ।।
(ख) मनु ने ब्राह्मणवाक्यों का भी प्रवचन किया था, इसके भी प्रमाण संहिताओं में मिलते हैं — ''आपो वा इदं मिरमृजन्। स मनुरेवोदशिष्यत। स एतामिष्टिमपश्यत्तामाहरत्त यायजत . . . । काठ. सं. ११।२ ।। द्र. तैत्ति. सं. [illegible] ।

२४. निरु. ३।४ ।। अर्थसहित श्लोक द्रष्टव्य 'मनुकाल' शीर्षक में।

सभी मत और श्लोक प्रचलित मनुस्मृति में पाये जाते हैं। यथा —

(क) दुष्यन्त-शकुन्तला प्रेम-प्रसंग में आठ-विवाहों का विधानकर्त्ता स्वायंभुव मनु को बताया है।[२५]

(ख) शान्ति, ३६ अध्याय में, मनु. १।१-४ श्लोकों की घटना का यथावत् वर्णन करते हुए बताया है कि ऋषिलोग धर्मजिज्ञासा के लिए स्वायंभुव मनु के पास पहुंचे। वहां मनुद्वारा दिये गये उत्तर में कुछ श्लोक ऐसे प्राप्त होते हैं जो वर्तमान मनुस्मृति में भी हैं, उनमें कोई-कोई तो यथावत् है, कोई किंचित् पाठान्तर से है, तो कोई यथावत् भाव वाला है।[२६]

(ग) शान्ति ६७।१५-३० में, आदिकाल में लूटपाट, अराजकता आदि से तंग हुई प्रजा द्वारा मनु को राजा के रूप में वरण करने की घटना दी हुई है। यह मनु ब्रह्मा का पुत्र है, अत: यह भी स्वायंभुव मनु की घटना है।[२७] मनु को राजा बनाने के बाद प्रजा द्वारा जो करनिर्धारण किया गया है, यथा — 'पशु और सुवर्ण का पचासवां भाग कर देंगे', यह करव्यवस्था वर्तमान मनुस्मृति ७।१३० में मिलती है।[२८]

(घ) शान्ति. ३३५।४४, ४६ में एक धर्मशास्त्रकार के रूप में स्वायम्भुव मनु का ही वर्णन है।[२९]

४. इसके अतिरिक्त महाभारत में अनेक स्थलों पर केवल मनु नाम देकर उसके श्लोक या भाव उद्धृत किये हैं। उनमें से बहुत-से श्लोक वर्तमान मनुस्मृति में यथावत् मिलते हैं और भाव तथा उनका गठन भी यथावत् है।[३०]

५. इसी प्रकार वाल्मीकि रामायण में राम बालि-सुग्रीव युद्ध के अवसर पर अपने द्वारा किये बालि के वध को धर्मानुकूल ठहराते हुए मनु का नाम लेकर उसके दो श्लोक उद्धृत करते हैं। वे श्लोक भी वर्तमान मनुस्मृति में हैं।[३१] इन उद्धरणों से यह सिद्ध होता है कि मनुस्मृति मनुप्रोक्त है।

६. विश्वरूप ने याज्ञ स्मृति २।७३, ७४, ८३, ८५ पर भाष्य करते हुए वर्तमान मनुस्मृति के ८।६८, ७०-७१, १०५, १०६, ३०४ श्लोकों को उद्धृत किया है। वहां मनु का नाम स्वायंभुव दिया गया है।

७. विज्ञानेश्वर ने याज्ञवल्क्य स्मृति के 'मिताक्षरा' भाष्य में, शंकराचार्य ने वेदान्तसूत्र भाष्य में, शबरस्वामी ने जैमिनी सूत्रों के भाष्य में, बौद्ध महाकवि अश्वघोष ने अपनी कृति 'वज्रकोपनिषद्' में,

---

२५. ''अष्टावेव समासेन विवाहा धर्मत: स्मृता: . . . मनु: स्वायंभुवोऽब्रवीत् ।। (आदि. ७३।८-९) ये वर्तमान मनुस्मृति में ३।२०-३४ तक वर्णित है।

२६. (क) ''तैरेवमुक्तो भगवान् मनु: स्वायंभुवोऽब्रवीत्''। महा. शान्ति, ३६।५ ।।
(ख) यथावत् श्लोक-महा. शान्ति, में ३६।३५, ४६, ४७; मनुस्मृति में क्रमश; ३।११७; २।१३२; २।१३३ ।। यथावत् भाव — महा. शान्ति में ३६।२०; में ११।१०८-१०९ ।। पाठान्तरपूर्वक — महा. शान्ति. में ३६।२७, २८; मनु. में ४।२१८, २१७, २२० ।। भावग्रहण अन्य श्लोकों में भी है।

२७. महा. आदि, १।३२ ।।

२८. ''पंचाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशु-हिरण्ययो:।'' ७।१३० ।।

२९. (क) ''मनु: स्वायंभुवोऽब्रवीत्'' आदि. ७३।८-९ ।। (ख) तैरेवमुक्तो भगवान् मनु: स्वायंभुवोऽब्रवीत् शुश्रूषध्वं यथावृत्तं धर्मं व्याससमासत: ।। शान्ति. ३६।६ ।। (ग) शान्ति १२ अ. ।। (घ) स्वायंभुव मनु द्वारा शास्त्ररचना, शान्ति. ३३५।४४, ४६ ।। आदि।

३०. ''मनुना चैव राजेन्द्र गीतौ श्लोकौ महात्मना'' शान्ति. ५६।३३ ।। अन्यत्र-शान्ति. १२ अ.; ११८।२६; १२१।१०, १२ ।।

३१. वा. रामा. किष्कि. १८।३१-३२; मनु. में ८।३१६, ३१८ ।।

कवि भास ने 'प्रतिमा नाटक' में, गौतम, वसिष्ठ, आपस्तम्ब आदि ने अपने सूत्रग्रन्थों में, [३२] वलभी के राजा धारसेन के शिलालेख में, [३३] धर्मप्रसंग में जो मनु का निर्देश किया है तथा अपनी पुष्टि के लिए जो श्लोक उद्धृत किये हैं, वे मनु के ही हैं और वर्तमान मनुस्मृति में प्राप्त हैं । इनसे इस बात की पुष्टि हो जाती है कि इसका मूलरचयिता मनु ही है, भृगु आदि कोई अन्य व्यक्ति नहीं । यह स्पष्ट किया ही जा चुका है कि मनु के नाम से उल्लिखित धर्मशास्त्रकार स्वायंभुव मनु ही प्रसिद्ध है ।

पक्षान्तरों का विवेचन

२. मनुस्मृति वैवस्वतमनुप्रोक्त—

कुछ आलोचक मनुस्मृति को मनुप्रोक्त तो मानते हैं, किन्तु उस मनु को स्वायंभुव न मानकर वैवस्वत मानते हैं । ऐसा मानने के उनके पास कुछ निम्न आधार हैं—

१. मनुस्मृति के १।६१-६२ श्लोकों में स्वायंभुव मनु के वंश का वर्णन करते हुए सातवें वैवस्वत मनु तक का उल्लेख है । पहले मनु के काल में सातवें मनु का उल्लेख नहीं हो सकता, अतः यह सातवें वैवस्वत मनु की ही रचना है । ऐसा विद्वानों का विचार है ।

२. कौटिल्य-अर्थशास्त्र प्र. ८।अ. १२ में, आदिकाल में प्रजाओं द्वारा वैवस्वत मनु को राजा बनाने की घटना है । वहां जो कर व्यवस्था दी है[३४], वह प्रचलित मनुस्मृति ७।१३०-१३२ से मिलती-जुलती है, अतः यह स्मृति वैवस्वतमनुप्रोक्त है ।

इन आधारों पर अनुशीलन करने पर इन पर आधारित यह मान्यता स्वयं अमान्य प्रतीत होती है । आइये, इन पर विचार करें ।

१. मनुस्मृति के जिन श्लोकों में वैवस्वत मनु का उल्लेख है, वे निम्न हैं—

स्वायंभुवस्यास्य मनोः षड्वश्या मनवोऽपरे ।
सृष्टवन्तः प्रजाः स्वाः स्वाः महात्मानो महौजसः ।।
स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा ।
चाक्षुषश्च महातेजा विवस्वत्सुत एव च ।। १।६१-६२ ।।

अर्थात्—इस स्वायंभुव मनु के वंश में महात्मा और महान तेजस्वी अन्य छह मनु और हुए हैं, जिन्होंने अपने-अपने काल में अपनी प्रजाओं की सृष्टि की थी । वे हैं — स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष और विवस्वत् का पुत्र वैवस्वत ।

मनुस्मृति में ये दोनों ही श्लोक प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं । इनकी प्रक्षिप्तता के कई कारण हैं — १. यह कहना चाहिये कि स्वायंभुव मनु पहले ही अपने वंश की भावी छह पीढ़ियों का वर्णन नहीं कर सकते । पूर्व १।५८-६० श्लोकों के वर्णन से यह स्पष्ट है कि स्वायंभुव का शिष्य भृगु यह बात कह रहा है । वह भावी छह पीढ़ियों और उनके कार्यों का भूतकाल में वर्णन कैसे कर सकता है ? इस प्रकार ये श्लोक परवर्ती प्रक्षेप हैं और कालविरुद्ध वर्णन हैं । २. इनका पूर्वापर प्रसंग से भी विरोध है । पूर्वापर १।५७ और १।६४ श्लोकों में सृष्टि-उत्पत्ति की अवस्था और उसके काल का वर्णन चल रहा है । बीच के इन श्लोकों के अप्रासंगिक वर्णन ने उस प्रसंगक्रम को भंग कर दिया है । ३. मनुओं के द्वारा चराचर सृष्टि का उत्पादन और पालन सृष्टिक्रमविरुद्ध वर्णन है । यह मनु की

३२. उद्धरणस्थल द्रष्टव्य 'मनुस्मृति महत्ता' शीर्षक की टिप्पणियों में ।
३३. ५७१ ई. का शिलालेख ।
३४. उद्धरण द्रष्टव्य 'मनुस्मृति का काल' शीर्षक के अन्तर्गत ।

१।६, १४-२३ श्लोकों में वर्णित मान्यता के विरुद्ध भी है। ४. इस प्रसंग में भृगु द्वारा मनुस्मृति के प्रवचन का कथन भी असंगत है, क्योंकि इसकी शैली से यह मनुप्रोक्त ही सिद्ध होती है।[३५] इस प्रकार इन प्रक्षिप्त श्लोकों के आधार पर इसे वैवस्वत मनुप्रोक्त नहीं कहा जा सकता।

२. कौटिल्य-अर्थशास्त्र में जो घटना वैवस्वत मनु के नाम से दी गयी है, वह महाभारत शान्ति. ६७।१५-३० में स्वायंभुव मनु के प्रसंग में दी हुई है। कहा नहीं जा सकता कि कौटिल्य अर्थशास्त्रकार ने यह नामान्तर क्यों ग्रहण किया। यह किसी पाठभेद के कारण भी हो सकता है, अथवा यह भी संभव है कि स्वायंभुव मनु की वंश-परम्परा में उत्पन्न होने के कारण वैवस्वत मनु नें इन व्यवस्थाओं को यथावत् और रुचिपूर्वक लागू किया हो, जिससे वे उसके नाम से प्रसिद्ध हो गयी हों। वैसे कुछ वंशावलियों को देखकर और दोनों मनुओं का प्रथम राजा के रूप में वर्णन देखकर कई बार, अन्वेषकों को दोनों की एकता का आभास होने लगता है। ये एकरूपवर्णन भी भ्रान्ति पैदा कर देते हैं। इतिहासानुसंधाताओं ने इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट किया है कि स्वायम्भुव मनु सृष्टि के प्रथम राजा थे और वैवस्वत मनु प्रलयोत्तरकालीन समाज के प्रथम राजा हुए हैं।

इनके अतिरिक्त अन्य बहुत-सी युक्तियां भी हैं, जिनका इस प्रसंग में उल्लेख किया जा सकता है और उनसे इसी मान्यता को बल मिलता है कि मनुस्मृति के प्रवक्ता मनु वैवस्वत नहीं, अपितु स्वायम्भुव हैं, यथा —

३. मनुस्मृति में ऐसा कोई अन्तःसाक्ष्य नहीं मिलता जिसमें वैवस्वत मनु की शास्त्रप्रवक्ता के रूप में चर्चा हो। उपर्युक्त स्थल को छोड़कर अन्यत्र कहीं वैवस्वत का नाम भी नहीं है। उस स्थल पर भी केवल वंशावली है, मनुस्मृति के प्रवचन से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं दिखाया है।

४. मनुस्मृति में मनु के साथ भृगु का उल्लेख मिलता है। यह भृगु भी स्वायंभुव मनु का शिष्य था, वैवस्वत मनु का नहीं।

५. यद्यपि भारतीय साहित्य में दोनों मनु प्रथम राजा के रूप में वर्णित हैं, किन्तु स्वायंभुव मनु की अधिक ख्याति धर्मशास्त्रकार के रूप में है, जबकि वैवस्वत की एक राजा के रूप में।[३६] वैवस्वत का धर्मशास्त्रकार के रूप में उल्लेख नहीं के बराबर है।

६. वाल्मीकि रामायण में वैवस्वत मनु को सूर्यवंश का प्रथम राजा कहा है। उसी ने अयोध्या की स्थापना की।[३७] मनुस्मृति में अयोध्या का, तत्कालीन प्रदेश या भौगोलिक स्थिति का कहीं कोई वर्णन नहीं है, जबकि इसके विपरीत स्वायंभुव के प्रदेश ब्रह्मावर्त का सर्वोच्च महत्त्व प्रदर्शित है।[३८]

७. मनुस्मृति में स्वायंभुव के परवर्ती मनुओं की अथवा वैवस्वत से पूर्व के मनुओं की किसी प्रकार की कोई चर्चा का न होना भी इसे स्वायंभुवकालीन सिद्ध करता है। एक स्थान पर केवल मनु के राज्य का उल्लेख है और वह प्रक्षिप्त है।[३९] शैली के आधार पर वह वैवस्वत के भी बहुत परवर्ती काल का प्रक्षेप सिद्ध होता है। यतोहि, वहां राजा पृथु का भी उल्लेख है, जो वैवस्वत मनु से सातवीं पीढ़ी में हुआ है।[४०]

---

३५. शैली पर विस्तृत विवेचन 'मनु० का रचयिता स्वायंभुव मनु' शीर्षकान्तर्गत द्रष्टव्य है।

३६. ''मनुर्वैवस्वतो राजा-इत्याह। तस्य मनुष्या विशः।'' [शत. १३।४।३।३]

३७. बाल. ७०।२० में वंशपरिचय में प्रथम प्रजापालक कहा है। बाल. ५।६ में कहा है कि मनु ने ही अयोध्या को बसाया — ''अयोध्या नाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता। मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम्।''

३८. मनु. २।१७-२० ।।

३९. ''पृथुस्तु विनयाद्राज्यं प्राप्तवान् मनुरेव च।'' ७।४२ ।।

४०. वा. रामा. बाल. ७०।२४ ।।

८. १।७९-८० में मन्वन्तर कालपरिमाण का वर्णन है । यदि मनुस्मृति वैवस्वत मन्वनतर काल की होती तो वहां पूर्व मन्वन्तरों के व्यतीतकाल और नामों का उल्लेख अवश्य मिलता । केवल मन्वन्तर का वर्णन होना इस बात का द्योतक है कि यह प्रारम्भिक मन्वन्तर काल की कृति है, जबकि मन्वन्तर केवल एक कालपरिमाण रूप में प्रचलित हुआ । मनुओं के व्यक्तिगत नामों पर इनका नामकरण बाद में निर्धारित हुआ ।

९. मनुस्मृति तथा अन्य ग्रन्थों में वर्णित वंशावलियां भी मनुस्मृति का सम्बन्ध स्वायंभुव से सिद्ध करती हैं । मनुस्मृति में अनेक स्थलों पर मनु का सीधा सम्बन्ध ब्रह्मा से प्रदर्शित किया है । ब्रह्मा को विशेष महत्त्व भी दिया गया है, जैसे ब्रह्मावर्त आदि । वैवस्वत मनु का ब्रह्मा से सीधा सम्बन्ध न कुलवंश से है और न विद्यावंश से,[४१] जबकि स्वायंभुव मनु का है । उसका नाम स्वायंभुव भी स्वयंभू अर्थात् ब्रह्मा का पुत्र या शिष्य होने से 'स्वायंभुव' है । मनुस्मृति में ब्रह्मा से सीधे सम्बन्ध की प्रवृत्ति और उसे महत्त्व प्रदान करने की भावना भी इसे स्वायंभुव मनुकृत सिद्ध करती है।

३. मनुस्मृति भृगुप्रोक्त —

मनुस्मृति को भृगुप्रोक्त मानने वालों के लिए आधारभूत सामग्री मनुस्मृति में ही प्राप्त है । परवर्ती ग्रन्थों में भी उसी को आधार बनाकर यह मान्यता प्रदर्शित की गई है । अत : यहां पहले उन्हीं श्लोकों की विवेचना की जानी आवश्यक है, जिनमें इसे भृगुप्रोक्त कहा गया है ।

१. पूर्वोक्त विवेचन में मनुस्मृति की शैली पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है । उससे यह निष्कर्ष सामने आया है कि इसकी प्रवचन शैली से मनु ही इसके आदि-प्रवक्ता सिद्ध होते हैं । १।१-४ श्लोकों में वर्णित है कि साक्षात्कृतधर्मा ऋषि मानने के कारण ही ऋषि लोग मनु के पास आते हैं और धर्म सम्बन्धी जिज्ञासा करते हैं । जिज्ञासा मनु से की है तो मनु ही उसका उत्तर देते हैं, और यह भी कि वही इस विषय के अपने समय के विशिष्ट विद्वान् हैं । वह उत्तर १।४-५ से प्रारम्भ होकर अन्त तक इसी शैली में चलता है । इस प्रकार किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा ऋषियों के प्रश्न का उत्तर दिया जाना न तो शैलीसंगत है और न व्यावहारिक । बीच-बीच में बहुत-से श्लोकों में भृगु द्वारा प्रवचन करने का उल्लेख है । यह बड़ी अटपटी, अव्यावहारिक और अप्रासंगिक बात है कि ऋषिगण विशिष्ट विद्वान् होने के नाते आये तो मनु के पास हैं, प्रश्न भी उन्हीं से करते हैं और तदनुसार प्रारम्भ में उत्तर भी मनु ही देते हैं । किन्तु पुन : भृगु उत्तर देना शुरू कर देते हैं ; जबकि अन्त तक शैली वही १।४ से आरम्भ मनु द्वारा उत्तर देने वाली चलती रहती है ।

वस्तुत : मनुस्मृति में भृगु से सम्बन्धित सभी श्लोक प्रक्षिप्त हैं । भृगु के शिष्यों ने भृगु को महत्त्व प्रदान करने और मनु से जोड़ने के लिए उनका प्रक्षेप किया है । मनुस्मृति की शैली से, उनके अटपटे वर्णन से, उनकी अव्यावहारिकता से और अप्रासंगिकता से यह निष्कर्ष निकलता है कि वे श्लोक मनुस्मृति में परवर्तीकाल में बलात् डाले गये हैं । किसी भी स्थल पर मनुस्मृति के प्रसंगों से पूर्वापर रूप में उनका तालमेल न होना और विरुद्ध वर्णन होना भी उन्हें बलात् किया गया प्रक्षेप सिद्ध करता है । आगे उनकी प्रक्षिप्तता पर विचार किया जा रहा है ।

क. एतद् वोऽयं भृगु : शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषत : ।
एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनि : ।।

---

४१. द्रष्टव्य वा. रामा. में बाल. ७०।१९-२१ में प्रदर्शित वंशावली । ब्रह्मा से मरीचि, मरीचि से कश्यप, कश्यप से विवस्वान विवस्वान से मनु वैवस्वत हुआ ।

ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना भृगुः ।
तानब्रवीत् ऋषीन् सर्वान् प्रीतात्मा श्रूयतामिति ।। १।५९-६० ।।

अर्थात् — यह भृगु मुनि इस मनुस्मृति शास्त्र को सम्पूर्ण रूप से आप लोगों को सुनायेगा, क्योंकि इसने इस सम्पूर्ण शास्त्र को भलीभांति मुझ मनु से सीखा है । महर्षि मनु के इस प्रकार कहने पर वह महर्षि भृगु जिज्ञासा की दृष्टि से आये उन सब ऋषियों को प्रसन्नचित्त होकर 'सुनिये' ऐसा बोले ।

प्रक्षिप्तता विवेचन —

उपर्युक्त शैलीगत आधार के अतिरिक्त ये श्लोक इन आधारों पर भी प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं — १. **प्रसंगविरोध** – पूर्वापर १।५७ और १।६४ श्लोकों में सृष्टि-उत्पत्ति की अवस्था और उसके काल का वर्णन है । इन श्लोकों के अप्रासंगिक वर्णन ने उस प्रसंगक्रम को भंग कर दिया है । मनु सृष्ट्युत्पत्ति विषयक जानकारी दे रहे हैं । यह प्रकरण १।१४४ [२।२५] में पूरा होगा । एक प्रचलित प्रकरण के पूर्ण हुए बिना, बिना ही प्रसंग के इस शास्त्र का अध्ययन-अध्यापन क्रम बतलाकर भृगु द्वारा शास्त्र सुनाने की बात कहना, विसंगतिपूर्ण, अटपटा एवं बलात् डाला गया प्रक्षेप है । २. **अन्तर्विरोध** — १।५८ और १।६१-६३ श्लोक भी प्रसंग की दृष्टि से इन श्लोकों से सम्बद्ध हैं । उनमें १।६, १४-२३ में वर्णित सृष्टि-उत्पत्ति के क्रम के विरुद्ध वर्णन है । मनुओं से चराचर सृष्टि उत्पन्न नहीं हो सकती । ३. मनुस्मृति मूलतः प्रवचन होने से उनके लिए मूल संकलन में 'शास्त्र' शब्द का व्यवहार नहीं बनता । यहां 'शास्त्र' पाठ इन्हें परवर्ती प्रक्षेप सिद्ध करता है । (इससे सम्बधित विवेचन इसी अध्याय में 'स्वायम्भुव मनु' शीर्षकान्तर्गत १।६१-६२, ब्रह्मा शीर्षकान्तर्गत १।५८ श्लोक पर तथा विस्तृत समीक्षा भाष्य में यथास्थान देखिए) ।

ख. यथेदमुक्तवान् शास्त्रं पुरा पृष्टो मनुर्यथा ।
तथेदं यूयमप्यद्य मत्सकाशान्निबोधत ।। १।११९ ।।

अर्थ — महर्षियों से भृगु मुनि कहते हैं — जैसे पहले मेरे पूछने पर महर्षि मनु ने मुझे इस शास्त्र का उपदेश किया था, वैसे ही आज आप लोग भी मुझसे सुनो ।

प्रक्षिप्तता विवेचन — १. **प्रसंगविरोध** — पूर्वापर १।११० और १।१२०[२।१] श्लोकों में धर्म के स्वरूप के विवेचन का प्रसंग है । उस प्रसंग के मध्य बिना ही प्रसंग के 'मनु से शास्त्र सुनने और स्वयं सुनाने' की बात कहना असंगत है । इससे पूर्वापर प्रसंग भंग हो गया है । २. **शैली** की दृष्टि से यह भृगु से भी भिन्न किसी व्यक्ति द्वारा रचित है । फिर मनु का तो किसी भी दृष्टि से नहीं हो सकता । (विस्तृत विवेचन भाष्य में द्रष्टव्य है) ।

ग. ५।१-४ श्लोकों में महर्षि लोग भृगु से प्रश्न करते हैं कि अपने धर्म में स्थित रहते हुए भी विद्वानों को मृत्यु क्यों प्रभावित कर लेती है । भृगु उन्हें उत्तर देते हैं कि वेदों के अनभ्यास, सदाचारत्याग, आलस्य और अन्नदोष के कारण विद्वानों को मृत्यु मारती है ।

प्रक्षिप्तता विवेचन — १. **शैली** की दृष्टि से ये श्लोक भृगु से भी परवर्ती किसी अन्य व्यक्ति की रचना हैं । स्मृति के प्रारम्भ में प्रश्न मनु से किया था । मनु के पास ही ऋषि आये थे । भृगु से पुनः प्रश्न और उसके द्वारा उत्तर मनुस्मृति की शैली के अनुरूप नहीं है । २. **प्रसंगविरोध** — अग्रिम प्रसंग भक्ष्याभक्ष्य पदार्थों का है, जबकि इन श्लोकों में मृत्यु का कारण पूछा और बताया जा रहा है । यहाँ प्रश्न और उत्तर की असंगति इन्हें प्रक्षिप्त सिद्ध करती है । (विस्तृत विवेचन भाष्य में द्रष्टव्य है) ।

घ. चातुर्वर्ण्यस्य कृत्स्नोऽयमुक्तो धर्मस्त्वयानघ ।
कर्मणां फलनिर्वृत्तिं शंस नस्तत्त्वतः पराम् ।।
स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन्मानवो भृगुः ।
अस्य सर्वस्य श्रृणुत कर्मयोगस्य निर्णयम ।। १२।१-२ ।।

प्रक्षिप्तता विवेचन — **१. प्रसंगविरोध** — इससे पूर्व ११।२६६ श्लोक में मौलिक शैली से पूर्वविषय की समाप्ति और अग्रिम 'कर्मविधि' विषय के प्रारम्भका संकेत है । उसके बाद पुनः प्रश्नोत्तर करना असंगत भी है और मनु की शैली के विपरीत भी । २. ये भी भृगु से परवर्ती व्यक्ति की रचना है ।

ङ इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठन्द्विजः ।
भवत्याचारवान्नित्यं यथेष्टां प्राप्नुयाद् गतिम् ।। १२।१२६ ।।

अर्थ — इस भृगु द्वारा प्रोक्त मानवशास्त्र को पढ़ने वाला द्विज सदा आचारवान् रहता है और इच्छित गति को प्राप्त करता है ।

प्रक्षिप्तता विवेचन —१. इस श्लोक में मनुस्मृति के लिए किया गया 'शास्त्र' शब्द का व्यवहार इसे परवर्ती प्रक्षेप सिद्ध करता है (द्रष्टव्य इसी अध्याय में ब्रह्मा शीर्षकान्तर्गत १।५८ पर विवेचन) । २. यह श्लोक भी इसे भृगु से परवर्ती व्यक्ति द्वारा रचित सिद्ध करता है । ३. यद्यपि इसमें इस स्मृति को मनुरचित कहा है,फिर भी भृगु का नाम महत्त्वप्राप्ति की इच्छा से जोड़ दिया है । ४. इस प्रकार का उपसंहार मनु की शैली के अनुरूप नहीं है । वे केवल प्रस्तुत विषय का फल प्रदर्शित करते हैं (१२।१२५ में) ।

इस प्रकार भृगु के नाम के उल्लेख वाले सभी श्लोक प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं । यह कहना चाहिए कि इस प्रकार तो ये श्लोक भृगुरचित भी नहीं अपितु किसी परवर्ती व्यक्ति ने रचकर मिलाये हैं । इस आधार पर यदि भृगुकृत मानें तो फिर यह भृगु से भी बाद के किसी व्यक्ति की रचना माननी पड़ेगी ।

२. यहां कुछ लोग यह शंका उठा सकते हैं कि जैसे मनु के नामोल्लेख वाले श्लोकों को पारम्परिक जनश्रुति के समान आधार मानकर इसका कर्ता स्वायंभुव मनु माना है, ऐसे ही भृगु के श्लोकों को भी आधार क्यों न माना जाये ?

इसका स्पष्ट-सा उत्तर है कि भृगु नामोल्लेख वाले श्लोकों का मनुस्मृति में कोई प्रसंग ही नहीं जुड़ता । वे सभी बलात् डाले हुए लगते हैं । इसके मूल में भृगु के शिष्यों की शायद यह भावना रही है कि उसे मनु के प्रसिद्ध शास्त्र से जोड़कर कम-से-कम प्रवचनकर्त्ता के रूप में तो महत्त्व मिल जाये । यद्यपि यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि भृगु ने मनुस्मृति का प्रवचन किया होगा । लेकिन उसके प्रवचन के आधार पर, उसके पश्चात् मनुस्मृति का संकलन हुआ, यह कथन बिल्कुल निराधार है । हो सकता है, प्रवचनों का आद्य संकलन भी भृगु ने किया हो, क्योंकि वह मनु के समकालीन था । किन्तु मौलिक संकलन में भृगु के नाम की कोई गुंजाइश नहीं बनती ।

३. प्रतीत होता है कि भृगु की अपनी कोई पृथक् संहिता रही है, जो आज उपलब्ध नहीं है । महाभारत शान्ति ५७।४१ में निम्न श्लोक भृगु के नाम से उद्धृत है —

राजानं प्रथमं विन्देत् ततो भार्यां ततो धनम् ।
राजन्यसति लोकस्य कुतो भार्या कुतो धनम् ।।

यह श्लोक वर्तमान मनुस्मृति में नहीं है । इसी प्रकार विश्वरूप ने याज्ञवल्क्य स्मृतिभाष्य १।१८७, २५२ में जो श्लोक भृगु के नाम से उद्धृत किये हैं, वे भी मनुस्मृति में नहीं हैं । अपरार्क ने भृगु के नाम से निम्न श्लोक दिया है जिसमें मनु का नाम है —

> येषु पापेषु दिव्यानि प्रतिशुद्धानि यत्नतः ।
> कारयेत् सज्जनैस्तानि नाभिशस्तं त्यजेन् मनुः ।।
> (याज्ञवल्क्यस्मृति २।९६) ।।

४. यदि वर्तमान मनुस्मृति भृगु-संहिता होती तो इसका प्रारम्भ मनु के पास आने की घटना से न होकर भृगु के पास आने की घटना से अथवा उनसे की गई जिज्ञासा से होता, जैसा कि नारद, अग्नि, विष्णु, याज्ञवल्क्य, बृहस्पति आदि की स्मृतियों में है ।[४२] मनुस्मृति का,मनु की घटना से प्रारम्भ भी यह संकेत देता है कि यह भृगुसंहिता या भृगु की रचना नहीं, मनु की है । ऐसा उदाहरण अन्य किसी स्मृति में नहीं पाया जाता, जैसा मनुस्मृति में भृगु को जोड़कर प्रस्तुत किया है ।

५. कई ग्रन्थों में भविष्यपुराण का एक श्लोक उद्धृत मिलता है, जो इस बात का विवरण देता है कि स्वायम्भुव शास्त्र अर्थात् मनुस्मृति के आधार पर चार संहिताओं का निर्माण हुआ था — १. भृगुसंहिता, २. नारदसंहिता, ३. बृहस्पति संहिता, ४. आंगिरस संहिता ।[४३] इनमें अन्तिम तीन उपलब्ध हैं, भृगुसंहिता उपलब्ध नहीं है । इन तीनों का प्रारम्भ भी उन-उन प्रणेताओं के नामों से है, यही शैली भृगुसंहिता की रही होगी । स्पष्ट है कि मनुस्मृति से भिन्न कोई भृगुसंहिता रही है ।

इन प्रमाणों और संकेतों से यह स्पष्ट हुआ कि प्रचलित मनुस्मृति भृगुप्रोक्त नहीं है । भृगु मनु का पुत्र और शिष्य था । मनु की विद्यापरम्परा से भी सम्बन्धित रहा है । प्रतीत होता है कि भृगुसंहिता का प्रचलन नहीं हो पाया तो भृगुपरम्परा के शिष्यों ने अपनी परम्परा की प्रसिद्ध स्मृति मनुस्मृति में भृगु के नाम का समावेश कर दिया । उसे भृगु के प्रवचन का रूप दे दिया । परिणामतः भृगुसंहिता विलुप्त हो गयी ।

४. मनुस्मृति ब्रह्माप्रोक्त —

एक मान्यता यह भी है कि वर्तमान मनुस्मृति मूलतः ब्रह्माप्रोक्त है । यद्यपि इस मान्यता को मानने वाले विचारकों की संख्या कम है । इसका स्रोत भी मनुस्मृति ही है । इसलिए यहां उस स्रोत-रूप श्लोक पर ही विचार करना चाहिए ।

मनुस्मृति में केवल एक स्थान पर यह उल्लेख आता है । स्वायंभुव मनु कहते हैं — 'इस ब्रह्मा ने इस मनुस्मृति शास्त्र को रचकर सबसे पहले मुझ मनु को ही विधिपूर्वक पढ़ाया, और फिर मैंने मरीचि आदि दश मुनियों को ग्रहण कराया ।' श्लोक है —

> इदं शास्त्रं तु कृत्वाऽसौ मामेव स्वयमादितः ।
> विधिवद् ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन् ।। १।५८ ।।

---

४२. अत्रि स्मृति का प्रारम्भ — ''हुताग्निहोत्रमासीनमत्रिं वेदविदां वरम्-इदं वचनमब्रुवन'' ।।
विष्णु स्मृति में — ''विष्णुमेकाग्रमासीनं . . . पप्रच्छुर्मुनयः सर्वे ।।''
याज्ञ. स्मृति में — ''योगीश्वरं याज्ञवल्क्यं संपूज्य मुनयोऽब्रुवन् ।।
बृहस्पति स्मृति में — ''राजा . . . भगवन्तं गुरुं श्रेष्ठं पर्यपृच्छद् बृहस्पतिम् ।।''

४३. हेमाद्रि तथा संस्कारमयूख आदि ग्रन्थों में भविष्य पुराण का यह श्लोक मिलता है —
भार्गवीया नारदीया च बार्हस्पत्यांगिरस्यपि ।
[illegible] ।।

मनुस्मृति के प्रसंग में यह श्लोक प्रक्षिप्त सिद्ध होता है । इसकी प्रक्षिप्तता पर विचार करने से पूर्व यह स्पष्ट करना भी प्रासंगिक होगा कि भारतीय ऐतिहासिक परम्परा के अनुसार ब्रह्मा को आदिगुरु माना जाता है । इस कारण प्रत्येक विद्यावंश उसी से प्रारम्भ होता है । यदि ब्रह्मा से मनु ने इस विषय की शिक्षा प्राप्त की हो तो इसे मानने में कोई आपत्ति नहीं । किन्तु यह कहना आपत्तिजनक है कि इस शास्त्र को ब्रह्मा ने रचा, फिर उसे ही मनु को दिया और मनु ने अन्य ऋषियों को । यह कथन मनुस्मृतिसम्मत नहीं है ।

इस विवेचन को पढ़ते हुए आपने देखा कि मनुस्मृति में मनुस्मृति के प्रणेता के सम्बन्ध में तीन विरोधी मान्यताएं यत्र-तत्र उल्लिखित हैं । कहीं मनु को, कहीं भृगु को, तो कहीं ब्रह्मा को इसका प्रवक्ता कहा है । यह निश्चित है कि इसका रचयिता है एक ही । स्पष्ट है कि प्रक्षिप्त श्लोकों के कारण ही यह विवाद उभरा है । अत : अब इस श्लोक की प्रक्षिप्तता पर और उसके सन्दर्भ में इस पक्ष पर विचार किया जाता है । वस्तुत : मनुस्मृति को अधिक मान्यता, प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि दिलाने की भावना से मनुस्मृति-परम्परा के व्यक्तियों ने इसे ब्रह्मा के साथ जोड़ने का प्रयास किया है और इसी प्रवृत्ति के कारण इस श्लोक का प्रक्षेप किया गया है ।

यह श्लोक अनेक आधारों पर प्रक्षिप्त सिद्ध होता है — १. **प्रसंगविरोध** —(क) इस श्लोक में ब्रह्मा शब्द का उल्लेख नहीं है । टीकाकारों ने पूर्व श्लोकों से इस पद की अनुवृत्ति ग्रहण की है । पूर्व श्लोकों में १।५०-५१ को छोड़कर कहीं भी ब्रह्मा का वर्णन नहीं अपितु सृष्टिकर्त्ता ब्रह्म का है । १।५०-५१ श्लोक प्रक्षिप्त हैं । वहां से अनुवृत्ति भी ग्रहण नहीं की जा सकती, क्योंकि उसके बाद ब्रह्म के वर्णन वाले कई श्लोक आ गये हैं । (ख) यहां यह श्लोक असंगत भी है, यतोहि पूर्वापर १।५७, १।६४ श्लोकों में सृष्टि-उत्पत्ति की अवस्था और उसके काल परिमाण का प्रसंग है । उस प्रसंग को भंग करके बिना ही किसी चर्चा के यह कथन नितान्त अनावश्यक एवं अप्रासंगिक है ।

२. **अन्तर्विरोध** — यह श्लोक अगले १।५९-६३ श्लोकों से सम्बद्ध है, अत : इन सभी श्लोकों का यह एक ही प्रसंग है । इन श्लोकों में मनुओं से चराचर सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है, जो सृष्टिक्रमविरुद्ध एवं मनु की पूर्ववर्णित मान्यता १।६, १४-२३ के विरुद्ध है ।

इस श्लोक में ब्रह्मा को इस शास्त्र का कर्त्ता कहने के कारण मनुस्मृति में पूर्वोक्त मनु, भृगु वाली मान्यताओं से विरोध आ गया है । इस श्लोक से उत्पन्न विरोध को दूर करने के लिये टीकाकारों ने पर्याप्त प्रयास किया है, किन्तु उन का वह प्रयास 'तथाकथित' ही रहा । उनका कहना है कि इसके मूल प्रवक्ता ब्रह्मा हैं, तथापि इसे मनुकृत इसलिए कहा जाता है कि — (अ) मनु को ब्रह्मा ने शास्त्राशय रूप विधिनिषेध का अध्यापन कराया और मनु ने उसका प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ इस रूप में बनाया । (आ) दूसरे मत के अनुसार — इस ग्रन्थ के रचयिता ब्रह्मा ही हैं, तथापि मनु ने इसका ज्ञान प्राप्त कर स्वरूप तथा अर्थ के साथ इसे मरीचि आदि के लिए प्रकाशित किया । अत : यह मानवशास्त्र कहलाया । ये दोनों ही समाधान निराधार एवं अयुक्तियुक्त हैं । इसके विश्लेषण के लिए १।१-४ श्लोकों पर गहन दृष्टिपात करना होगा । इन श्लोकों के भाव और भाषा पर ध्यान देने से निम्न बातें स्पष्ट होती हैं —

(क) मनुस्मृति अपने मूलरूप में कोई पूर्वनिबद्ध शास्त्र नहीं, अपितु मूलरूप में, जिज्ञासा का प्रवचन के रूप में दिया गया उत्तर है; जिसका बाद में संकलन हुआ है । महर्षि लोग मनु के पास आकर धर्मों को क्रमश : जानने की जिज्ञासा प्रकट करते हैं । [१।१-२] और मनु उसका उत्तर देते हैं [१।४] ।

(ख) इसके मूल प्रवक्ता भी मनु ही हैं । यही कारण है कि मनु अपने ज्ञान के अनुसार सीधे वेद से विज्ञात बातों का ही मनुस्मृति में दिग्दर्शन कराते हैं [१।२३-२४, ८७, १२५, १२९] । यदि यह ज्ञान ब्रह्मा की परम्परा से प्राप्त होता या ब्रह्मा द्वारा प्राप्त होना इसकी विशेषता मानी जाती तो ऋषि लोगों को यहां मनु के लिये 'वेदों का ज्ञाता' कहने की आवश्यकता नहीं थी । वे यही कहते कि 'आप को ही ब्रह्मा से इस ज्ञान को प्राप्त करने का अहोभाग्य प्राप्त हुआ है, अत : आपसे ही पूछने आये हैं । किन्तु ऐसा किसी प्रकार का संकेत न करके यहां उनकी व्यक्तिगत विद्वता का ही संकेत स्पष्ट हो रहा है कि वे स्वयं ज्ञाता हैं इसलिए अपने ज्ञान के आधार पर ही उन्हें उत्तर देना है — वेदों में खोजा हुआ अपना ही आशय बताना है, दूसरे का नहीं ।

(ग) यदि ब्रह्मा से यह ज्ञान प्राप्त किया होता, और ब्रह्मा के नाम के कारण ऋषियों को उस ज्ञान के प्रति आकर्षण होता, अथवा मनु को ब्रह्मा के नाम से उसमें कोई विशिष्टता या ख्याति की बात नज़र आती,तो मनु सभी बातों के साथ 'ब्रह्मा ने मुझे यह कहा, यह बताया या इसे उचित ठहराया, इसे नहीं' आदि कहते,या उनके मत का उल्लेख करते । किन्तु मनुस्मृति में एक स्थल [९।१३८] को छोड़कर ब्रह्मा के मत का कोई उल्लेख नहीं है । कहीं भी ब्रह्मा के मत का उल्लेख न होना यह सिद्ध करता है कि मनुस्मृति की रचना के साथ ब्रह्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है । ध्यान देने योग्य बात' तो यह है कि धर्माधर्म को प्रदर्शित करते समय या तो ऋषि-मुनियों के मत का उल्लेख किया है या अपने मत का ही । जब ऋषि-मुनियों की मान्यता के अनेक स्थानों पर संकेत हैं ['आहु मनीषिण : (१।१७) 'धर्मस्य मुनयो गतिम्' (१।११० ।। २।८८, १२४) आदि]—तो यदि ब्रह्मा का इसके साथ तनिक भी सम्बन्ध होता, तो उसका उल्लेख प्रमुखता से आता, क्योंकि ब्रह्मा को इस विषय का मूल प्रवक्ता और अध्यापयिता का स्थान दिया है । इससे सिद्ध हो जाता है कि मनुस्मृति के मूल प्रवक्ता स्वयं मनु हैं, ब्रह्मा का इसकी रचना से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

(घ) मनुस्मृति की शैली से यह सिद्ध होता है कि मनुस्मृति अपने मूलरूप में कोई निबद्धशास्त्र के रूप में नहीं थी । जब शास्त्र के रूप में नहीं थी तो इसके लिए मूल-संकलन से 'शास्त्र' संज्ञा का व्यवहार नहीं बनता । जब 'शास्त्र' का व्यवहार नहीं बनता तो 'ब्रह्मा ने इस शास्त्र की रचना की' यह प्रयोग भी नहीं बनता । इस प्रयोग के न बनने से मनुस्मृति का ब्रह्मा से कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता । इस प्रकार इन श्लोकों में वर्णित शास्त्र शब्द ही असंगत है ।

(ङ) मनुस्मृति अपने मूलरूप में ऋषियों की जिज्ञासा का दिया गया उत्तर है, जो प्रवचन के रूप में है । संकलन के बाद ही मनुस्मृति ने 'शास्त्र' का रूप ग्रहण किया और मौलिक संकलन वही कहा जा सकता है जो मूलप्रवक्ता की बातों का यथावत् रूप में संकलन हो, जबकि 'शास्त्र' संज्ञा का प्रयोग मौलिक नहीं हो सकता । क्योंकि, जो प्रवचन अभी किसी संकलन के या शास्त्र के रूप में नहीं आये हैं, उन्हें मनु 'शास्त्र' कहकर कैसे पुकारते ? स्पष्ट है कि मनु के प्रवचनों द्वारा 'संकलन' का रूप लेने के बाद जब वे 'शास्त्र' के रूप में विख्यात हो गये, तब जाकर इस प्रकार के श्लोक मिलाये गये जिनमें इसे 'शास्त्र' शब्द से व्यवहृत किया गया है ।

इस प्रकार ५८—५९ श्लोकों में 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग उन्हें परवर्ती प्रक्षेप सिद्ध करता है ।

(च) कुछ विद्वानों की पूर्व प्रदर्शित उन दो युक्तियों के आधार पर यदि इसे मनुकृत माना जा सकता है,तो युक्ति देने वाले उन विद्वानों को चाहिए कि वे इसे अन्तिम रूप में भृगुकृत मानें, भृगुसंकलित नहीं । क्योंकि यदि आशय समझ कर — पढ़कर उसे बतलाने के कारण मनु इसके रचयिता हैं, तो भृगु ने भी मनु के आशय को महर्षियों के समक्ष अपने शब्दों में कहा है

[५८–६०] । इस प्रकार तो भृगु इसके रचयिता हुए । इस प्रकार ये युक्तियाँ स्वयं युक्तिदाताओं की मान्यता को खंडित कर रही हैं, अतः मान्य नहीं हैं । इन युक्तियों से यह बात पूर्णतः स्पष्ट हो गई है कि मौलिक श्लोकों के अनुसार मनुस्मृति की रचना के साथ ब्रह्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है, यह मौलिक रूप से मनुकृत है और ब्रह्मा से सम्बन्ध जोड़ने वाले सभी प्रसंग परवर्ती काल के प्रक्षेप हैं ।

इस प्रकार सभी मतों के पक्ष-विपक्ष पर विचार करने के अनन्तर यही निष्कर्ष सामने आता है कि मनुस्मृति के मूल प्रवक्ता या रचयिता स्वायम्भुव मनु हैं ।

यहां स्पष्टत : मनु का काल आदिसृष्टि बताया गया है । महर्षि दयानन्द इसी मत का समर्थन करते हुए लिखते हैं —महर्षि मनु आदिसृष्टि में हुए ।[उपदेश मंजरी ९ उप०]।

४. भारतीय चतुर्युग और मन्वन्तर कालगणना पद्धति [मनु. १।६४—७३, ७९, ८०] के अनुसार सृष्टि-उत्पत्ति को हुए एक अरब, छियानवे करोड़, आठ लाख, तरेपन हजार पिचासी वर्ष [१,९६,०८,५३,०८५] बीत चुके हैं और छियासीवां सृष्टिसंवत् इस वर्ष अर्थात् ईस्वी सन् १९८५ और विक्रम सं. २०४२ में चल रहा है । इकहत्तर [७१] चतुर्युगियों का एक मन्वन्तर होता है । स्वायंभुव, स्वारोचिष, औत्तमि, तामस, रैवत, चाक्षुष — ये छह मन्वन्तर बीत चुके हैं । सातवां वैवस्वत मन्वन्तर इस समय चल रहा है । इस मन्वन्तर की चतुर्युगी में अब कलियुग का समय चल रहा है ।[४५]

इस सृष्टि-उत्पत्ति के समय को सुनकर पाश्चात्य और आधुनिक लोग अत्यधिक आश्चर्य करते हैं, और विश्वास भी नहीं करते । उन्हें यह जिज्ञासा होती है कि कालगणना का इतना हिसाब कैसे रखा गया ? इसके उत्तर में उन्हें एक व्यवहार में प्रचलित प्रमाण सम्पूर्ण देश में उपलब्ध हो जायेगा । भारतीयों ने वर्षों की बात तो छोड़िये,पल और प्रहर तक का हिसाब रखा है । ज्योतिषीय पंचांगों में यह आज भी उपलब्ध है । विवाह आदि धार्मिक कृत्यों में संस्कार के समय एक संकल्प की परम्परा है । उसमें 'आर्यावर्ते वैवस्वत मन्वन्तरे कलियुगे अमुक प्रहरे' आदि बोलकर विवाह का संकल्प किया जाता है । इस प्रकार परम्पराबद्ध रूप से समय का हिसाब सुरक्षित है ।[४६]

उपलब्ध भारतीय वंशावलियों के अनुसार ब्रह्मा को आदि वंशप्रवर्तक माना जाता है और मनु उससे दूसरी पीढ़ी में परिगणित हैं । इस प्रकार इस सृष्टि में,जब से मानवसृष्टि का प्रारम्भ हुआ है, स्वायंभुव मनु उस आदिसृष्टि या आदि समाज के व्यक्ति सिद्ध होते हैं ।

(ख) आधुनिक मतों के अनुसार स्वायंभुव मनु का काल —

आधुनिक इतिहासकारों ने प्राचीन मतों को अमान्य मानकर नये सिरे से समग्र इतिहास पर विवेचन प्रारम्भ किया हुआ है । ये इतिहासकार अधिकतर पाश्चात्य विद्वानों की कल्पनाओं एवं कार्यपद्धति से प्रभावित हैं । यद्यपि इनके मतों में अनुसन्धान के आधार पर परिवर्तन आता रहता है, तथापि अब तक स्थिर हुए कुछ आधुनिक मतों का यहाँ उल्लेख किया जाता है ।

श्री के. एल. दफ्तरी स्वायंभुव मनु का काल २६७० ई. पू. मानते हैं ।[४७] श्री त्र्यं. गु. काले ने पुराणों के आधार पर मनु का काल ३१०२ ई. पूर्व निर्धारित किया है ।[४८] लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने ज्यातिर्विज्ञानीय तत्त्वों के आधार पर प्राचीन वैदिक साहित्य का कालनिर्णय करने का प्रयास

---

४५. मनु. १।६४-७३, ७९, ८० श्लोकों में चतुर्युगी और मन्वन्तर कालगणना का पूर्ण विवरण है । विस्तार के लिए पाठकगण उनकी समीक्षाएं देखें ।

४६. पाश्चात्य और आधुनिक लोग सृष्टि उत्पत्ति के इस समय पर अविश्वास करते हैं । वे प्रत्येक आधुनिक वैज्ञानिक बात को ही प्रामाणिक समझते हैं । उनके लिए इस सृष्टि संवत् की पुष्टि हेतु एक वैज्ञानिक प्रमाण प्रस्तुत है । यह एक सुखद आश्चर्य की बात है कि सृष्टि-उत्पत्ति के विषय में आधुनिक वैज्ञानिकों की मान्यता बदल गयी है,और उन्होंने जो नयी मान्यता प्रस्तुत की है, वह भारतीय प्राचीन मान्यता से मिलती-जुलती है । प्रसिद्ध वैज्ञानिक मैडम क्यूरी ने रेडियम धातु की खोज की है । मिट्टी में मिलने वाले रेडियम के कणों का परीक्षण और अध्ययन करके, उनमें नियत समय में होने वाले परिवर्तनों के आधार पर, वैज्ञानिकों ने अनुमान लगाया है कि 'इस पृथ्वी को बने हुए लगभग दो अरब वर्ष हो चुके हैं ।' (रेडियम — भगवती प्रसाद श्रीवास्तव, साहित्य रसायन, पृ. ५७, प्रकाशक-कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय) ।

४७. [illegible]

४८. पुराण निरीक्षण, पृ. ३१५ ।

किया है । उनके अनुसार कृत्तिका नक्षत्र में वसन्तारम्भ के समय ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना हुई और मृगशिरा नक्षत्र के काल में वैदिक मन्त्रसंहिताओं की रचना हुई । खगोल और ज्योतिष शास्त्र के अनुसार कृत्तिका और मृगशिरा नक्षत्रों में वसन्तारम्भ क्रमश : आज से ४५०० एवं ६५०० वर्षों पूर्व हुआ था । इस प्रकार इन ग्रन्थों का काल क्रमश : २५०० ई. पू. तथा ४५०० ई. पू. लगभग निर्धारित होता है ।[४९] इस आधार पर मनु का काल भी ब्राह्मणग्रन्थों से पूर्व इसी कालावधि में निर्धारित होगा ।

स्वरचित 'धर्मशास्त्र का इतिहास' में, धर्मशास्त्र और स्मृतिग्रन्थों के प्रसिद्ध विवेचक डा. पी. वी. काणे ने शतपथ ब्राह्मण और तैत्तिरीय संहिता आदि का काल ई. पू. ४००० – १००० वर्ष माना है । मनु की जीवनस्थिति इससे पूर्व की होने के कारण मनु का काल भी इनसे प्राचीन होगा ।

मनु के आदिसृष्टि में होने से अभिप्राय —

आदि सृष्टि से यहां यह अभिप्राय नहीं है कि जब से संसार बना, वही काल यहाँ अभीष्ट है । यहाँ आदिसृष्टि से अभिप्राय मानव सृष्टि और मानवसमाज की संरचना से है । भारतीय इतिहास में ब्रह्मा से पूर्व कोई वंश परम्परा नहीं मिलती । इसका काल जो भी माना जाये, किन्तु इस वंशप्रवर्तक की दृष्टि से ब्रह्मा आदिसृष्टि का कहलाता है । इसी आधार पर मनु को आदिसृष्टि का कहा जाता है ।

विश्व के समग्र साहित्य में ऋग्वेद को सभी विद्वान् सबसे प्राचीन मानते हैं । उसके बाद ब्राह्मण ग्रन्थों का समय माना जाता है । इस कारण वेदों को और वैदिक साहित्य को आदि सृष्टि का कहा जाता है । ब्राह्मणग्रन्थों, तैत्तिरीय आदि संहिताओं[५०] में धर्मप्रवक्ता के रूप में मनु का बहुधा उल्लेख आता है । अत : मनु का काल ब्राह्मणग्रन्थों से पूर्व ही स्थिर होता है । प्राप्त प्राचीन वाङ्मय के आधार पर तो मनु का काल आदि सृष्टि या आदि समाज का निर्धारित होता ही है, आधुनिक मतों से भी यही भाव ध्वनित होता है ।

इसके अतिरिक्त मनु मानव व्यवस्थाओं के आदि कालीन व्याख्याता थे । इस कारण भी उन्हें आदिकाल का माना जाता है ।

वेदों में मनु शब्द —

पाश्चात्य एवं पाश्चात्य विचारधारा के अनुगामी आधुनिक विद्वान् मनु पर विचार करते समय उसका उल्लेख एवं जीवन-परिचय वेदों में खोजते हैं । उनका कथन है कि ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर व्यक्तिवाचक मनु शब्द आया है । कहीं उसे पिता कहा है, कहीं प्रारम्भिक यज्ञकर्ता, तो कहीं अग्निस्थापक के रूप में उसका वर्णन है ।[५१]

इस चर्चा का उत्तर मनु के मन्तव्य के अनुसार दिया जाये तो अधिक प्रामाणिक होगा । मनु वेदों को ईश्वरप्रदत्त अर्थात् अपौरुषेय मानते हैं । सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर ने अग्नि, वायु, आदित्य के माध्यम से वेदों का ज्ञान दिया । अपौरुषेय होने के कारण वेदज्ञान पूर्णत : चिन्त्य नहीं है, और अपरिमित है ।[५२] प्रारम्भ में वेदों से ही शब्द ग्रहण करके व्यक्तियों और वस्तुओं का नामकरण किया

४९. गीता रहस्य में ।

५०. तैत्ति. सं. २।२।१०।२ ; ३।१।९।४ ।। तां. ब्रा. २३।१६।७ ।। तैत्ति सं. ३।१।९।३० ।। काठ सं. ११।२ ।

५१. ऋग. १।८०।१६ ; १।११४।२ ; २।३३।१३ ; ८।६३।१ ; ८।३०।१ ; १०।६३।७ ।।

५२. [illegible]

गया ।[५३] मनु द्वारा वेदों को अपौरुषेय घोषित करने के उपरान्त उसी मनु का वेद में इतिहास ढूंढना मनु के साथ ही अन्याय है, और मनु से पूर्व वेदों का रचनाकाल होने से कालविरुद्ध भी है ।

वेदों में मनु शब्द विभिन्न अर्थों में आया है । कहीं वह ईश्वर का पर्यायवाची है,[५४] कहीं मनुष्य के लिए है,[५५] कहीं मननशील विद्वान् के लिये है ।[५६] विचारकों को जहां इसके व्यक्तिवाचक होने का आभास होता है, वह वस्तुत: ईश्वरवाचक प्रयोग है । अधिक विस्तार में न जाते हुए, इस विषय में मनुस्मृति का ही एक प्रमाण देकर इस बात को प्रमाणित किया जाता है । ईश्वर का वर्णन करते हुए मनु कहते हैं कि उस परमेश्वर को विभिन्न नामों से पुकारा जाता है, जिनमें एक नाम 'प्रजापति मनु' भी है —

> एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
> इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ।।१२।१२३ ।।

इस प्रकार मनु के मन्तव्य के अनुसार वेदों में 'प्रजापति' 'पिता' आदि विशेषणों से संबोधित मनु ईश्वर ही है । इस आधार पर वेद में मनु का परिचय खोजना, मनु के दृष्टिकोण के विरुद्ध है ।

— o —

५३. मनु. [illegible] ।।
५४. ऋग. १।८०।१६ ; (स्वामी दयानन्द भाष्य)
५५. ४।२६।४ ; ४।२।१२ ; ६।२१।११ ; ८।४७।४ ।।
५६. ऋग. १।८०।१६ ; १।३३०।९ ; २।३३।१३ ; (स्वामीदयानन्द भाष्य) ।। निरुक्त एवं ब्राह्मणों ने इन अर्थों की पुष्टि की है — [illegible] 'ये विद्वांसस्ते मनव:' शत. ८।६।३।१८ ।।

४. वर्तमान मनुस्मृति का रचनाकाल

आधुनिक विचारकों का मत है कि वर्तमान में प्रचलित मनुस्मृति का यह छन्दोबद्ध रूप पर्याप्त अवरकालीन है । इसकी कालावधि ईस्वी पूर्व प्रथम से द्वितीय शती मानी गयी है । उपर्युक्त विवेचन में सप्रमाण यह स्पष्ट किया गया है कि मनुस्मृति के मूलप्रवक्ता स्वायंभुव मनु हैं, और अधिकांश विद्वान् इसी मत को ही मानते हैं । इस तथ्य को तो सभी स्वीकार करेंगे ही कि जिसकी जो कृति है वह उसी के काल की होगी, अत : इस बात में तो कोई संदेह ही नहीं होना चाहिये कि मूलत : मनुस्मृति उसके प्रवक्ता स्वायंभुव मनु के काल की ही है । हां, यह बात अवश्य विचारणीय है कि उसका प्रारम्भिक रूप क्या रहा होगा ? मनुस्मृति के आद्यरूप पर विचार इस अध्याय के अन्त में किया जायेगा । यहाँ पहले, वर्तमान में प्रचलित मनुस्मृति के छन्दोबद्ध रूप के काल पर विचार किया जाता है । यद्यपि अन्य प्राचीन ग्रन्थों की तरह मनुस्मृतिविषयक काल का कहीं कोई उल्लेख न होने के कारण सुनिश्चित रूप से समय का निर्धारण करना कठिन है, फिर भी प्राचीन ग्रन्थों में पाये जाने वाले उद्धरणों, नामोल्लेखों को आधार मानकर उसका अनुमान लगाया जा सकता है । अब यहाँ विद्वानों द्वारा इस विषय में आधाररूप में अपनाये गये तथ्यों पर तथा इसके कालनिर्धारण में सहयोगी अन्य आधारों एवं संकेतों पर विचार किया जा रहा है

(क) अर्वाचीन आधार एवं संकेत — प्रथम ईस्वी सन् से लेकर १३०० ईस्वी तक के भारतीय साहित्य पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि इस कालावधि में, प्रचलित मनुस्मृति पर्याप्त लोकप्रिय एवं प्रभावी रही है । इस पर अनेक विद्वानों ने संस्कृत भाष्य लिखे, जिनमें कुल्लूक भट्ट की मन्वर्थमुक्तावली टीका आज अधिक प्रचलित [११५० – १३०० ई.] है । मेधातिथि का मनुभाष्य सबसे प्राचीन भाष्य उपलब्ध है, जिसका काल ८२५ – ९०० ई. के मध्य माना जाता है । इसके अतिरिक्त मनुस्मृति पर सर्वज्ञनारायण की मन्वर्थविवृति [लगभग १४०० ई.], गोविन्दराज की मनुटीका [लगभग १२०० – १३०० ई.], नन्दन की नन्दनी और राघवानन्द की टीका उपलब्ध है ।

विश्वरूप [७९० – ८५० ई.] ने अपने याज्ञवल्क्य-स्मृति-भाष्य और यजुर्वेदभाष्य में मनुस्मृति के लगभग दो सौ श्लोक उद्धृत किये हैं।[५७] इससे परवर्ती मिताक्षरा के लेखक विज्ञानेश्वर [१०४० – ११०० ई.] ने भी अपने भाष्य में मनुस्मृति के सैंकडों श्लोक उद्धृत किये हैं।[५८] शंकराचार्य ने अपने वेदान्तसूत्र भाष्य में मनुस्मृति के कई श्लोक अपने विचारों की पुष्टि के लिए ग्रहण किये हैं और कुछ श्लोकों के साथ तो मनु के नाम का स्पष्ट उल्लेख है।[५९] ५०० ई. में [कुछ के मतानुसार २०० – ४०० ई.] जैमिनिसूत्र भाष्य में शबरस्वामी द्वारा मनु के मतों का उल्लेख किया मिलता है।[६०] बौद्ध महाकवि अश्वघोष ने अपनी 'वज्रकोपनिषद' रचना में अपने विचारों की पुष्टि के लिए मनु के श्लोकों को उद्धृत किया है।[६१] यह राजा कनिष्क [७८ ई.] का समकालीन था।

ईस्वी पूर्व के ग्रन्थों पर दृष्टिपात करते हैं तो, यद्यपि याज्ञवल्क्य स्मृति में विषयों का वर्गीकरण नये ढंग से किया है और बहुत सारे नये विषय भी अपनाये हैं, किन्तु मनु से मिलते हुए जो भी विषय हैं, उनमें ऐसा लगता है, जैसे मनुस्मृति को सामने रखकर ही उनका अपने शब्दों में संक्षेपीकरण किया हो।[६२] इसका काल १०२ ई. पू. माना जाता है। इस विषय में सभी विद्वान् एकमत हैं कि मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति से पर्याप्त प्राचीन रचना है। इसी प्रकार आचार्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र को [१०० – ३०० ई. पू.] पढ़ने पर प्रतीत होता है कि अपने बहुत-से नये विषयों के प्रस्तुतीकरण के साथ-साथ प्राचीन बातों के वर्णन में मनुस्मृति को आधार बनाकर वर्णन किया है।[६३] बहुत-से स्थलों पर मनु के मत का नामपूर्वक उल्लेख है।[६४] वर्तमान मनुस्मृति में ७।१०५ पर पाया जाने वाला निम्न श्लोक कौटिल्य-अर्थशास्त्र प्र १०। अ. १४ में लगभग उसी रूप में पाया जाता है —

> नास्य छिद्रं परो विद्यात् विद्याच्छिद्रं परस्य तु।
> गूहेत्कूर्म इवांगानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥

भासकृत 'प्रतिमानाटक' [२०० – ३०० ई. पू. कुछ के मत में ४०० – ५०० ई. पू.] में रावण के मुख से उच्चारित वाक्य से यह संकेत मिलता है कि उससे पूर्व 'मानवधर्म शास्त्र' एक प्रसिद्धिप्राप्त शास्त्र था —

> ''रावण :— काश्यपगोत्रोऽस्मि सांगोपांगं वेदमधीये मानवीयं
> धर्मशास्त्रं, माहेश्वरं योगशास्त्रम् . . . . च'' [पृ. ७९]

---

५७. विश्वरूप ने याज्ञ. स्मृ. २।४४ तथा २।७३, ७४, ८३, ८५ श्लोकों के भाष्य पर मनु. के ८।६८, ७०, ७१, १०५, १०६, ३४० श्लोक उद्धृत किये हैं।

५८. याज्ञ. स्मृ. १।७, ४३, ६२, ६९, ७२, ७८, ८०; २।१, २, ५, २१, २६ आदि श्लोकों के भाष्य पर मनु. के २।२०, ३।५, ३।४४, ९।६९, ३।४९; ८।१२८, ८।१३, ८।४-७, ८।३५०-३५१, ८।१२९ श्लोक उद्धृत किये हैं।

५९. शंकराचार्य ने १।३।२८; १।३।३६; २।१।१; २।१।११; ३।४।३८; ४।२।६ सूत्रों पर मनु. के १।२१; १०।४ तथा १२।६; १२।९१; १२।१०५-१०६; २।८७; १।२७ श्लोक उद्धृत किये हैं। ३।१।१४ पर मनु का नामोल्लेख है और २।१।१ में 'मनुर्वै यत्किञ्चावदत . . .' यह ब्राह्मणवाक्य उद्धृत करके मनु की प्रशंसा है।

६०. धर्मशास्त्र का इतिहास — पी. वी काणे।

६१. वही।

६२. द्रष्टव्य यथा — याज्ञ. स्मृ. के २।७, १।१४, १।३४; २।३६ आदि श्लोकों में मनु. २।१२, २।६९, १।१४१, १४३, १४४; ८।४० के श्लोकों का संक्षिप्त भाव।

६३. द्रष्टव्य अर्थशास्त्र प्र. ३।३, ६, २।४, ३।५, १४।१८ दिनचर्या, प्र. ९७ में मनु. ७।३७, ७।३९ तथा ४३, ७।३७-३९ दिनचर्या, ७।१४५ श्लोकों का यथावत भाव।

६४. द्रष्टव्य प्र. ८।३, १२, ११, १०।१४ आदि।

इतिहासकार शूद्रकरचित 'मृच्छकटिकम्' नाटक को ई. पू. तीसरी शताब्दी की रचना मानते हैं। इसमें किसी ग्रन्थ का श्लोक उद्धृत करते हुए 'ब्राह्मण अवध्य है', मनु के इस मत को मनु के नामोल्लेख पूर्वक दिया है—

> अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत्।
> राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवैरक्षतैः सह ।। मृच्छ. ९।३९ ।।

(ख) प्राचीन आधार एवं संकेत — परम्परागत मान्यताओं के अनुसार और अधिक प्राचीन माने जाने वाले साहित्य में भी मनुस्मृति के श्लोकों के उद्धरण मिलते हैं —

१. महाभारत में अनेक स्थलों पर स्मृतिकार के रूप में स्वायंभुव मनु या मनु का उल्लेख आता है। बहुत से ऐसे श्लोक हैं जो मनु के नाम से उद्धृत हैंऔर वे प्रचलित मनुस्मृति में यथावत् पाये जाते हैं। ऐसे श्लोक, जो मनु के नाम के बिना भिन्न-भिन्न धर्मवर्णन प्रसंगों में उद्धृत हैं, और जो मनुस्मृति में यथावत् रूप में पाये जाते हैं, उनकी संख्या भी पचासों है। इसके अतिरिक्त किंचित् पाठभेद वाले और यथावत् गृहीत भाव वाले श्लोकों की संख्या भी पचासों में है। उदाहरण के रूप में कुछ श्लोकों का टिप्पणी में विवरण दिया जाता है।[५४] अनुसन्धान करने पर और भी मिलेंगे।

५४-(अ) स्वायंभुव मनु के नाम वाले श्लोक —
महा. आदि. ७३ । ८-९, शान्ति. ३६ । ५-८, ३३५ । ४४-४६, अध्याय १२; १२१ । २६; १२१ । १०, १२ आदि।

(आ) मनु के नाम से उद्धृत मनुस्मृति के श्लोक —

महाभारत में	मनुस्मृति में
शान्ति. ५६ । २४.	९ । ३२१
आदि. ७३ । ९-१०,	३ । २१

(इ) मनु के नाम के बिना उद्धृत मनुस्मृति के श्लोक —

महाभारत में	मनुस्मृति में	महाभारत में	मनुस्मृति में
आदि. ७५ । ५०	२ । ९४	१०८ । १७-२०	२ । १४५-१४६
शान्ति. ३४ । २	११ । ४४	१२१ । ६०	८ । ३३५
,, ३५ । ४-५	११ । ७५-७६	१३० । १०	४ । २०
,, ३५ । ६	११ । ७९	१३० । २०	८ । ४४
,, ३५ । १६	११ । ९०	१३९ । २२	४ । १७२
,, ३६ । २७	४ । २१८	१४० । ७, ८, २४	७ । १०२-१०६
,, ३६ । ३५	३ । ११७	१६१ । ४	११ । २३७
,, ३६ । ४६	२ । १५७	१६५ । १-५, ६-२५	११ । १-४, ७, ११-४०
,, ३६ । ४७	२ । १५८	१६५ । ३१, ३२, ३७,	४ । २३८, २३९ ;
,, ७२ । ६	१ । ९९	४३-५३	११ । १८०, २०७, ९०,
७२ । १०	१ । १००		१०३, १०४, ७२, ७४, ७९ ;
,, ७२ । ११ (आधा)	१ । १०१	१६५ । ६५	८ । ३७२
,, ७५ । ७	८ । ३०५	१६५ । ७५-७६	११ । १४९, १५४
,, ८३ । ४९	७ । १०५	२४३ । ११-२१	४ । ३२ ; ३ । २८५ ;
,, ८७ । ९-१३	७ । १२०-१२३		४ । १७९-१८५ ;
,, ८७ । १४	७ । १२७	२४४ । १०-११	६ । २२-२३
,, [illegible]	[illegible]	२४४ । [illegible]	६ । ३[illegible]

इन सब प्रमाणों से वर्तमान मनुस्मृति की स्थिति महाभारत से पूर्व सिद्ध होती है। महाभारत के अन्तरंग प्रमाणों के आधार पर और भारतीय परम्परा से,महाभारत के युद्ध का काल पांच हजार वर्ष से पूर्व माना जाता है और महाभारत के रचयिता महर्षि व्यास को उस युद्ध का समकालीन माना जाता है। इस प्रकार मनुस्मृति का काल उससे भी पूर्व स्थिर होता है।

इतिहास के आधुनिक विद्वान् महाभारत का रचनाकाल और युद्ध काल भिन्न-भिन्न मानते हैं।उनके अनुसार महाभारत का रचनाकाल १००-५०० ई. सन् के मध्य है। एक नयी खोज के अनुसार यह काल १०० ई. पू. तक माना जाने लगा है।[६६]

२. वाल्मीकि-रामायण किष्कि. १८। ३०, ३२ में मनु के **नामोल्लेखपूर्वक** दो श्लोक **उद्धृत** पाये गये हैं — '**श्रूयते मनुना गीतौ श्लोकौ चरित्रवत्सलौ**' [वा. रामा. किष्कि. १८। ३०] यहां स्पष्टत: मनु द्वारा 'गाये'और'श्लोक' पद पठित हैं (क) बालि-सुग्रीव द्वन्द्व युद्ध में राम दूर खड़े होकर छुपकर बालि की हत्या कर देते हैं। मरणासन्न बालि, राम के इस कृत्य को अधर्मानुकूल बताता है। उसका उत्तर देते हुए राम, मनु के निम्न दो श्लोक उद्धृत करते हुए अपने कृत्य को धर्मानुकूल सिद्ध करते हैं। ये दोनों श्लोक वर्तमान मनुस्मृति में किंचित् पाठभेदपूर्वक ८। ३१६, ३१८ में पाये जाते हैं —

राजभिर्धृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवा:।
निर्मला: स्वर्गमायान्ति सन्त: सुकृतिनो यथा॥

,, ९० । १६	८ । १६	२४४ । १५	६ । ४-५
,, ९१ । ६	९ । ३०१	२६४ । ११-१३	४ । २२५-२२६
,, ९१ । २१	४ । १७२-१७३		
,१०८ । ५-९, १२	२ । २२९-२३४		

(ई) मनुस्मृति के भावों का यथावत् वर्णन करने वाले श्लोक —

महाभारत में	मनुस्मृति में	महाभारत में	मनुस्मृति में
शान्ति. ३६ । २०	१२ । ११०, ११२	शान्ति. २०१ । ३२-३३,	१२ । ८,
,, ३६ । २८,	४ । २१७, २२०	,, २४३ । २-४,	४ । ७-९,
,, ५६ । २४,	९ । ३१३,३१९	२४३ । ७-८,	४ । २९-३१,
,, ७२ । १२,	९ । ६९	२४४ । ८-९,	६ । १८,
,, ८७ । ३-५,	७ । ११४-११७	२४४ । १२-१५,	६ । १७,२०,२९,
,, ८७ । १८	७ । १२८	२४४ । २३-२४,	६ । ३८
,, ८८ । ४-५,	७ । १२९	२४४ । ४-५,	६ । ४३-४४
,, ९५ । १८	४ । १७२	२४४ । १७,	६ । ४०
,, १६५ । २४,	११ । २४	२४४ । ७,	६ । ४३-४४
१६५ । ५६-५९	११ । १२६-३१		
,, १६५ । ६६	८ । ३७१, ३७२		

श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने अपनी 'महाभारत मीमांसा' में शोधपूर्ण तथ्य प्रस्तुत करते हुए कहा है कि 'एक डायो क्राय सोस्टोम' नामक यूनानी लेखक ५० ई. में दक्षिण के पाण्ड्य देश में आया था। उसने अपने संस्मरण में लिखा है कि भारत में एक लाख श्लोकों का 'इलियड' [= ऐतिहासिक महाकाव्य] है। इसमें सन्देह नहीं कि इलियड से उसका अभिप्राय 'महाभारत' से ही है।'

शासनाद् वापि मोक्षाद् वा स्तेन : पापात् प्रमुच्यते ।।
राजान्वशासन् पापस्य तदवाप्नोति किल्विषम् ।।

(ख) इनके अतिरिक्त वा. रामा. अयो. १०७।१२ में एक और श्लोक मिलता है, जो मनु. ९।१३८ में प्राप्त है । चतुर्थ पाद में पाठभेद के अतिरिक्त यह ज्यों का त्यों है । वहां यह श्लोक मनु के नाम के बिना उद्धृत है —

पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् पितरं त्रायते सुत : ।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्त : पितृन् य : पाति सर्वत : ।।

भारतीय प्राचीन मान्यता के अनुसार, वाल्मीकि-रामायण राम की समकालीन है और राम का काल लाखों वर्ष पूर्व माना जाता है । पाश्चात्य एवं आधुनिक भारतीय विद्वान् रामायण का रचनाकाल ई. पू. तीसरी शताब्दी से छठी ईस्वी तक मानते हैं । हालांकि आजकल कुछ पाश्चात्य और उनके अनुयायी भारतीय लोगों ने यह एक नया विवाद उत्पन्न कर दिया है कि वाल्मीकि रामायण महाभारत से परवर्ती है । प्रसंगवश यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक समझता हूं कि ऐसे अनेक प्रमाण हैं, जिनके आधार पर महाभारत रामायण से परवर्ती रचना सिद्ध होती है । 'महाभारत रामायण से पूर्व की रचना है' यह मत कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने दिया है और उनके कुछ भारतीय अनुयायियों ने उनकी हां में हां मिला दी है । भाषा का आधार मानकर वे लोग ऐसा कहते हैं । लेकिन यह कोई अकाट्य आधार नहीं है, और न उनके पास इसकी सिद्धि के लिये ठोस प्रमाण हैं । यहां इस विषय को उठाना प्रासंगिक नहीं है, अत : दो चार प्रमाण देकर ही इस चर्चा को समाप्त किया जाता है । इस विवेचना में उसी पुरानी भारतीय मान्यता को स्वीकार किया गया है कि महाभारत वाल्मीकि से परवर्ती रचना है । वाल्मीकि-रामायण को महाभारत से पूर्व सिद्ध करने वाले प्रमाण हैं —(क) रामायण में महाभारत की घटनाओं या कौरवों, पाण्डवों का कहीं उल्लेख नहीं, जबकि महाभारत में वाल्मीकि, उसकी रामायण, राम सम्बन्धी घटनाओं तथा उसके पात्रों का उल्लेख है, (ख) महाभारत में अनेक स्थलों पर घटनावर्णन, उपमाएं, श्लोकार्ध रामायण से मिलते हैं (ग) निम्न दो श्लोक महाभारत में वाल्मीकि रामायण के प्राप्त होते हैं —

अ. ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा ।
निष्कृतिर्विहिता राजन् कृतघ्ने नास्ति निष्कृति : ।।
महा. शान्ति. १७२/२५ ।।

रामायण में यह किष्कि. ३४/१२ पर है । वहां 'ब्रहमघ्ने' के स्थान पर 'गोघ्ने' पाठभेद है । 'राजन' के स्थान पर 'सद्भि :' पाठ है । अन्य यथावत् है ।

आ. न हन्तव्या : स्त्रियश्चेति तद्ब्रवीषि प्लवंगम ।
पीडाकरममित्राणां यच्च कर्त्तव्यमेव तत् ।।
महा. ७/१४३/६६ ।। [वा. रामा. में युद्ध॰ ८१/२८ में]

३. मनुस्मृति में केवल वेदों [१।२१, २३; ३।२; ११।२६२-२६४; १२।१११-११२ आदि] और वेदांगों [२।१४०, २४१] का ही उल्लेख मिलता है । यह उल्लेख भी एक विद्या के रूप में है, न कि किसी व्यक्ति विशेष द्वारा रचित ग्रन्थ के रूप में । इसकी पुष्टि के लिए दो तर्क दिये जा सकते हैं —(क) इन विद्याओं के साथ न तो कहीं रचयिता का संकेत है और न ग्रन्थरूप का । (ख) १२।१११ में इन विद्याओं के ज्ञाताओं का 'हेतुक :' 'तर्की' 'नैरुक्त :' धर्मपाठक :' आदि विद्याविशेषणों से परिगणन किया है, न कि ग्रन्थज्ञाता के रूप में । एक-एक विद्या पर विभिन्न

आचार्यों के ग्रन्थ प्राप्त हो रहे हैं। किसी भी ग्रन्थ का उल्लेख न होना और अन्य ब्राह्मण, उपनिषद् आदि विधाओं का उल्लेख न मिलना यह सिद्ध करता है कि यह स्मृति इन सबसे पूर्व की रचना है। (मनुस्मृति में प्राप्त होने वाले अन्य विद्या-विषयों, व्यक्तियों के नामों एवं स्थानों के विषय में समाधान इसी अध्याय में आगे 'मनुस्मृति को अर्वाचीन मानने के कारण और उनका समाधान' शीर्षक में देखिये)।

४. मनुस्मृति का आधार केवल वेद ही है। मनु सीधे वेद से विज्ञात बातों को ही धर्मरूप में वर्णित करते हैं और उसी को आधार मानने का परामर्श देते हैं [१।४, २१, २३;२।१२८, १२९, १३०, १३२; १२।९२-९३, ९४, ९७, ९९, १००, १०६, ११०-११२, ११३ आदि]। वेद और मनुस्मृति के बीच अन्य किसी ग्रन्थ का उल्लेख न मिलना यह इंगित करता है कि यह मूलत: उस समय की रचना है जब धर्म में केवल वेदों को ही आधारभूत महत्त्व प्राप्त था, अन्य ग्रन्थों को इस योग्य प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं थी। यह समय अत्यन्त प्राचीन ही था।

५. विभिन्न स्मृतियों में तो मनु का उल्लेख भी है और प्रशंसा भी, अनेक सूत्रग्रन्थों में भी मनु के नाम का तथा उसके मत का उल्लेख प्राप्त होता है। इनमें आश्वलायन श्रौतसूत्र [९।७।२; १०।७।१], आपस्तम्ब श्रौतसूत्र [३।११७; ३।१०।३५], वासिष्ठ धर्मसूत्र [१।१७] आपस्तम्ब धर्मसूत्र [२।१४।११] बौधायन धर्मसूत्र [४।१।१४, ४।२।१६] गौतम धर्मसूत्र [२१।७], आदि उल्लेखनीय हैं।

६. अतिप्राचीन काल में इस सम्पूर्ण देश का नाम आर्यावर्त था। महाभारत के अनुसार दुश्यन्त-शकुन्तला के पुत्र भरत के नाम पर इसका नाम भारतवर्ष पड़ा [आदि. २।९५-९६; ७४।१३१] महाभारत में इस देश को भारतवर्ष ही कहा गया है।[६७] मनुस्मृति में आर्यावर्त नाम का उल्लेख इसे महाभारत आदि ग्रन्थों से पुरातन और प्रारंभिक काल का इंगित करता है।

७. रामायण काल में भी आर्यावर्त की वह मनुस्मृतिप्रोक्त स्थिति नहीं रह गयी थी, अत: रामायण मनुस्मृति से बाद की रचना है।

८. इसी प्रकार ब्रह्मावर्त प्रदेश और उसका मनुप्रोक्त महत्त्व प्रारम्भिक काल में था। रामायण, महाभारत तक इस प्रदेश का नाम बदल चुका था। इस ग्रन्थ में उसका उल्लेख न होना भी उन्हे मनुस्मृति के बाद की रचना सिद्ध करता है।

निष्कर्ष —

उपर्युक्त आधारों और युक्तियों पर विचार करने के उपरान्त जो निष्कर्ष निकलता है, वह यह है कि वर्तमान में प्रचलित यह छन्दोबद्ध मनुस्मृति भी अत्यन्त प्राचीन है। उपलब्ध लौकिक भाषा के ग्रन्थों से तो यह प्राचीन है ही, कुछ वैदिक ग्रन्थों से भी प्राचीन है।

आधुनिक मतों पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो उन पर 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' वाली कहावत चरितार्थ होती दिखायी पड़ती है। एक-एक बात को लेकर लगभग सभी प्रसिद्ध विद्वानों के अलग-अलग मत हैं। कहीं कोई एकरूपता नहीं। फिर इन मतों की स्थिरता का भी कोई भरोसा नहीं है। बहुत जल्दी-जल्दी ये बदलते जा रहे हैं। फिर भी, उनके आधार पर भी यह निष्कर्ष सामने आया है कि यह छन्दोबद्ध मनुस्मृति रामायण, महाभारत आदि से प्राचीन है।

स्मृतियों को प्राचीन मानने में आधुनिक विद्वानों को शायद इस कारण संकोच अनुभव होता है कि

---

६७. महा. भीष्म. अ. ९-१० तक।

है पाश्चात्य विद्वानों द्वारा पहले से ही निर्धारित की गयी धारणाओं को मानकर चलते हैं । पाश्चात्य विद्वानों और उनके समर्थक भारतीय विद्वानों ने कालनिर्धारण करने के लिए पहले से ही कुछ सीमा-रेखाएं और उनके पूर्वापर क्रम बना लिये हैं कि अमुक संहिता-काल है, अमुक सूत्रकाल, अमुक स्मृतिकाल है, आदि-आदि । लेकिन यह धारणा समीचीन प्रतीत नहीं होती । सूत्रकाल में छन्दोबद्ध रचनाएं भी हुई हैं और छन्दोबद्ध रचनाओं के साथ-साथ सूत्रग्रन्थों की रचनाएं भी । यह मानना भी ठीक नहीं है कि सूत्रग्रन्थ पूर्ववर्ती रचनाएं हैं और स्मृतियां उनके बाद की । इस बात को स्पष्ट और पुष्ट करने के लिए एक प्रमाण देना पर्याप्त रहेगा । आधुनिक इतिहासकार सूत्रग्रन्थों का काल ६०० से ५०० ई. पू. तक मानते हैं और सबसे प्राचीन स्मृतियां गौतम और वासिष्ठ स्मृतियों को मानते हैं। इनका काल ६०२ ई. पू. निर्धारित करते हैं । यही विद्वान् यास्ककृत निरुक्त का काल ८०० ई. पू. तक मानते हैं । निरुक्त ३ । ४ में जो दायभाग से सम्बन्धित मनु का मत दिया गया है, वह किसी प्राचीन स्मृतिग्रन्थ का वचन है और अनुष्टुप छन्द में है[८८] । इसका अभिप्राय यह हुआ कि उनके मतानुसार भी ८०० ई. पू. से पहले भी स्मृतिग्रन्थ थे । जब किसी अन्य स्मृतिकार ने मनु का मत अपनी स्मृति में श्लोकबद्ध किया है तो इसका मतलब है कि उस समय स्मृतियां श्लोकबद्ध रूप में थीं । काल की दृष्टि से प्राचीन होने के कारण मनु की स्मृति पहले ही श्लोकबद्ध हो चुकी होगी, इस संभावना को नकारा नहीं जा सकता । इस प्रकार छन्दोबद्ध मनुस्मृति के प्राचीन होने की पुष्टि हो जाती है ।

यहां कुछ लोगों को यह शंका उत्पन्न होगी कि 'रामायण को आदिकाव्य माना जाता है और वाल्मीकि को आदिकवि । उन्हीं के मुख से प्रथम छन्द का उद्भव हुआ था'। यह कथन पूर्णतः अनुचितयुक्त है । ऐसा सोचना इस कारण भी गलत है कि उससे पूर्व वेदों, संहिताओं में, रामायण में प्रयुक्त अनुष्टुप छन्द के अनेक उदाहरण पहले से ही उपलब्ध हैं[८९] । रामायण को आदिकाव्य कहने से अभिप्राय केवल यही है कि काव्यात्मक शैली में, लौकिक साहित्य में वह प्रथम रसमय काव्य है । रामायण की प्रारम्भिक भूमिका में 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वम् . . .' [बाल. २ । १५] के प्रसंग में यह भाव नहीं है कि वाल्मीकि यह सोचने लगे कि मेरे मुख से निकला यह वाक्य गद्य-रूप है अथवा श्लोकरूप, अपितु वहां भाव यह है कि 'मैंने भावावेश में यह दुर्भावना-युक्त तथा अपवाक्य और क्यों कह डाला ।' टीकाकारों ने इस प्रसंग की गलत व्याख्या करके उस रूप में प्रस्तुत किया है ।

इस प्रसंग में ब्रह्मा के अवतरण की पौराणिक काल्पनिक कथा ने इस व्याख्या को यह दिशा दी है । यह कथा उस प्रसंग में प्रक्षिप्त सिद्ध होती है । और रामायण में उद्धृत मनुस्मृति के श्लोकों को देखकर स्वतः ही यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुस्मृति रामायण से भी प्राचीन है ।

---

८८. अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः ।
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ॥ ३।४ ॥

८९. लोकप्रचलित अनुष्टुप छन्द का लक्षण है — 'पंचमं लघु सर्वत्र, सप्तमं द्विचतुर्थयोः । षष्ठं गुरु विजानीयात् एतदनुष्टुप लक्षणम्' । इस लक्षण के आधार पर वेद का श्लोक देखिए —
(क) यजु ४० — यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥ यजु. ४०।६ ।

५. मनुस्मृति को अर्वाचीन मानने के कारण और उनका समाधान —

इस विश्लेषण के बाद यह प्रश्न उठता है कि जब मनुस्मृति को प्राचीन सिद्ध करने के इतने आधार उपलब्ध हैं, तो फिर किस कारण से उसे अर्वाचीन माना जा रहा है ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि इसके जिम्मेदार आलोचक उतने नहीं हैं जितने कि मनुस्मृति में प्राप्त होने वाले अर्वाचीनसाधक संकेत हैं । यहाँ उन्हीं कारणों पर प्रकाश डालते हुए उनका समाधान प्रस्तुत किया जा रहा है । मनुस्मृति में निम्न वर्णन इसको प्राचीन मानने में बाधा पहुंचाते हैं —

१. **परवर्ती राजाओं के नाम** —मनुस्मृति में मनु से परवर्ती अनेक राजाओं के नाम उदाहरण के रूप में पाये जाते हैं, यथा — वेन, नहुष, पिजवनपुत्र सुदास, सुमुख, नेमि [७/४१] । मनु, पृथु, कुबेर, विश्वामित्र [७/४२] । सुदास [८/११०] । पृथु [९/४४] वेन [९/६६] । विश्वामित्र और चण्डाल कथा [१०/१०८] ।

२. **परवर्ती स्मृतिकारों या ऋषियों के नाम** — मनुस्मृति में प्रसंगानुसार अनेक स्मृतिकारों और ऋषियों के मतों का उल्लेख है, या धर्मसिद्धि में उनके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, यथा — अत्रि, उतथ्यपुत्र गौतम, शौनक, भृगु [३/१६] । वसिष्ठ [८/११०;८/१४०] । वत्स [८/११६] । वसिष्ठ —अक्षमाला सारंगी —मन्दपाल [९/२४] । दक्षप्रजापति द्वारा कश्यप, धर्मराज, सोम राजाओं को कन्यादान [९/१२८-१२९] । अजीगर्त —शुनःशेप [१०/१०५] । वामदेव [१०/१०६] । भरद्वाज-वृधु बढ़ई [१०/१०७] ।

३. **परवर्ती स्थानों के नाम** — कुछ ऐसे स्थानों का नाम मनुस्मृति में पाया जाता है जो, ऐतिहासिक दृष्टि से बाद में स्थापित हुए हैं, यथा —कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल, शूरसेनक प्रदेशों वाला ब्रह्मर्षि देश [१/१३८ (२/१९)] । इन्ही देशों के वीरों का युद्ध में स्थाननिर्धारण [७/१९३] ।

४. **अर्वाचीन पौराणिक मान्यताओं का वर्णन** — कुछ ऐसी मान्यताएं भी मनुस्मृति में पायी जाती हैं, जो बहुत आधुनिक हैं, यथा —क. गंगा और कुरुक्षेत्र में पापनिवृत्ति के लिए जाना [८/९२] ख आठ और बारह वर्ष की कन्या का विवाह [९/९४] ।

इन वर्णनों या उल्लेखों के समाधान के प्रसंग में कुछ बातें ऐसी हैं, जो सामान्यरूप से सबके साथ लागू होती हैं — (क) इस प्रकार के सभी परवर्ती वर्णन समय-समय पर किये जाने वाले परिवर्तनों, परिवर्धनों और मान्यताओं को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने की प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप किये गये प्रक्षेप हैं अपने-अपने प्रसंगों में वे स्थल स्पष्टतः बाद में किये गये प्रक्षेप सिद्ध होते हैं । कहीं इनका प्रसंग से तालमेल नहीं है, तो कहीं मनु का अन्यत्र वर्णित मान्यता से विरोध है । इस प्रकार इन्हें काल निर्धारण में आधार नहीं माना जा सकता । पीछे कई स्थानों पर विस्तार से स्पष्ट किया गया है कि मनुस्मृति मूलतः मनु के प्रवचन हैं, और बाद में इन्हें संकलित किया गया है । सही संकलन वही माना जायेगा जो वक्ता के ही भावों को प्रदर्शित करे । इस प्रकार शैली से यह बात स्पष्ट होती है कि मनु के प्रवचनों में मनु से परवर्ती व्यक्तियों का (समकालीन पीढ़ियों को छोड़कर) उल्लेख संभव नहीं । फिर भी मिलता है तो इसका अभिप्राय है कि ये स्थल बाद में किसी ने मिलाये हैं । (ग) इन वर्णनों के आधार पर यह नहीं माना चाहिये कि यह परवर्ती काल में किया गया संकलन है या पुनःसंस्करण है, अपितु मौलिक रूप को आद्यरूप मानते हुए इन्हें परवर्ती प्रक्षेप मानना चाहिये । (घ) उपर्युक्त स्थल अन्य मानदण्डों के आधार पर भी प्रक्षिप्त सिद्ध हुए हैं । इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन भाष्य में यथास्थान द्रष्टव्य ।

है । यहाँ इनकी प्रक्षिप्तता को सिद्ध करने वाले कालक्रम संबन्धी तथ्यों को संक्षेप से प्रस्तुत किया जाता है —

१. प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त वंशावलियों के अनुसार मनु या स्वायंभुव मनु का ब्रह्मा के बाद की पीढ़ी में उसके पुत्र या शिष्य के रूप में वर्णन आता है । इस को सृष्टि में सर्वप्रथम राजा माना गया है । इस प्रकार अन्य सभी राजा और ऋषि स्वत: मनु से परवर्ती सिद्ध होते हैं । कुछ राजाओं और ऋषियों की वंशावली अत्यन्त स्पष्ट उपलब्ध है । उससे यह कथन और अधिक पुष्ट हो जाता है । इन राजाओं में नहुष, नेमि या निमि, मनु और पृथु राजा, स्वायंभुव मनु के वंशज वैवस्वत मनु के सूर्यवंश में उत्पन्न होने वाले अन्य राजा हैं । मनु विवस्वान् का, पृथु अनरण्य का, नहुष अम्बरीष का, निमि इक्ष्वाकु का पुत्र था ।[७०] कुबेर रावण का भाई था ।[७१] विश्वामित्र गाधि राजा का पुत्र था ।[७२] वेन अंगवंश का उद्दण्ड राजा हुआ है, जो कर्दमपुत्र अनग का पुत्र था ।[७३] पिजवनपुत्र सुदास उत्तरपांचाल का राजा था, जो राम से भी कई पीढ़ी पश्चात्वर्ती है ।[७४]सुमुख का निश्चित विवरण अज्ञात है । इस प्रकार ये मनु से बहुत पीढ़ी पीछे हुए हैं ।

२. ऋषियों के नाम, विद्यावंश के आधार पर, अनेक कालों में उसी एक-एक नाम से मिलते हैं, अत: यह कहना कठिन है कि इन प्रसंगों में गृहीत वसिष्ठ, भरद्वाज, वामदेव आदि कौन से काल के ऋषि अभिप्रेत हैं, किन्तु फिर भी इस नाम से सर्वप्रथम पाये जाने व्यक्ति भी मनु से परवर्ती हैं । वसिष्ठ, भृगु, अत्रि, मनु के ही पुत्र होने से परवर्ती हैं ।[७५] अजीगर्त भृगुकुल में उत्पन्न ब्राह्मण है और उसी का पुत्र शुन:शेप है । यह राजा हरिश्चन्द्र के समय का है ।[७६] कश्यप, मरीचि के पुत्र थे ।[७७] ये मनु की तीसरी पीढ़ी में हैं ।

इनके अतिरिक्त ८।१४० में वर्णित वसिष्ठ शब्द व्यक्ति-वाचक न होकर 'अर्थशास्त्र के ज्ञाता विद्वान' अर्थ में प्रयुक्त पद है । 'यो वसति धनादि कर्मसु सोऽतिशयस्तम् उत्तमं विद्वांसम्' निरुक्ति के अनुसार वहां उपर्युक्त अर्थ समीचीन है । इस अर्थ की पुष्टि ८।१५७, ३९८ श्लोकों के वर्णन से भी हो जाती है । १।२३ में वर्णित अग्नि, वायु, रवि और ३।१५१-१५३ में वर्णित आंगिरस ऋषि मनु से प्राचीन होने के कारण उल्लेख्य हैं ।

३. कुरुक्षेत्र आदि स्थानों का नामकरण तो मनु से बहुत अधिक परवर्ती है । यह नामकरण महाभारतकालीन है और कौरवों के पूर्वज राजा कुरु के नाम पर प्रचलित वंश के आधार पर रखा हुआ है । कुरु राजा, वैवस्वत मनु की पुत्री इला के वंश में अनेक पीढ़ियों के बाद हुआ है ।[७८] इसी प्रकार अन्य प्रदेशों का नामकरण भी परवर्ती है । इस प्रकार मनु के प्रवचनों में अत्यधिक परवर्ती स्थानों का उल्लेख संभव नहीं हो सकता । उक्त दोनों श्लोक मनुस्मृति में प्रसंगविरुद्ध भी हैं ।

४. इसी तथ्य के आधार पर 'कुरुक्षेत्र जाने की' मान्यता के वर्णन का समाधान भी हो जाता है । जब मनु के समय कुरुक्षेत्र नहीं था, तो वहाँ जाने का वर्णन करना संभव ही नहीं । अत: यह भी

---

७०. वाल्मीकि रामायण बाल. ७०।२०, २४, ४२; ७१।३ ।।
७१. वही, बाल. २०।१८ ।
७२. वही, बाल. ३४।६ ।।
७३. महाभारत अ. ५९।९६-९९ ।।
७४. प्राचीन च. को. पृ. १०५६ ।।
७५. मनु. १।३५ ।।
७६. ऐत. ब्रा. ७।१३-१७ ।।
७७. वाल्मीकि रामा. ७१।१९-२० ।।
७८. महाभारत आ. [illegible] ।।

परवर्ती प्रक्षेप है । ९।९४ में बाल विवाहों का वर्णन मनु की पूर्व वर्णित मान्यताओं के विरुद्ध है । अधिक जानकारी के लिए भाष्य में उक्त श्लोक तथा ३।४ श्लोक पर विस्तृत समीक्षा द्रष्टव्य है । यह श्लोक प्रसंगविरुद्ध भी है । यही स्थिति अन्य अर्वाचीन वर्णनों की समझनी चाहिये ।

५. मनुस्मृति में विभिन्न जातियों के नाम —कुछ लोगों का कथन है कि मनुस्मृति में यवन, वाल्हीक, कम्बोज, चीन आदि जातियों का उल्लेख है । यवन, कम्बोज, गान्धार लोगों का विवरण प्रियदर्शी अशोक के पाचवें शिलालेख में भी आता है, अत: मनु तीसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व हो सकते हैं ।

मनुस्मृति में इन जातियों का उल्लेख १०।४३-४४ में आता है । दशम अध्याय का वर्णसंकरों का सम्पूर्ण प्रसंग परवर्ती प्रक्षेप है । यह मनु की पूर्ववर्णित मान्यता के विरुद्ध है । मनु ने चार वर्णों की व्यवस्था दी है, और स्पष्ट शब्दों कहा है कि पाचवां कोई वर्ण नहीं है [१।३१, ८७-९१; १०।४ ।।] । वे इन्हीं वर्णों के धर्मों का विधान कर रहे हैं [१।२] । इस प्रकार इन जातियों के उल्लेख का मनुस्मृति में कोई प्रसंग ही उपस्थित नहीं होता । जब मनु के समय में और उनके मतानुसार चार वर्णों को छोड़कर कोई जाति-उपजाति नहीं है, तो उस काल में इन जातियों के अस्तित्व का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता । उपर्युक्त दोनों श्लोकों में तो इन जातियों के शूद्र होने के कारण बताये हैं और भूतकाल का वर्णन है । इस वर्णन पद्धति से ही स्पष्ट है कि यह चतुर्वर्णव्यवस्था के लागू होने और फिर उसमें विकार आने के बाद की स्थिति का वर्णन है । इस प्रकार ये श्लोक मनुकालीन ही नहीं हैं ।

६. मनुस्मृति में इतरधर्मस्मृतियों का उल्लेख —

कुछ लोग १२।९५ श्लोक के '**या वेदबाह्या: स्मृतय:**' पदों से अन्य स्मृतियों का अनुमान करते हुए यह कल्पना करते हैं कि मनु का यह संकेत उस समय की बौद्ध, जैन स्मृतियों की ओर है ।

ऐसा सोचने वाले की यह कल्पना पूर्णत: निराधार है । यहां मनु का केवल इतना ही अभिप्राय है कि जो वेदानुकूल नहीं है, वह मान्य नहीं, चाहे वह किसी की रचना हो । क्योंकि, उन्होंने अपनी स्मृति को वेदानुकूल घोषित किया है और वेदों को ही धर्म का मूल स्रोत और परमप्रमाण माना है [२।६, ८, ९, १०, ११, १२, १३ आदि] । १२।९६ के '**उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च**' आदि वचनों से स्पष्ट है कि मनु वेदविरुद्ध विचार रखने वालों के लिए यह एक शाश्वत कथन कर रहे हैं । यदि बौद्ध, जैन आदि का उस समय अस्तित्व होता तो उन्हें उनका नामोल्लेख करने में क्या संकोच था ? जब इस तरह का कहीं कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है तो निराधार कल्पना करने से कोई लाभ नहीं, भ्रान्ति ही पैदा होगी ।

७. मनुस्मृति और उसकी भाषा —

यह कहा जाता है कि मनुस्मृति की भाषा बड़ी सहज, सरल लौकिक भाषा है । वह पाणिनि के व्याकरण का अनुगमन करती है । अत: वर्तमान मनुस्मृति पर्याप्त अर्वाचीन है ।

यह ठीक है कि मनुस्मृति की भाषा सहज और सरल लौकिक भाषा है । लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि इस कारण इसको अर्वाचीन भाषा कहा जाये । मनुस्मृति एक धर्मशास्त्र है, जिसका सम्बन्ध सर्वमान्य रूप से सभी जनों से है । इसमें लोगों के आचार-विचार से सम्बन्धित निर्देश हैं । अत: ऐसे ग्रन्थ की भाषा का सहज, सरल होना स्वाभाविक भी है, और आवश्यक भी । प्राचीन काल

में साहित्यिक भाषा के रूप में वैदिक भाषा का प्रयोग था तो व्यवहार में लौकिक संस्कृत का प्रयोग था।

मनुस्मृति में कुछ पूर्वपाणिनीय प्रयोग भी मिलते हैं। इसमें पाये जाने वाले वैदिक प्रयोग और वैदिक प्रयोगशैली, इसे मूलतः पाणिनि-पूर्व एवं वैदिककालीन संकलन सिद्ध करते हैं। यथा — (क) 'मेत्युक्त्वा' [८।५७['मे + इत्युक्त्वा' सन्धि पाणिनीय नहीं है। इसमें इकार का पूर्वरूप छान्दस है। (ख) 'हापयति' [३।७१] का 'छोड़ता है' अर्थ है। यहां प्रेरणार्थक न होकर प्रकृत्यर्थ (मूल अर्थ) में 'णिच्' छान्दस है। (ग) २।१६९-१७१ श्लोकों में 'मौञ्जीबन्धन' और 'मौञ्जिबन्धन' पदों के प्रयोग में विकल्प से ह्रस्व छान्दस प्रयोग है। (घ) 'उपनयनम्' के अर्थ में 'उपनायनम्' प्रयोग [२।३६] पूर्व पाणिनीय है। यहां दीर्घ को, पाणिनि ने व्याकरणसम्मत न होते हुए भी शिष्टप्रयोग मानकर 'अन्येषामपि दृश्यते' [अ. ६।३।१३७] सूत्र में स्वीकार कर लिया है। (ङ) १।२० में 'आद्याद्यस्य' प्रयोग है। यह 'आद्यस्य-आद्यस्य' होना चाहिये था किन्तु पहले 'आद्यस्य' का सुपलुक् छान्दस प्रयोग के कारण माना गया है ('सुपां सुलुक् . . .' अ. ७।१।३९)। (च) वैदिक भाषा की प्रयोग शैली — 'आ हैव स नखाग्रेभ्यः [२।१६८], 'पुत्रका इति होवाच' [२।१५१] आदि।

इसकी भाषा के विषय में एक संभावना यह भी दिखायी पड़ती है कि पहले इसमें वैदिक प्रयोगों की अधिकता थी, जो धीरे-धीरे बदली जाती रही। क्योंकि यह सर्वसामान्य जनों से सम्बन्ध रखने वाला ग्रन्थ था, अतः इसकी भाषा में भी समयानुसार परिवर्तन होता रहा। ऐसे उदाहरण हमारे सामने विद्यमान हैं, जिनसे यह संभावना पुष्ट होती है। वाल्मीकि-रामायण के दाक्षिणात्य, गौडीय और उत्तरपश्चिमोत्तरीय, ये तीन संस्करण प्रसिद्ध हैं एवं प्रचलित हैं। इनमें दाक्षिणात्य पाठ में अभी भी वैदिक प्रयोगों का बाहुल्य है, जबकि अन्य संस्करणों में अधिकांश को बदलकर लौकिक कर दिया गया है। यही स्थिति मनुस्मृति के साथ भी संभव है। ऐसा इसलिए भी संभव प्रतीत होता है कि कालक्रम की दृष्टि से मनु सब ऋषियों से प्राचीन हैं और उनकी स्मृति सर्वाधिक प्रसिद्ध रही है। फिर उनकी स्मृति का संकलन पर्याप्त अर्वाचीन समय में हुआ हो, यह बात बुद्धिसम्मत नहीं लगती। कुछ आधुनिक विद्वानों की यह मान्यता और भी विचित्र लगती है कि 'मनु से उत्तरवर्ती वसिष्ठ, गौतम आदि ऋषियों की स्मृतियां मनुस्मृति से प्राचीन हैं, उनका संकलन पहले हो चुका था, आदि। यदि भाषा की दृष्टि से इन स्मृतियों में कुछ पूर्वापर क्रम अनुभव भी होता है तो उसका कारण उनकी प्राचीनता और मनुस्मृति की नवीनता नहीं, अपितु मनुस्मृति के बहुप्रचलित और सामान्यजनों के व्यवहारोपयोगी होने के कारण समय-समय पर उसकी भाषा में और प्रयोगों में किया गया परिवर्तन है। अन्य स्मृतियों में, उनकी अप्रसिद्धि और अल्पप्रचलन के कारण ऐसा कम ही पाया है।

६ मनुस्मृति का आद्यरूप

मनुस्मृति का आद्यरूप क्या रहा होगा ? इस प्रश्न पर विचार करते हुए विचारकों ने कई मत प्रस्तुत किये हैं । कोई इसका आदिरूप गद्यबद्ध मानते हैं, कोई सूत्रबद्ध, तो कोई पद्यबद्ध मानते हैं । मेरा विचार है कि इसकी शैली से इस प्रश्न का जो समाधान मिलता है, वह अधिक संतोषजनक एवं प्रामाणिक है । मनुस्मृति की शैली पर इस अध्याय के मध्य में (मनुस्मृति का रचयिता कौन है, इस प्रश्न के उत्तर में) पर्याप्त विस्तार से सप्रमाण प्रकाश डाला जा चुका है । उस निष्कर्ष के अनुसार मनुस्मृति, मूलतः मनु के प्रवचन हैं, जिन्हें बाद में संकलित किया गया है । आदि से अन्त तक मनुस्मृति की प्रवचनशैली और संकलित रूप है । निरुक्त के प्रमाण से इस विचार को पुष्टि मिलती है,जिसमें यह कहा गया है कि प्राचीन काल में उपदेशों-प्रवचनों से ही शिक्षा दी जाती थी, लिपिबद्ध ग्रन्थों को पढ़ाकर नहीं । जब लोग उपदेशों से प्रमाद करने लगे तो ग्रन्थों का निर्माण हुआ और उनके माध्यम से शिक्षा दी जाने लगी ।[७८]

१. प्रवचन गद्यरूप में ही होते हैं । अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मनुस्मृति का आद्यरूप गद्यरूप था । गद्यरूप से इसे पद्यबद्ध किया गया ।

इसकी पुष्टि के लिए शैली के अतिरिक्त मनुस्मृति के अन्य दो अन्तरंग प्रमाण भी मिलते हैं, जिनसे यह ज्ञात होता है कि यथावत् रखने में कुछ कठिनाई आयी तो उस क्रम को बदल दिया गया अथवा क्रम बदल गया । यदि मूलरूप पद्यबद्ध होता तो जिस क्रम से विषयों का परिगणन किया गया है, उसी क्रम में उनकी व्याख्या होती । यथा — (क) ८।६ में अठारह मुकद्दमों का परिगणन करते हुए '**पारुष्ये दण्डवाचिके**' पदप्रयोग करते हुए 'दण्ड की कठोरता' और 'वाणी की कठोरता' इस क्रम से इन अभियोगों का वर्णन है । किन्तु इनकी विस्तृत व्याख्या में पहले '**वाक्पारुष्य**' का वर्णन है [८।२६६–२७७], फिर '**दण्डपारुष्य**' का [८।२७८–३००] । इस प्रकार क्रम बदल गया । शायद यह क्रम छन्द-आग्रह के कारण बदलना पड़ा ।

यद्यपि टीकाकारों ने इसका व्याकरणसम्मत समाधान प्रस्तुत किया है कि '**अल्पाच्तरं पूर्वम्**' [अ. २।२।३४] के नियमानुसार 'अल्पाच्' होने के कारण छन्द में दण्ड का परिगणन पहले किया है । इसे मानने में कोई आपत्ति भी नहीं है । किन्तु जहां इनका व्याख्याक्रम एक निर्धारित श्रृंखला में है, तो उस क्रम को तोड़कर 'अल्पाच्' को महत्त्व देने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता । स्वतन्त्र परिगणन में ही यह नियम समीचीन कहलायेगा । ऐसा लगता है कि यदि इस नियम के बिना उपयुक्त क्रम में '**वाग्दाण्डिके**' प्रयोग द्वारा इन्हें रखा जाता तो छन्दोभंग अवश्य होता । शायद इसी विवशता के कारण उसका क्रम बदलकर 'दण्डवाचिके' प्रयोग करना पड़ा ।

(ख) १२।८३ में छह निःश्रेयसकर कर्मों का परिगणन इस क्रम से है — **वेदाभ्यास**, **तप ज्ञान**, **इन्द्रियसंयम**, **धर्मक्रिया** और **आत्मचिन्ता** । किन्तु इनकी व्याख्या का क्रम इस प्रकार है —**आत्मज्ञान** [१२।८५-९२] **शम** = इन्द्रियसंयम [१२।९२], **वेदाभ्यास** १२।९२-१०२], **तप और ज्ञान** = विद्या [१२।१०४] **धर्म** [१२।१०५-११५] । लगता है, इनकी व्याख्या का क्रम गद्यरूप में इसी क्रम से था, किन्तु छन्दोबद्ध करते समय परिगणन

७८. निरु. १।१९ ।। 'मनुस्मृति का मूल प्रवक्ता' शीर्षकान्तर्गत पृ० ३३ ।

वाले श्लोकों में इसी क्रम से छन्दरचना न बन पाने के कारण यह क्रम बदलना पड़ा ।

२. मनुस्मृति का आद्यरूप सूत्रबद्ध नहीं था । सूत्रबद्ध होने की पुष्टि न तो इसकी शैली से होती है, और न मनु के उद्धरण ही कहीं सूत्ररूप में प्राप्त होते हैं । यह भी कि सूत्रग्रन्थों के साथ प्रायः 'सूत्र' पद जुड़ा होता है । प्राचीन ग्रन्थों से लेकर अब तक उनमें मनु के शास्त्र का 'मानवधर्मशास्त्र' या 'मनुस्मृति' के नाम से उल्लेख मिलता है, न कि 'मानवधर्मसूत्र' नाम से ।

३. 'मानवधर्मसूत्र' नामक ग्रन्थ को कुछ लोग मनुरचित मानते हैं, लेकिन मनुस्मृति से उसका पूर्ण साम्य नहीं है । उस सूत्रग्रन्थ को किसी बहुत बाद के व्यक्ति ने मनु के नाम से रचा है, और उसमें भी अपने विचारों का मिश्रण करके । यह सूत्ररूप आद्यरूप नहीं है । यह तो पद्यरूप को देखकर रचा गया है, अथवा आद्य गद्यरूप को देखकर ।

४. ग्रन्थों की सूत्रशैली अधिक प्राचीन नहीं है, अपितु गद्य और पद्यरूप ही अधिक प्राचीन है । सूत्रों से प्राचीन ग्रन्थ गद्यरूप में उपलब्ध होते हैं, जैसे — ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद आदि । वर्तमान महाभारत कईस्थलों पर गद्यरूप में है । अन्य अर्वाचीन ग्रन्थ कौटिलीय अर्थशास्त्र, नारदगद्यस्मृति आदि गद्यरूप में ही हैं । अतः मनुस्मृति का प्रारम्भिक रूप गद्यरूप होना, माना जा सकता है ।

५. ऐसी परम्परा प्रत्येक काल में रही है कि महापुरुषों ने प्रवचन या उपदेश दिये हैं और उनके शिष्यों ने उनका संकलन करके गद्य या पद्य का रूप दिया है । प्रायः सभी धर्मों के ग्रन्थ उनके मान्य पुरुषों के उपदेश हैं, जिन्हें बाद में संकलित किया गया है । महात्मा बुद्ध ने उपदेश दिये थे, लेकिन उनका संकलन 'धम्मपद' के नाम से पद्यरूप में हैं । कहा जाता है कि यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू के नाम से मिलने वाले ग्रन्थ उनके शिष्यों द्वारा संकलित हैं । महर्षि दयानन्द के नाम से मिलने वाली 'उपदेश मञ्जरी' या 'पूना प्रवचन' नामक पुस्तक मूलतः उनके उपदेश हैं, जो अन्य व्यक्ति द्वारा संगृहीत और सम्पादित हैं । इसी प्रकार मनुस्मृति का संकलन हुआ है ।

६. सुनिश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि मनु के गद्यरूप प्रवचन, पद्यरूप में कब आये । मनुस्मृति में भृगु का नाम बार-बार आता है। हो सकता है, मनु के शिष्य भृगु ने ही इन्हें पद्यबद्ध किया हो और यह भी सम्भव है कि संकलन के अनन्तर स्मृति-सुविधा के लिए मनु के आदिशिष्यों ने इन्हें पद्यबद्ध किया हो। यह पद्यरूप भी काफी प्राचीन है। मनु के नाम से बहुत पहले ही यह रूप प्रसिद्ध हो चुका था। क्योंकि रामायण, महाभारत में मनु के द्वारा ही 'श्लोक गाये जाने' का कथन है। इसका अभिप्राय यह है कि इन ग्रन्थों के रचनाकाल के पूर्व इन श्लोकों की मनु के नाम से प्रसिद्धि हो चुकी थी।

७. नारद स्मृति की भूमिका में आता है कि मनु ने एक धर्मशास्त्र बनाया था, जिसमें एक लाख श्लोक थे । १०८० अध्याय और २४ प्रकरण थे । नारद ने इसका १२००० श्लोकों में संक्षेप करके इसे मार्कण्डेय को पढ़ाया । मार्कण्डेय ने इसका संक्षेप ८००० श्लोकों में कर दिया । फिर सुमति भार्गव ने इसे ४००० श्लोकों में संक्षिप्त कर दिया । नारदस्मृति का यह अवतरण ग्रन्थ की महत्त्ववर्धन के लिए ही है । इस प्रकार संक्षेप किया जाना मौलिकता के अनुरूप नहीं है । न ऐसी कोई प्रामाणिक शास्त्रीय परम्परा ही है ।

क. 'श्रूयते मनुना गीतौ श्लोकौ चरित्रवत्सलौ ।'' वा. रामा. ४।१८।३० ॥
ख. 'मनुना चैव राजेन्द्र गीतौ श्लोकौ महात्मना ।'' महा. शा. ५६।२४ ॥

द्वितीय अध्याय

[मनुस्मृति और प्रक्षेप – प्रक्षेपों के अनुसन्धान की आवश्यकता, प्रक्षेप-लक्षण, प्रक्षेप कैसे हैं ?, निहित प्रवृत्तियां, मानदण्ड और प्रक्षेपों से हानि]

१. मनुस्मृति के प्रक्षेपों के अनुसन्धान की आवश्यकता एवं उपयोगिता

मनुस्मृति के स्वरूप को प्रक्षेपों से विकृत देखते हुए यह आवश्यक हो जाता है कि इसके प्रक्षेपों का अनुसंधान किया जाये। प्रक्षेपों के अनुसन्धान और उनके पृथक्करण से ही मनुस्मृति का वास्तविक श्रेष्ठरूप प्रकाश में आयेगा। यह अनेक प्रकार से उपयोगी सिद्ध होगा — इस अनुसन्धान से जहां एक ओर साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कार्य यह होगा कि भारतीय साहित्य का एक प्रमुख ग्रन्थ प्रामाणिक रूप में उपलब्ध होगा, वहां आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नति चाहने वाले या अपने जीवन को सन्मार्ग पर ले चलने वाले व्यक्तियों के लिए भी यह भ्रान्तिरहित रूप में पथ-प्रदर्शन करने वाला सिद्ध होगा। सांस्कृतिक दृष्टि से — मनुकालीन भारतीय समाज और संस्कृति की सही झांकियों को प्रस्तुत करेगा और वर्तमान समाज को अच्छी मर्यादाओं तथा व्यवस्थाओं का दिग्दर्शन करायेगा। सबसे अधिक लाभ ऐतिहासिक दृष्टि से यह होगा कि प्रक्षिप्तांशों से दूषित मनुस्मृति को आधार बनाकर इतिहासकारों ने प्राचीन काल का जो इतिहास लिखा है, जिसमें मांसभक्षण, पशुयज्ञ, जाति-पांति, छुआ-छूत, ऊंच-नीच जैसी घिनौनी बातें हैं; उस इतिहास का शुद्ध, उज्ज्वल और वास्तविक स्वरूप हमारे सामने आयेगा। इस प्रकार मनुस्मृति पर अनुसन्धान कार्य होने से आध्यात्मिक व्यक्तियों के लिए; भारतीय समाज, संस्कृति, साहित्य और इतिहास के लिए, बहुत बड़ा योगदान होगा। प्राचीन साहित्य, जो कि भारत की एक अमूल्य और गौरवपूर्ण निधि है; उसके एक विशिष्ट ग्रन्थ का उचित मूल्यांकन हो सकेगा।

और, मनुस्मृति से सम्बन्धित आन्तरिक समस्याओं, जैसे — रचयिता, रचनाकाल, मौलिक मान्यताएं, आदि को सुलझाने में भी न्यूनाधिक रूप में सहयोग अवश्य प्राप्त हो सकेगा।

२. प्रक्षेप से अभिप्राय

प्रक्षेप का अर्थ है — 'बीच में की गई मिलावट'। किसी व्यक्ति द्वारा लिखे गये मूल ग्रन्थ में अन्य द्वारा मिलाये गये विचारों को 'प्रक्षेप' या 'क्षेपक' कहा जाता है। मनुस्मृति में वे श्लोक जो मनु से भिन्न व्यक्तियों ने रचकर मिला दिए हैं, उनको 'प्रक्षिप्त' माना गया है। यह आवश्यक नहीं कि प्रक्षेप 'विरोधी विचारों' से युक्त अथवा बुरा ही हो, वह ग्रन्थकार के समर्थक विचारों वाला और अच्छे विचारों का भी हो

३. क्या मनुस्मृति में प्रक्षेप नहीं हैं ?

कुछ व्यक्ति मनुस्मृति में प्रक्षेप नहीं मानते । उनका विचार है कि मनुस्मृति का यह उपलब्ध स्वरूप वास्तविक है । किन्तु उनका यह विचार पूर्णत: भ्रान्तिपूर्ण है । उपलब्ध मनुस्मृति को देखकर यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि इसमें प्रक्षेपों की भरमार है और ये प्रक्षेप एक साथ न होकर समय-समय पर हुए हैं । इसकी सिद्धि के लिए निम्न युक्तियां प्रस्तुत की जा सकती हैं —

(१) उपलब्ध मनुस्मृति में विषय-विरुद्ध, परस्परविरुद्ध, प्रसंगविरुद्ध तथा अनेक पुनरुक्तियां पायी जाती हैं । आश्चर्य की बात तो यह है कि कहीं-कहीं तो त्रिकोणात्मक 'परस्पर विरोध' भी है ; या पहले श्लोक में जो विधान है, उससे अगले ही श्लोक में उसका विरोध है । इस विडम्बनापूर्ण स्थिति को देखकर भी यह कहना कि मनुस्मृति में प्रक्षेप नहीं हैं, दुस्साहस और मिथ्या-आग्रह ही कहलायेगा । एक मध्यमस्तरीय लेखक की रचना में भी ये त्रुटियां नहीं होतीं । उसके लेखन में वैचारिक ऐकमत्य, विषय और प्रसंग की सुसंगति, अविरोध तथा स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है । फिर मनुसदृश तत्त्वद्रष्टा विद्वान् की रचना में इस प्रकार की त्रुटियों का होना सर्वथा असम्भव है । महर्षि मनु अपने समय के सर्वाधिक प्रख्यात और धर्म-सम्बन्धी विषय के मर्मज्ञ विद्वान् थे । इसी कारण ऋषि लोग जिज्ञासा के समाधान के लिए एकत्रित होकर उनके पास आये थे । वे निवेदन करते हुए कहते हैं —

> **भगवन् सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः ।**
> **अन्तरप्रभवाणां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि ।।**
> **त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवः ।**
> **अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो ।।** [१।२, ३ ।।]

अर्थात् — हे भगवन् ! आप सब वर्णों और आश्रमों के धर्मों को ठीक-ठीक बतलाने में समर्थ (योग्य) हैं । और क्योंकि ईश्वररचित, अचिन्त्य और अपरिमित ज्ञान से युक्त वेदरूपी विधान के धर्मतत्त्व (व्यावहारिक तत्त्व) तथा अर्थ के जानने वाले आप ही एक मात्र विद्वान् हैं (अत: आप हमें इन धर्मों का उपदेश कीजिये) ।

इससे स्पष्ट है कि महर्षि मनु अपने समय के प्रख्यात एवं इस विषय के सबसे अधिक अधिकारी विद्वान् थे । अत: ऐसे विद्वन् की रचना में उक्त प्रकार की त्रुटियां नहीं हो सकतीं । फिर भी उक्त त्रुटियां पाइ जाती हैं,तो इसका सीधा-सा अभिप्राय है कि मनुस्मृति में प्रक्षेप हैं । (इनके उदाहरण द्वितीय अध्याय में 'प्रक्षेपों के अनुसन्धान के आधार और प्रमाण' शीर्षक के अन्तर्गत देखें) ।

(२) मनुस्मृति में एक ओर तो गम्भीर, युक्तियुक्त, साधार, दुराग्रह एवं पक्षपातरहित अरूढ़ तथा संतुलित शैली है ; वहीं बीच-बीच में अतिसामान्य, अयुक्तियुक्त, निराधार, अतिशयोक्तिपूर्ण, दुराग्रह एवं पक्षपातपूर्ण तथा रूढ़ शैली के श्लोक भी आ जाते हैं । नि:सन्देह, उक्त विरोधी भिन्नताएं एक ही रचयिता की शैली में नहीं हो सकतीं । स्पष्ट है कि दूसरी शैली की रचनाएँ मनुसदृश विद्वान् द्वारा रचित न हो कर अन्यों द्वारा रचित हैं, अत: वे प्रक्षेप हैं ।

(३) मनुस्मृति में मनु से परवर्ती व्यक्तियों, जातियों एवं स्थानों के उल्लेख हैं । इसी प्रकार कहीं-कहीं मनु द्वारा निर्धारित मौलिक व्यवस्थाओं से भिन्न व्यवस्थाओं का वर्णन है । किसी-किसी श्लोक में ''**मनुरब्रवीत्**'' ''**मनोरनुशासनम्**'' आदि पदों का प्रयोग है, जो स्पष्टत: अन्य रचयिता की ओर संकेत करता है । इस प्रकार के सभी श्लोक परवर्ती होने से प्रक्षिप्त हैं । वे किसी

भी अवस्था में मनु द्वारा स्वयंप्रोक्त नहीं कहला सकते ।

(४) मनुस्मृति की उपलब्ध प्रतियां भी मनुस्मृति में प्रक्षेप होने के प्रत्यक्ष प्रमाण देती हैं । बहुत से श्लोक ऐसे हैं जो प्राचीन प्रतियों में नहीं, किन्तु अर्वाचीन प्रतियों में है । ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि उत्तरकालीन प्रतियों में श्लोकों की संख्या बढ़ती ही गई है । जब प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों में ही यह हाल है तो व्यतीत दीर्घकाल में प्रक्षेप न हुए हों, यह कैसे हो सकता है ? उदाहरण के रूप में कुछ श्लोक प्रस्तुत हैं —

(क) निम्न श्लोक द्वितीय अध्याय में अठारहवें श्लोक के पश्चात् केवल मेधातिथि के भाष्य में ही पाया जाता है —

विरुद्धा च विगीता च दृष्टार्थादिष्टकारणे ।।
स्मृतिर्न श्रुतिमूला स्याद्या चैषाऽसम्भवश्रुतिः ।।

अर्थ — निर्दिष्ट कारण में प्रत्यक्ष से विरुद्ध, असंगत एवं असम्भव अर्थ का प्रतिपादन करने वाली स्मृति वेद-विरुद्ध स्मृति कहलाती है ।

(ख) निम्न श्लोक मेधातिथि आदि तीन प्राचीन भाष्यकारों के भाष्य में नहीं हैं, उनसे अर्वाचीन अन्य प्रतियों में ही पाया जाता है ; जो इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि उनके भाष्यों के पश्चात् ही प्रक्षेप के रूप में डाला गया है—

सायं प्रातर्द्विजातीनामशनं स्मृतिनोदितम् ।
नान्तरे भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः ।।

[मनु. २।५२ के पश्चात्]
[इस संस्करण में २।२७ के पश्चात्]

अर्थ — स्मृति ने द्विजों के लिये अग्निहोत्र के समान प्रातः और सायं दो बार ही भोजन करने का विधान किया है । बीच में भोजन कभी न करें ।

(ग) मनुस्मृति की लगभग ३० – ३५ प्रतियाँ हस्तलिखित रूप में विभिन्न पुस्तकालयों में उपलब्ध हैं । उनमें बहुत से श्लोक ऐसे हैं जो थोड़ी ही प्रतियों में पाये जाते हैं । ऐसे भी श्लोक पर्याप्त हैं, जो केवल एक-एक प्रति में ही प्राप्त हैं, यथा —

निम्न श्लोक प्रयाग की एक ही प्रति में है —

परोक्षं सत्कृपापूर्वं प्रत्यक्षं न कथंचन ।
दुष्टानुचारी च गुरोरिह वाऽमुत्र चेत्यधः ।।

[२।२०० के पश्चात्, इस संस्करण में २।१७५ के बाद]

अर्थ — शिष्य पीठ पीछे गुरु का नाम सत्कार पूर्वक ले और सामने किसी भी प्रकार न लेवे । गुरु से दुष्टाचरण करने वाला शिष्य दोनों लोकों में अधोगति को प्राप्त करता है ।

(घ) ऐसे ही कुछ श्लोक —

येऽप्यतीताः स्वधर्मेभ्यः परपिण्डोपजीविनः ।
द्विजत्वमधिकांक्षन्ति तांश्च शूद्रानिवाचरेत् ।।

[८।१०२ के पश्चात्]

अर्थ — जो अपना धर्म-कर्म छोड़कर दूसरे के टुकड़ों पर जीते हैं और अपने आपको द्विज कहलाना चाहते हैं, उनके साथ शूद्रों के समान व्यवहार करें ।

तदस्त्रं सर्ववर्णानामनिवार्यं च शक्तितः ।
तपोवीर्यप्रभावेण अवध्यानपि बाधते ।।
[११।३३ के पश्चात्]

अर्थ — ब्राह्मण की वाणी का अस्त्र वह अस्त्र है, जिसे कोई भी वर्णस्थ व्यक्ति अपने सामर्थ्य से नहीं हटा सकता । और यह अस्त्र तप की शक्ति से सम्पन्न होने के कारण न मारने योग्य शत्रुओं को भी मार देता है ।

(५) प्रतीत होता है कि अन्य पुस्तकों से लेकर भी कुछ श्लोक मनुस्मृति में मिला दिये हैं । महाभारत (अश्वमेध पृ. ३८० पूना प्रकाशन) का निम्न श्लोक मनुस्मृति की केवल चार प्रतियों में ही उपलब्ध होता है, जो अप्रासंगिक रूप से मिलाया गया है —

**पुराणं मानवो धर्मः सांगोपांगचिकित्सकः ।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ।।
[१२।११० के पश्चात्]**

अर्थ — पुराण = ब्राह्मण ग्रन्थ, मनुप्रोक्तधर्म, अंग सहित उपांगों का विद्वान् चिकित्सक और साधु आदि की आज्ञा से सिद्ध, इन चार बातों को तर्क से नहीं काटना चाहिए ।

यह श्लोक इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि मनुस्मृति में प्रक्षेप हैं । अभी तक यह मनुस्मृति के श्लोकों में सर्वसम्मत रूप से घुल-मिल नहीं पाया है । अतएव इसे कोष्ठक में दिया जाता है ।

(६) प्रक्षेपकर्त्ताओं ने न केवल नवीन श्लोक ही क्षेपक के रूप में डाले हैं, अपितु अभीष्ट ढंग से पाठभेद भी किये हैं । कुछ पाठभेद तो प्रतिलिपि में प्रमाद अथवा असावधानी के कारण हो सकते हैं, लेकिन बहुत सारे पाठभेद तो जानबूझकर किये गये हैं । निम्न पाठ भेदों के उदाहरण इस बात के पोषक हैं —

(क) दशम अध्याय में वर्णित वर्णसंकरों के धर्म मनुप्रोक्त अर्थात् मौलिक नहीं हैं । वे श्लोक उस परवर्ती काल के प्रक्षेप हैं, जब वर्णव्यवस्थाओं में विकृति आकर जाति-पांति की परम्परा चल पड़ी थी । संकर जातियों को हेय माना गया और उनके भी कर्त्तव्य गढ़कर (जो कर्त्तव्य न होकर घृणित निन्दित विकृतियां हैं) मनुस्मृति में मिला दिये गये और उन्हें मौलिक सिद्ध करने के लिए १।२ में **'अन्तरप्रभवाणाम्'** पद के स्थान पर **'संकरप्रभवाणाम्'** पद डाल दिया गया । यह पाठभेद दो-चार हस्तलिखित पुस्तकों में मिलता है । यद्यपि टीकाकारों ने **'अन्तरप्रभवाणाम्'** का अर्थ भी 'वर्णसंकर' किया है, किन्तु वह भी सर्वथा गलत है । इसका सही अर्थ 'आश्रमों के' होना चाहिए (इसके लिए देखिए १।२ पर 'अनुशीलन' नामक समीक्षा) । शायद पहले उक्त पद का सही अर्थ 'आश्रम' ही प्रचलित था, प्रक्षेपकर्त्ता ने उसे जड़-मूल से हटाने का प्रयास किया । वह तो नहीं हट पाया, किन्तु उस पाठभेद से टीकाकारों में यह भ्रान्ति पनप गई कि वे **अन्तरप्रभवाणाम्** का ही 'वर्णसंकर' अर्थ करने लग गये ।

(ख) इसी प्रकार १२।८२ में **'धर्मक्रियाऽत्मचिन्ता च'** के स्थान पर **'अहिंसा गुरुसेवा च'** पाठ कर दिया गया है । यह,गुरु को महत्त्व मिलता रहे, इस प्रवृत्ति से किया गया । यह पाठ मनुस्मृति के प्रसंगानुकूल नहीं है —(अ) इस ८३वें श्लोक में निःश्रेयसकर कर्मों की परिगणना है । परिगणना के बाद इन छह कर्मों के विषय में १२।८५-११५ श्लोकों में व्याख्यान है । उस व्याख्यान में 'अहिंसा' और 'गुरुसेवा' का कहीं उल्लेख नहीं है, अपितु आत्मज्ञान और धर्मक्रिया का है । (आ) मनु ने सात्त्विक कर्मों को ही निःश्रेयसकर्म माना है । इस श्लोक में अन्य सभी कर्म तो वहीं हैं, केवल

इन्हीं दो में पाठभेद कर दिया गया है । सात्विक कर्मों का वर्णन १२।३१ में है । वही पाठ यहां ग्रहण करना मनुसम्मत एवं मौलिक पाठ है और वही मुक्ति दायक है । इस प्रकार **'अहिंसा गुरुसेवा च'** पाठ परिवर्तित पाठ है ।

(ग) इसी प्रकार ५।५७ श्लोक के प्रथम पाद में **'प्रेतशुद्धिम्'** पाठ प्रचलित संस्करणों में प्रचलित है । इसके स्थान पर **'देहशुद्धिम्'** पाठ होना चाहिये, ऐसा मनु की शैली और विषयविवेचन से संकेत मिलता है । प्रतीत होता है कि अन्य प्रक्षेपों के समान कालान्तर में जब प्रेत-जन्म आदि में शुद्धि-क्रिया एक कर्मकाण्ड का रूप ले गयी, तब यह पाठभेद करके प्रेतादि विषयक श्लोक मिला दिये गये । इस पाठ की अमौलिकता और **'देहशुद्धिम्'** पाठ की मौलिकता निम्न प्रमाणों एवं युक्तियों से सिद्ध होती है —(अ) मनु की यह शैली है कि वे जिस विषय का प्रारम्भ जिस 'विषय-संकेत' से करते हैं उसी संकेत से उसकी समाप्ति करते हैं [द्रष्टव्य ३ । २८६ और ४ । २५९ ।। ८ । १ और ९।२५० ।। १०।१३१ और ११।२६६ आदि], लेकिन यहां उस शैली से विपरीत, विषय का प्रारम्भ प्रेतशुद्धि से दर्शाया गया है [५।५७] और समाप्ति 'शारीरशुद्धि' से [५।११०] । विषय-समाप्ति-सूचक श्लोक के पदों से यह सिद्ध होता है कि यह **'शारीरशुद्धि'** का विषय था, न कि प्रेतशुद्धि का । अत : इस श्लोक में समानार्थक 'देहशुद्धि' शब्द ही मनुसम्मत सिद्ध होता है । (आ) मनु ने इस प्रसंग का वर्णन भी देह [५।१०५], गात्र [५।१०९], शरीर [११०] आदि शब्दों से किया है, जो यह सिद्ध करता है कि यह वर्णन प्रेतविषयक नहीं, अपितु देहशुद्धि-विषयक है । (इ) प्रचलित पाठ के अनुसार, यदि प्रेतशुद्धि पाठ को सही मानकर यहाँ सी विषय का प्रसंग मान लिया जाये, तो यह आपत्ति आती है कि प्रेतशुद्धि-विषय में दन्तोत्पत्तिकाली . शुद्धि, सूतकशुद्धि, मन, आत्मा आदि की शुद्धि का वर्णन क्यों किया ? प्रेत के मन और आ ना होते ही नहीं । इस प्रकार 'विषयसंकेतक श्लोक में और वर्णन में तालमेल का न होना भी यह सिद्ध करता है कि प्रक्षेपों का समायोजन करने के लिये यह पाठभेद बाद में किया गया है । शैलीशृंखला में जुड़ा हुआ पाठ **'देहशुद्धिम्'** ही है, और मन तथा आत्मा आदि शरीर से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थ हैं । अत : इसी पाठ को मान्य पाठ के रूप में स्वीकार किया है ।

इन प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि मनुस्मृति में पाठभेदों के रूप में भी प्रक्षेप किये गये हैं । इस प्रकार के पाठभेद अन्य स्थानों पर भी हैं ।

(७) मनुस्मृति का अध्यायविभाजन मौलिक अर्थात् मनुकृत नहीं है । यह परवर्तीकाल में किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किया गया है (इसके विषय में विस्तार से जानने के लिए देखिए — 'मनुस्मृति में अध्यायविभाजन' शीर्षक) । विभाजन करते समय अध्यायों की समाप्ति में एकरूपता लाने के लिए विभाजनकर्ता अथवा किसी अन्य परवर्ती व्यक्ति ने मनुस्मृति में कुछ परिवर्तन-परिवर्धन भी किये हैं, जैसे, प्रथम अध्याय में १११ से ११८ श्लोकों में विषय-सूची जोड़ दी; अष्टम अध्याय के अन्त में उस विषय के बीच में ही विषयसमाप्तिसूचक श्लोक एकरूपता लाने के लिए भ्रान्तिवश डाल दिया (८।४२०), आदि । यह परिवर्तन व परिवर्धन मनुस्मृति के प्रसंगों एवं शैलियों से ज्ञात हो जाता है । यह परिवर्तन इस बात का संकेत देता है कि मनुस्मृति में परवर्ती लोगों ने मनमाने ढंग से श्लोक मिलाये हैं । इससे यह स्पष्टत : सिद्ध है कि मनुस्मृति में प्रक्षेप हैं ।

(८) मनुस्मृति में पाये जाने वाले 'अवान्तरविरोध' भी मनुस्मृति में प्रक्षेप होने के प्रमाण देते हैं । एक ही प्रक्षिप्त प्रसंग में जो परस्पर अनेक विरोध हैं, उन्हें 'अवान्तरविरोध' कहा गया है । एक ही

प्रक्षिप्त प्रसंग में जो अनेक विरोध या भिन्न-भिन्न मान्यताएं मिलती हैं उनके विश्लेषण से निम्न तथ्य स्पष्ट होते हैं — (१) अनेक विरोधों या मान्यताओं वाले प्रसंग किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं हो सकतीं, (२) ऐसे विरोधात्मक और विभिन्न मान्यतात्मक वर्णन मनु-सदृश तत्त्वद्रष्टा ऋषि की रचनाएं नहीं हो सकतीं, (३) ये भिन्न-भिन्न मान्यताएं भिन्न-भिन्न लोगों द्वारा डाली गयीं हैं, (४) और भिन्न-भिन्न कालों में (जब जैसी मान्यता का प्रचलन हुआ) मिलायी गयी हैं (५) जहां विभिन्न-विरोधी मान्यताएँ अधिक हैं, इसका मतलब वे उतने ही अधिक विवादास्पद विषय थे, और विवादास्पद विषयों में ही लोगों को मान्यता परिवर्तित करने का तथा अपनी मान्यता लागू करने का अधिक ध्यान रहता है। इन तथ्यों से यह बात सिद्ध हुई कि मनुस्मृति में प्रक्षेप हुए हैं और वे भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न-भिन्न कालों में किये गये हैं। इस अवस्था को देखकर प्रक्षेपों से नहीं नकारा जा सकता।

(९) सभी भाष्यकारों ने न्यूनाधिक रूप में मनुस्मृति में प्रक्षेप होना स्वीकार किया है, उनमें कुल्लूकभट्ट ने सम्पूर्ण मनुस्मृति में १७० श्लोक प्रक्षिप्त माने हैं, अतएव उन्हें बृहत्कोष्ठकों एवं भिन्न संख्याओं में दिया है। परवर्ती सभी पौराणिक पण्डितों ने उन प्रक्षेपों को यथावत् स्वीकार किया है। कुल्लूकभट्ट और उससे परवर्ती अन्य तदनुसारी टीकाकारों-भाष्यकारों ने जो प्रक्षिप्त श्लोक स्वीकार किये हैं। उनका अध्यायानुसार विवरण निम्नप्रकार हैं —

प्रथम	अध्याय में	—११
द्वितीय	,,	—११
तृतीय	,,	—२१
चतुर्थ	,,	—१९
पंचम	,,	—२२
षष्ठ	,,	— ६
सप्तम	,,	—१६
अष्टम	,,	—३०
नवम	,,	— ६
दशम	,,	— २
एकादश	,,	—१४
द्वादश	,,	—१२
प्रक्षिप्त श्लोकों की कुल संख्या		—१७०

इसी प्रकार मनुस्मृति पर कार्य करने वाले बूलर और जौली सदृश पाश्चात्य विद्वानों ने भी मनुस्मृति में प्रक्षेप स्वीकार किये हैं और कुछ प्रक्षेपों को पृथक् दर्शाया भी है। आर्यसमाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने मनुस्मृति के प्रक्षेपों की ओर विशेष रूप से सबसे पहले ध्यान आकृष्ट किया। उनके पश्चात् इस दिशा में आर्यसमाज के कुछ विद्वानों ने प्रक्षेप निकालने के प्रयास किये हैं। इस प्रकार सिद्धान्ततः सभी वर्गों के व्यक्ति मनुस्मृति में प्रक्षेपों को स्वीकार करते हैं। अब प्रश्न केवल प्रक्षिप्त और मौलिक श्लोकों के पृथक्करण और उनके मानदण्डों का रह जाता। इस विषय में आगे विचार किया जायेगा।

उपर्युक्त विवेचन एवं युक्तियों से यह निश्चित हो जाता है कि मनुस्मृति में प्रक्षेप अवश्य हैं । ये प्रक्षेप समय-समय पर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा किये गये हैं । क्योंकि मनुस्मृति की भाषा सरल और लोकप्रचलित भाषा है, अत : उसमें आसानी से श्लोक मिल जाते हैं और भाषा में विशेष अन्तर प्रकट नहीं हो पाता । फिर भी विशेष अध्ययन से भाषा की प्रयोग-शैली के आधार पर कुछ प्रक्षिप्तों का ज्ञान हो जाता है ।

४. ग्रन्थों में प्रक्षेप करने की प्रवृत्ति और मनुस्मृति के प्रक्षेपों के मूल में निहित प्रवृत्तियाँ —

प्रक्षेप की समस्या लगभग सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के साथ है । स्वार्थी लोग अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए, अपने विकृत आचरण को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने के लिए अथवा स्वाभिमत व्याख्या एवं विचारों की सिद्धि के लिए ग्रन्थों में प्रक्षेप करते रहे हैं । कभी-कभी किसी ग्रन्थ में संशोधन, परिवर्धन या व्यवस्थापन की प्रवृत्ति भी इसमें प्रमुख कारण बनती है । कभी-कभी ग्रन्थ के रूप को विकृत करना भी प्रक्षेपकर्त्ताओं का उद्देश्य होता है । इस प्रकार से ग्रन्थों में प्रक्षेप होते रहते हैं । प्राचीन काल में यह कार्य आसानी से हो जाता था, क्योंकि ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियां होती थीं । जिसके पास जो प्रति हुई उसमें उसने मनमाने ढंग से प्रक्षेप कर दिया और अग्रिम प्रतियां उसके अनुसार तैयार करवा दीं । इसी प्रकार अग्रिम प्रतियों में प्रक्षिप्त श्लोक या विचार मिलते रहते थे । यही कारण है कि हस्तलिखित ग्रन्थों की प्रतियों में परस्पर अन्तर और पाठभेद मिलते हैं । संस्कृत के प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों, साहित्यिक काव्यों तथा अपभ्रंश और हिन्दी काव्यों, सभी की यह अवस्था है ।

वैसे तो प्राय: समस्त प्राचीन लौकिक संस्कृत-साहित्य में प्रक्षेप हुए हैं, किन्तु धर्मशास्त्रों में प्रक्षेप करने की विशेष प्रवृत्ति रही है, क्योंकि उनके विधानों का व्यक्ति और समाज के साथ सीधा और प्रतिदिन का सम्बन्ध था । विधानों को बदलने और विकृत करने के लिए स्वार्थी लोगों ने अनेक जाली ग्रन्थों को रचने का भी प्रयास किया है । फिर प्रक्षेप करने से ऐसे लोग कैसे बाज आ सकते थे ? पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय ने मनुस्मृति की भूमिका में दो-तीन घटनाओं का विवरण दिया है । उनसे लोगों की प्रक्षेप करने की प्रवृत्तियों का और ग्रन्थों को विकृत करने के स्वार्थपूर्ण षड्यन्त्रों का ज्ञान हो जाता है । वे इस प्रकार हैं —

''हिन्दुओं में दायभाग का नियम बड़ा जटिल है । इसका यह कारण नहीं कि प्राचीन स्मृतियों का उद्देश्य ही इनको जटिल करना था । वस्तुत: उन्होंने तो सुगम और सरल नियम बनाये, पीछे से जटिलता आ गई । हिन्दू (आर्य) एक प्राचीन जाति है । समय-समय पर दायभाग के विषय में झगड़े हुए । भिन्न-भिन्न पक्षों ने अवश्य ही अपने-अपने पक्ष के लिए पंडितों से सहायता ली । इन्होंने अपने पक्ष को पुष्ट करने के लिए प्रक्षिप्त डाल दिया । यह केवल कल्पना नहीं है किन्तु इसके लिए ऐतिहासिक प्रमाण भी हैं । 'दत्तक मीमांसा' को नन्दपण्डित ने इसी उद्देश्य से बनाया था । यह बहुत थोड़े दिनों का ग्रन्थ ब्रिटिश-राज्य स्थापित होने से सौ-सवा सौ वर्ष से अधिक पुराना नहीं है । ब्रिटिश राज्य के आरम्भ में भूल से इसका अंग्रेजी में अनुवाद हो गया और अंग्रेजी न्यायालयों ने इसको प्रमाण मान लिया । इलाहाबाद हाईकोर्ट की पूरी सभा ने सर जान एज के सभापतित्व में एक फैसला दिया था । उसमें इस बात को विस्तार पूर्वक सिद्ध किया गया है कि नन्द पण्डित के क्षेपकों को आदर की दृष्टि से नहीं देखना चाहिये । कहते हैं कि 'दत्तक-मीमांसा' एक धेवते को दायभाग से वंचित करने के लिए लिखी गई थी ।

'दत्तक चन्द्रिका' एक दूसरी पुस्तक है, जिसके विषय में सभी बंगाली विद्वानों को पता है कि यह रघुमणि विद्याभूषण का बनाया हुआ जाल है । रघुमणि कोलब्रुक साहब के साथी थे । बंगाल के एक राजा थे । उन्होंने एक लड़का गोद रखा था । पीछे से उनके अपना लड़का हो गया । उनके मरने पर प्रश्न हुआ कि राजा का अधिकार किसको मिले । गोद में रखे हुए लड़के का पक्ष सिद्ध करने के

लिए रघुमणि महोदय ने पुस्तक लिख दी । यदि पुस्तक न होती तो पुराने विधान से एक तिहाई मिलता । यह मुकदमा आगे नहीं चला क्योंकि सन्धि हो गई । इसका अन्तिम श्लोक इस प्रकार है —

र-म्यैषा चन्द्रिकादत्तपद्धतेर्दर्शिका ल-घु ।
म-नोरमा सन्निविशैरंगिणां धर्मतार-णि :

इन पंक्तियों के पहले और पिछले अक्षरों से 'रघुमणि' शब्द बनता है ।

१८३२ ई. में कलकत्ता संस्कृत कालेज के पण्डितों ने एक और जाल रचा । जैनियों का एक मुकदमा था । इनकी व्यवस्था मानी जाया करती थी । इन्होंने एक पुस्तक लिखकर कालिज के पुस्तकाध्यक्ष को रिश्वत देकर पुस्तकालय के रजिस्टर में दर्ज करा दी । डाक्टर एच. एच. विल्सन कालेज के मन्त्री थे । उनको सन्देह हो गया । पुस्तक पकड़ी गई । पंडित महोदय ने अपना अपराध स्वीकार कर लिया । इस दिन से वहां पंडितों से व्यवस्था देने का अधिकार छीन लिया गया [देखिये —सरकार शास्त्री लिखित 'हिन्दू ला' पृ. १८७] ।"

जिस व्यक्ति की प्रक्षेप करने की बदनीयत हो जाती है फिर वह किसी की अच्छाई-बुराई, लाभ-हानि को नहीं देखता । वह केवल अपने स्वार्थपूर्ण उद्देश्य को ही दृष्टिगत रखता है और उसकी पूर्ति के लिए सभी संभव दुष्कृत्य करता है । जैसे धन का लोभी व्यापारीजब मिलावट करने की प्रवृत्ति पर आ जाता है,तो वह मनुष्यों के खाद्य-पदार्थों में कंकड़-मिट्टी, लकड़ी का बुरादा, गोबर, रंग, चर्बी, आदि अखाद्य, घृणित वस्तुओं की मिलावट करते समय नहीं हिचकिचाता । मिलावट से लोगों को होने वाली हानियों और कठिनाइयों की चिन्ता उसे छू तक नहीं पाती । वस्तु, समय और लालच के अनुसार वह मिलावट करता रहता है । यही अवस्था ग्रन्थों में प्रक्षेप की रहती है । प्रक्षेप करने से कितना भारी नुकसान हो सकता है, इसकी चिन्ता किये बिना प्रक्षेपक अपने उद्देश्यानुसार प्रक्षेप करते रहते हैं,और ऐसा करने के लिये वे सभी प्रकार के हथकण्डे अपनाते हैं । कहीं नया श्लोक जोड़ दिया, कहीं सम्पूर्ण नया प्रसंग ही रचकर जोड़ दिया,तो कहीं विरोधी मान्यता का प्रक्षेप कर दिया । कहीं मूल मान्यताओं की स्वाभिमत व्याख्या कर दी,तो कहीं से श्लोक को निकाल दिया या पाठभेद कर दिया ।

ठीक यही अवस्था मनुस्मृति के साथ रही है । क्योंकि धर्मशास्त्रों में मनुस्मृति ही सर्वाधिक मान्यता-प्राप्त ग्रन्थ था, अत : यह ग्रन्थ प्रक्षेप-कर्त्ताओं के षड्यन्त्रों और आक्रमणों का प्रमुख लक्ष्य रहा । प्राचीन काल से लेकर प्रकाशन-युग तक मनुस्मृति में प्रक्षेपों की मिलावट होती आई है । जैसे-जैसे परम्पराएं शिथिल या विकृत होती गई, लोगों ने अपने आचरण या परम्पराओं को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने के लिए मनुस्मृति में तदनुरूप विचारों के प्रक्षेप कर दिये । स्वार्थी लोगों ने अपने स्वार्थ को साधने के लिए मिलावटें कीं । जब-जब धार्मिक या मत-मतान्तरों की उथल-पुथल हुई, उनका आक्रमण मनुस्मृति जैसे प्रमुख धार्मिक ग्रन्थों पर विशेष रूप से हुआ और उन्हें विकृत करने के लिए मिलावटें की गईं । मनुस्मृति के उन प्रक्षेपों के अनुसन्धान के लिए जहां एक ओर आधारों का निर्धारण करना आवश्यक है, वहां साथ ही प्रक्षेपों के मूल में निहित प्रवृत्तियों का अध्ययन-विश्लेषण करना भी आवश्यक है । क्योंकि व्यक्ति किसी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर ही इस प्रकार का प्रयास करता है, यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है । यह आवश्यक नहीं कि प्रक्षेप विरोधी या स्वार्थपूर्ण ही होते हैं, समर्थन और प्रशंसा में भी प्रक्षेप होते हैं । स्वाभिमत विचारों को स्थान देने की प्रवृत्ति से या अभावपूर्ति की प्रवृत्ति से अच्छे विचारों के भी प्रक्षेप कर दिये जाते हैं । मनुस्मृति के प्रक्षेपों को निकालते समय यह भी विचार किया गया है कि उनके मूल में प्रक्षेप करने की कौन-सी प्रवृत्ति

अथवा नहीं, और जहां कोई प्रेरक-प्रवृत्ति नहीं प्रतीत हुई, उन्हें प्रक्षिप्त घोषित नहीं किया है। मनुस्मृति के प्रक्षेपों का अध्ययन-विश्लेषण करने पर मनुस्मृति के प्रक्षेपों के मूल में जो प्रेरक-प्रवृत्तियां दृष्टिगत हुई वे निम्न हैं —

(१) **मनुस्मृति को गौरव और महत्त्व प्रदान करने की प्रवृत्ति** — मनुस्मृति में जहां कहीं भी इसकी प्रशंसा, महत्ता या विशेषताओं का वर्णन करने वाले श्लोक वर्णित हैं, अथवा जहां इसे ब्रह्मा के साथ जोड़ा गया है, वे सभी श्लोक इस परम्परा के शिष्यों या प्रशंसकों द्वारा इसके गौरव और महत्त्व को बढ़ाने की प्रवृत्ति से किये गये प्रक्षेप हैं। यह एक मान्य तथ्य है कि मनु सदृश सुलझा हुआ उच्चकोटि का ऋषि कभी स्वयं अपने ग्रन्थ की बढ़-चढ़कर प्रशंसा नहीं कर सकता। ये प्रशंसात्मक श्लोक परवर्ती हैं। मध्यकालीन सम्पूर्ण साहित्य में यह प्रवृत्ति परिलक्षित होती है कि सभी विद्वानों ने अपने विषय का ब्रहमा के साथ किसी न किसी प्रकार जुड़े होने का उल्लेख अवश्य किया है। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र का उद्‌भव ब्रहमा से माना है। महाभारत को पांचवां वेद घोषित किया गया। उस समय के समाज में इनसे जुड़े किसी भी शास्त्र को आसानी से मान्यता मिल जाती थी। मनुस्मृति में भी इस प्रकार के वर्णनों के मूल में यही प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। क्योंकि जहां भी इसे ब्रहमा से जोड़ने का कथन है या उसकी प्रशंसा है, वे श्लोक प्रासंगिक और शैली के अनुरूप सिद्ध नहीं होते। तत्तत् स्थानों पर इस विषयक विस्तृत विवेचन किया हुआ है। यहां केवल कुछ उदाहरण ही प्रदर्शित किये जा रहे हैं, जिनमें उपर्युक्त प्रवृत्ति लक्षित होती है —

(क) ब्रहमा से सम्बन्ध जोड़ने वाले श्लोक —

इदं शास्त्रं तु कृत्वासौ मामेव स्वयमादितः।
विधिवद्ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन्॥ [१।५८॥]

अर्थ — मनु जी कहते हैं कि ब्रहमा ने सृष्टि के प्रारम्भ में इस धर्मशास्त्र को बनाकर प्रथम विधिवत् मुझे उपदेश किया। फिर मैंने मरीचि आदि मुनियों को पढ़ाया।

प्रजापतिरिदं शास्त्रं तपसैवासृजत्प्रभुः॥ [११।२४३॥]

अर्थ —इस शास्त्र की रचना प्रजापति ने तप से ही की थी।

(ख) प्रशंसात्मक —

इदं स्वस्त्ययनं श्रेष्ठमिदं बुद्धिविवर्धनम्।
इदं यशस्यमायुष्यमिदं निःश्रेयसं परम्॥ [१।१०६॥]

अर्थ — यह शास्त्र कल्याण करने वाला, श्रेष्ठ, बुद्धि बढ़ाने वाला, यश देने वाला, आयुवर्धक और परम कल्याण (मोक्ष) को प्राप्त कराने वाला है।

इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठन्द्विजः।
भवत्याचारवान्नित्यं यथेष्टां प्राप्नुयाद्गतिम्॥ [१२।१२६॥]

अर्थ —इस भृगुप्रोक्त धर्मशास्त्र को जो द्विज पढ़ता है, वह सदाचारी बनता है और इच्छानुसार गति को प्राप्त करता है।

(२) **मनु के व्यक्तित्व को अलौकिक सिद्ध करने की प्रवृत्ति** — मनुस्मृति में स्वयं मनु की प्रशंसा या उल्लेख करने वाले श्लोक भी आते हैं। मनु के द्वारा समस्त स्थावर-जंगम जगत की उत्पत्ति कहने [१।३५-४५] वाले श्लोकों के मूल में मनु के शिष्यों या पक्षधरों द्वारा उन्हें अलौकिक

व्यक्तित्ववाला पुरुष सिद्ध करने की प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है । इस प्रकार की अनगल बातें भी मनु स्वयं नहीं कह सकते ।

(३) ख्याति और महत्ता के लिए मनुस्मृति के साथ भृगु का सम्बन्ध जोड़ने की प्रवृत्ति — मनुस्मृति में कहीं भी किसी भी रूप में भृगु के नाम का उल्लेख होना न तो शैली के अनुरूप ठीक जंचता है, न मनुस्मृति की मान्यताओं एवं प्रसंगों के अनुकूल । फिर भी कई स्थानों पर मनुस्मृति को भृगु के साथ जोड़कर बड़े अटपटे ढंग से इसे भृगु का प्रवचन जताया गया है । मनुस्मृति एक ख्यातिप्राप्त ग्रन्थ था, समाज में इसकी सर्वोच्च मान्यता थी । प्रतीत होता है कि भृगु के शिष्यों ने भृगु की ख्याति और महत्ता के लिए या इसे 'भृगु-संहिता' बनाने के लिए उसके प्रवचनों या नाम को इसमें जोड़ दिया है । इस प्रकार के कुछ श्लोक हैं —

> एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः ।
> एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः ।। [१।५९।।]

अर्थ — मनु जी कहते हैं कि मुझ से भृगुमुनि ने इस धर्मशास्त्र को पढ़ा है । ये भृगुमुनि आपको सम्पूर्ण धर्मशास्त्र सुनायेंगे ।

> ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना भृगुः ।
> तानब्रवीदृषीन्सर्वान्प्रीतात्मा श्रूयतामिति ।। [१।६०।।]

अर्थ — तत्पश्चात् मनुजी के कहने पर भृगुमुनि प्रसन्न होकर उन सब ऋषियों को उपदेश देने लगे कि अब आप सब सुनें ।

> श्रुत्वैतानृषयो धर्मान्स्नातकस्य यथोदितान् ।
> इदमूचुर्महात्मानमनलप्रभवं भृगुम् ।। [५।१।।]

अर्थ — महर्षियों ने स्नातक के पूर्वोक्त धर्मों को सुनकर अग्नि के समान प्रभावशाली, महात्मा भृगु से यह कहा ।

> इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठन्द्विजः ।। [१२।१२६।।]

अर्थ — इस भृगुप्रोक्त धर्म-शास्त्र को जो द्विज पढ़ता है, (वह सदाचारी बनता है, इत्यादि) ।

(४) मनु की मान्यताओं का विरोध करने की प्रवृत्ति — मनुस्मृति में कहीं-कहीं इस प्रकार के श्लोक भी हैं जिनमें मनु की मान्यता का खण्डन है । पहले मनु की मान्यता है, फिर उसका निषेधपूर्वक खण्डन है । ऐसे सभी श्लोकों के मूल में मनु की मान्यताओं का विरोध करने की प्रवृत्ति है, यथा —

(क) ९।५९ से ६३ श्लोकों में नियोग का विधान है, किन्तु अगले ही ६४-६८ श्लोकों में निन्दा प्रदर्शनपूर्वक नियोग का निषेध है ।

(ख) ५।४५ से ५५ श्लोकों में मांसभक्षण का निषेध करते हुए मांसभक्षक को पापी माना है, किन्तु ५६वें श्लोक में ही मांसभक्षण, मदिरापान में कोई दोष नहीं होना कहा है ।

(५) स्वाभिमत मान्यताओं को उस शास्त्र के अनुकूल सिद्ध करने की प्रवृत्ति — क्योंकि मनुस्मृति एक प्रसिद्ध एवं सर्वमान्य शास्त्र रहा है, इसलिए उसमें कोई मान्यता न हो तो लोग उसे स्वीकार करने के लिए शायद तैयार नहीं होंगे, या उस मान्यता को पुष्ट करने के लिए मनुस्मृति का प्रमाण चाहेंगे, इस आशंका से मुक्त होने के लिए और अपनी मान्यता को मनुसम्मत सिद्ध

बनाने के लिए कुछ ऐसे प्रक्षेप किये गये हैं, जो उन स्थानों पर संगत भी नहीं हो रहे हैं और मनुस्मृति की मान्यता के अनुकूल भी नहीं जंचते । मनुस्मृति ने प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार आदि तत्त्वों की प्रक्रिया से सृष्टि-उत्पत्ति वर्णित की है [१।१४ –२१], किन्तु नवीन वेदान्तियों ने अपनी मान्यता को मनुस्मृतिसम्मत बनाने के लिए मनुस्मृति की मौलिक मान्यता से पूर्व अण्डे के द्वारा ब्रह्मा की उत्पत्ति और ब्रह्मा से सारे संसार की उत्पत्ति वाली मान्यता का प्रक्षेप कर दिया [१।९, १२, १३, ३२ से ४५] । इस प्रकार के वर्णन अपनी मान्यता के प्रचार की दृष्टि से किये गये हैं ।

(६) स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अपने विचारों के प्रक्षेप की प्रवृत्ति — मनुस्मृति एक आध्यात्मिक और सात्त्विक गुणों का दिग्दर्शन कराने वाला शास्त्र भी है । लेकिन उसके उद्देश्य को देखे बिना, उसकी मान्यताओं से विरोध होते हुए भी स्वार्थी व्यक्तियों ने अपनी विकृत परम्पराओं, स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों को शास्त्रसम्मत बनाने की प्रवृत्ति से उनका प्रक्षेप किया है । श्राद्धवर्णन का प्रसंग, मांसभक्षण, मद्यपान, हिंसा, पशुयज्ञ, बहुविवाह आदि के विधान इसी प्रवृत्ति की उपज हैं । ऐसे प्रक्षेप अधिकांशतः वाममार्गियों द्वारा किये गये हैं, या वैसे ही आचरण वाले लोगों द्वारा किये गये हैं ।

(७) पक्षपात की प्रवृत्ति — मध्यकाल में ब्राह्मणों का विद्या पर एकाधिकार हो गया था और शेष वर्ण अशिक्षा के कारण दिन-प्रतिदिन अज्ञानाश्रित होते गये । प्रत्येक कर्त्तव्य के लिए ब्राह्मणों ने उचित-अनुचित को न देखकर अपनी सुविधा और सुख के अनुसार कर्त्तव्यों का विधान करना शुरू कर दिया और निम्नवर्णों पर अधिकाधिक बन्धन डाल दिये । इस प्रकार के पक्षपातपूर्ण विचार भी मनुस्मृति में मिलते हैं । छुआछूत, ऊंच-नीच, स्त्री-शूद्रों के प्रति घृणा, निन्दा और दमन के विचारों वाले सभी श्लोकों में पक्षपात की प्रवृत्ति निहित है । ब्राह्मणों को विशेषाधिकार, विशेष महत्त्व और विशेष प्रशंसा इसी प्रवृत्ति से उपजी बातें हैं ।

(८) अभाव-पूर्त्ति की प्रवृत्ति —कोई भी शास्त्र या विधान अपने समय की व्यवस्थाओं या परिस्थितियों के अनुसार ही बनता है । समय बीतने पर कुछ नयी परम्पराएं, नयी समस्याएं या नयी बातें समाज में आ जाती हैं । किन्तु समाज प्रत्येक निर्णय के लिए उसी पुरातन शास्त्र की ओर देखता है । ऐसी अवस्था में उन अर्वाक्कालीन बातों के वर्णनाभाव को देखकर या किसी बात का वैसे अभाव अनुभव करके लोग शास्त्रों में मिलावट कर देते हैं । मनुस्मृति में भी इस प्रवृत्ति से अनेक प्रक्षेप हुए हैं —

(क) मनुस्मृति में युवावस्था में ही विवाह का वर्णन है, किन्तु परवर्ती काल में जब विधर्मी आक्रमणों या कुरीतियों के प्रभाव से लड़कियों का जीवन असुरक्षित जान पड़ने लगा तो बालविवाह की प्रथा प्रचलित हो गई । लोगों ने मनुस्मृति में उस विधान का अभाव देखकर उसे भी स्वयं जोड़ दिया —

त्रिंशद्वर्षोद्वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् ।
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वरः ।। [९।९४ ।]

अर्थ — गृहस्थ धर्म का लोप न चाहता हुआ तीस वर्ष का पुरुष शीघ्र ही १२ वर्ष की मनोहारिणी कन्या से और २४ वर्ष का आठ वर्ष की कन्या से विवाह करे ।

(ख) इसी प्रकार मनु ने एक समय एक ही विवाह का विधान किया है [५।१६७-१६८], किन्तु परवर्तीकाल में बहुविवाह की प्रथा चल पड़ी । दायभाग के विधानों में केवल एक विवाह के अनुसार ही दायभाग का विभाजन था । विभिन्न वर्ण की स्त्रियों से उत्पन्न पुत्रों के लिए दायभाग के विधानों

का अभाव देखकर परवर्ती लोगों ने तत्सम्बन्धी विधानों को भी जोड़ दिया —

चतुरोंऽशान्हरेद्विप्रस्त्रीनंशान्क्षत्रियासुत: ।
वैश्यापुत्रो हरेद्द्व्यंशमंशं शूद्रासुतो हरेत् ।। [९।१५३ ।]

अर्थ– ब्राह्मण से उत्पन्न ब्राह्मणी का पुत्र चार भाग, क्षत्रिया का पुत्र तीन भाग, वैश्या का पुत्र दो भाग और शूद्रा का पुत्र एक भाग लेवे।

इसी प्रकार समय-समय पर प्रचलित रूढ़िवादिताओं और अन्धविश्वासों से प्रेरित विधान भी इसी प्रवृत्ति के कारण प्रक्षिप्त हुए हैं ।

(९) **परिष्कार एवं व्यवस्थापन की प्रवृत्ति** — मनुस्मृति जिस व्यवस्थित रूप में आज उपलब्ध है, यह इसका मौलिक स्वरूप नहीं है । मनुस्मृति को अध्यायों में परवर्तीकाल में विभाजित किया गया है । विभाजन कर्त्ता ने अपनी बुद्धि के अनुसार इसे विभाजित किया और अध्यायों के अन्त में समाप्ति सूचक श्लोकों की शैली की एकरूपता बनाये रखने के लिए,कुछ स्थानों पर अपनी ओर से ही श्लोक मिला दिये । ऐसा एक श्लोक है —

एवं सर्वानिमान् राजा व्यवहारान्समापयन् ।
व्यपोह्य किल्विषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम् ।। [८।४२० ।]

अर्थ — इस प्रकार राजा इन सब विवादों को समाप्त कराकर सब प्रकार के दोषों (पापों) को दूर करता है और उत्तम गति को प्राप्त करता है ।

इस प्रकार कुछ श्लोक तो एकरूपता के लिए मिलाये गये हैं (इनका विस्तृत विवेचन 'मनुस्मृति का अध्याय विभाजन' शीर्षक में यथास्थान देखिये) और कुछ मनुस्मृति के परिष्कार के लिए । प्रथम अध्याय में १०७, १११-११८ तक विषय-सूची का वर्णन करने वाले श्लोक विभाजन की व्यवस्था को परिष्कृत रूप देने के लिए ही बनाकर मिलाये गये हैं, जिससे मनुस्मृति में वर्णित विषयों का एक स्थान से ही ज्ञान हो सके ।

(१०) **स्वाभिमत स्पष्टीकरण एवं व्याख्या की प्रवृत्ति** — मनुस्मृति में जहां-कहीं भी ऐसे वर्णन हैं जो अतिशयोक्तिपूर्ण, महिमात्मक अथवा नये ढंग की व्याख्या वाले, कही हुई बातों को पुन: भिन्न प्रकार स्पष्ट करने वाले, वे उक्त प्रवृत्ति के कारण किये गये प्रक्षिप्त हैं । यथा —

(क) ग्यारहवें अध्याय में ५४-१९० श्लोकों में प्रायश्चित्त का विधान, वर्गीकरण और विधियाँ मनुसम्मत नहीं हैं । किसी अन्य परवर्ती व्यक्ति ने अपने ढंग से उनका वर्णन किया है ।

(ख) १२।८६-९० श्लोकों में निवृत्त कर्मों का स्पष्टीकरण प्रासंगिक नहीं है । यह किसी परवर्ती व्यक्ति ने परिवर्धन की दृष्टि से जोड़ दिया है ।

इस प्रकार सभी प्रक्षिप्त श्लोकों के मूल में कोई-न-कोई प्रवृत्ति अवश्य दृष्टिगोचर होती है,जिसकी प्रेरणा से प्रक्षेपकों ने मनुस्मृति में प्रक्षेप किये हैं । कहीं-कहीं कई-कई प्रवृत्तियाँ भी एक साथ दिखाई पड़ती हैं । इस तरह प्रवृत्तियों के परिज्ञान से श्लोकों की प्रक्षिप्तता और अधिक स्पष्ट हो जाती है ।

५. प्रक्षेपों के अनुसन्धान के आधार और उनके प्रमाण

'मनुस्मृति में प्रक्षेप हैं,' यह मान्यता स्थिर हो जाने और उन प्रक्षेपों के अनुसंधान की आवश्यकता एवं उपयोगिता पर विचार कर लेने के पश्चात् अब प्रक्षेपों के अनुसंधान का प्रश्न आता है। विचारणीय बात यह है कि मनुस्मृति में हुये प्रक्षेपों को कैसे पहचाना जाये,और किस प्रकार उन्हें अमौलिक घोषित किया जाये ? यह प्रश्न बड़ा जटिल एवं गम्भीर है। ऐसा कोई प्रत्यक्ष साधन नहीं है, जो श्लोकों को स्पष्टत: निर्णीत कर दे कि अमुक प्रक्षिप्त है और अमुक मौलिक। यदि यह कार्य इतना सरल होता, तो अभी तक कभी का निर्णय हो चुका होता। इस प्रकार अत्यन्त कठिन एवं उलझनपूर्ण होते हुए भी इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए एक उपाय यह निकाला है कि कृतित्व के आधार पर कुछ सुनिश्चित 'मानदण्ड' या 'आधारों' का निर्धारण किया जाये जिनकी कसौटी पर खरे उतरने वाले श्लोकों को ही मौलिक माना जाये और इतर श्लोकों को प्रक्षिप्त। सुनिश्चित आधारों के बिना किया गया कार्य प्रामाणिककोटि में नहीं आ सकता। यद्यपि इससे पूर्व भी मनुस्मृति के प्रक्षेपों को निकालने के लिए अनेक प्रयास हुए हैं। इनमें आर्यसमाज के विद्वानों ने विशेष रूप से प्रयत्न किया है, जिनमें तुलसीराम स्वामी, स्वामी श्रद्धानन्द, चन्द्रमणि विद्यालंकार, सत्यकाम सिद्धान्तशास्त्री, गंगाप्रसाद उपाध्याय के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त बूलर और डा. जे. जौली आदि कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने भी मनुस्मृति के प्रक्षेपों को दूर करने का प्रयास किया है। किन्तु फिर भी यह समस्या सुलझ नहीं पायी। अभी तक प्रक्षेपों को निकालने के लिए जो प्रयास हुए हैं,उनमें सबसे बड़ी कमी यह रही है कि अनुसन्धानकर्त्ताओं ने कोई सुनिश्चित सर्वमान्य आधार निर्धारित नहीं किये। कुछ विद्वानों ने जो आधार अपनाये हैं,वे एकपक्षीय होने के कारण सर्वमान्य नहीं बन सके। संक्षेप में मनुस्मृति के प्रक्षेपों को निकालने के लिए अभी तक किये गये प्रयासों में निम्न त्रुटियाँ रह गई हैं —

१. प्रक्षेप निकालने के लिए अनुसन्धानकर्त्ताओं ने ऐसे आधार निश्चित नहीं किये,जो सर्वमान्य हों और जो सभी वर्गों में मान्य हो सकें। बिना 'आधारों' के निकाले गये प्रक्षेपों को देखकर पाठकों की ओर से यह आक्षेप उठा कि प्रक्षेपानुसन्धाताओं ने श्लोकों को मनमाने ढंग से निकाला और रखा है। जिसे अपने विचारों के अनुकूल समझा उसे रखा और प्रतिकूल को 'प्रक्षिप्त' घोषित कर दिया। विशेष रूप से यह उन आर्यसमाजी विद्वानों के लिये कहा जाता है, जिन्होंने आर्यसामाजिक विचारों के आधार पर श्लोकों को रखा और निकाला है।

२. सुनिश्चित आधारों के बिना,प्रक्षेप निकालने वालों से यह भूल हुई है कि उन्होंने कुछ मौलिक श्लोकों को भी निकाल दिया, और इसी प्रकार कुछ प्रक्षिप्त श्लोक भी शेष रह गये।

३. कुछ विद्वानों ने कुछ 'आधार' भी अपनाये हैं,किन्तु वे विद्वान् उन 'आधारों' को सब स्थानों पर लागू ही नहीं कर सके। कई स्थानों पर वे गलत ढंग से लागू किये हैं।

४. निकाले गये प्रक्षिप्त श्लोकों के साथ विद्वानों ने उनकी प्रक्षिप्तता के कारणों का विवरण नहीं दिया। इससे पाठकों को उनकी पद्धति का न तो ज्ञान ही हो पाया और न वे उस कार्य से आश्वस्त एवं सन्तुष्ट ही हो पाये।

५. कुल्लूकभट्ट ने यद्यपि प्रक्षेप निकालने की प्रवृत्ति से मनुस्मृति पर कोई कार्य नहीं किया,तथापि इसने १७० श्लोकों को प्रक्षेप कोटि में रखा है। इन श्लोकों को बृहत्कोष्ठकों और पृथक्संख्या में दिखाया गया है। कुल्लूकभट्ट ने ये श्लोक तत्कालीन हस्तलिखित प्रतियों में प्राप्त अन्तर के आधार पर प्रक्षिप्त माने हैं। यह कहना चाहिये कि ये श्लोक तो वे प्रक्षिप्त श्लोक हैं,जो तब तक मनुस्मृति में

घुल-मिल नहीं पाये थे । इनसे पूर्व घुले-मिले श्लोकों पर कुल्लूक ने कोई संकेत नहीं दिया, अत: उसके द्वारा दर्शाये गये प्रक्षेपों के बावजूद भी प्रक्षेप-अनुसंधान कार्य में कोई वास्तविक योगदान नहीं हो सका । कुल्लूक का काल बहुत अर्वाचीन है । मनुस्मृति में प्रक्षेप चिर-काल से होते रहे हैं । कुल्लूक के प्रक्षेपों को तो पौराणिकों ने भी मान लिया है, किन्तु कुल्लूक का प्रयास संकेतमात्र है ।

इन कमियों के कारण अभी तक मनुस्मृति के प्रक्षेपों का अनुसन्धानकार्य प्रतिष्ठित नहीं हो सका । अब पुन: इस अनुसन्धान को नये सिरे से करने का यह एक और प्रयास किया गया है और प्रक्षिप्त श्लोकों के अनुसन्धान के लिए कुछ ऐसे सुनिश्चित 'आधार' या 'मानदण्ड' निर्धारित किये गए हैं,जो सर्वसामान्य हैं । इस सन्दर्भ में यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक और महत्त्वपूर्ण समझता हूँ कि आधार विशुद्धरूप से कृतित्व पर आधारित हैं । इसके पीछे किसी प्रकार का कोई आग्रह या मतवाद नहीं है । इसलिए आशा की जाती है कि ये सर्वमान्य हो सकेंगे । जैसे कृति सब के लिये समान है, वैसे कृतित्व को परखने के ये 'आधार' या 'मानदण्ड' भी सबके लिये समान हैं । ये सभी वर्ग के व्यक्तियों पर समानरूप से लागू होते हैं और सभी व्यक्ति उन आधारों को समानरूप से श्लोकों पर परख सकते हैं । जिन श्लोकों या प्रसंगों पर ये लागू हुए हैं,वहां तत्तत् 'आधार' का कारणपूर्वक प्रदर्शन किया गया है । उसे पढ़कर पाठक स्वयं भी इसकी परीक्षा कर सकेंगे । एक-एक प्रक्षिप्त श्लोक या प्रक्षिप्त प्रसंग पर कई-कई आधार भी एक साथ लागू होते हैं । ऐसे स्थलों पर उन सभी आधारों को लागू करके दर्शा दिया गया है । इससे उन श्लोकों की प्रक्षिप्तता और अधिक दृढ़ता से सिद्ध हो सकेगी तथा प्रक्षिप्त भाग के विवेचन में किसी सन्देह का अवसर नहीं रहेगा । जो युक्तियां या आधार स्वल्प रूप में या आंशिक रूप में लागू होती हैं, उनका भी उल्लेख उदारता से इसलिए कर दिया गया है कि वे अन्य युक्तियों या आधारों के साथ मिलकर उनकी प्रभाववृद्धि या पुष्टि करने में सहायक होंगी, उनका मण्डन करेंगी ।

इस प्रकार प्रक्षेप निकालने के इस जटिल कार्य को अधिकाधिक उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है और पूर्णत: तटस्थता का अनुसरण किया है । फिर भी यह सम्भव हो सकता है कि कुछ प्रक्षिप्त श्लोक दृष्टिगत न हो पाये हों, अर्थात् कुछ श्लोक इन 'आधारों' की पकड़ में न आ सके हों । क्यों कि, प्रक्षेप करने वाले व्यक्तियों ने अपने श्लोकों को मनुस्मृति के श्लोकों के साथ मिलाने की यथा-सम्भव कोशिशें की हैं, अत: हो सकता है कि कुछ श्लोक इतने घुला-मिला दिये हों, जो इन आधारों की पकड़ में न आ सके हों । इन आधारों की सीमा से बाहर के श्लोकों को, चाहे वे कैसी ही मान्यता वाले हैं, हमने प्रक्षेपों की दृष्टि से नहीं देखा है । यहां यह भी स्पष्ट कर देना उपयुक्त होगा कि जितने भी श्लोक प्रक्षिप्त निकाले गये हैं, उनकी प्रक्षिप्तता पर विचार करने के साथ-साथ उनकी पृष्ठभूमि में प्रक्षेप करने की प्रेरक-प्रवृत्ति क्या हो सकती है, इसका भी विचार किया गया है । क्योंकि,व्यक्ति किसी विशेष प्रवृत्ति से ही प्रेरित होकर प्रक्षेप करता है । इस प्रकार यह अनुसन्धान-कार्य कई प्रकार से पुष्ट है —

(१) सुनिश्चित मानदण्डों के आधार पर प्रक्षेप निकालने से,
(२) प्रक्षिप्त श्लोकों पर एक ही नहीं अपितु कई-कई आधार लागू होने से,
(३) प्रक्षिप्त श्लोकों के मूल में प्रक्षेप की प्रवृत्ति पर ध्यान रखने के कारण ।

इस प्रकार जो श्लोक प्रक्षिप्त निकाले हैं, उनके मौलिक होने की या प्रक्षिप्तों के बचे रहने की गुंजाइश नहीं के बराबर रह जाती है ।

कुछ श्लोक इस प्रकार के भी हैं जो स्थानभ्रष्ट हो गये हैं । प्रसंगविरोध के आधार पर पाठक उन्हें

प्रसंगविरुद्ध कह सकते हैं, किन्तु उन्हें प्रक्षेप नहीं माना जा सकता ; क्योंकि उनकी पृष्ठभूमि में प्रक्षेप करने की कोई प्रेरक-प्रवृत्ति ही प्रतीत नहीं होती । न उसका किसी प्रक्षिप्त प्रसंग से सम्बन्ध है, और न उसका मनुस्मृति की मान्यता अथवा शैली से विरोध ही आता है । ऐसे श्लोकों पर टिप्पणी देकर उन्हें यथावत् रख दिया गया है । इस प्रकार के स्थानभ्रष्ट कहे जा सकने वाले श्लोक बहुत थोड़े हैं । कुछ उदाहरणों द्वारा इस नीति को स्पष्ट कर देना उपयुक्त रहेगा —

(क) अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्धानां तु याः स्मृताः ।
ताभिः सार्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वशः ।। [१।२७ ।।]

अर्थ — पांच महाभूतों की कारणभूत विपरिणामी पांच तन्मात्राएं कही गई हैं । उनके साथ यह सम्पूर्ण जगत सूक्ष्म से स्थूल और फिर स्थूलतरादि क्रम से उत्पन्न होता है ।

इसमें एक साधारण वर्णन है । इसमें प्रक्षेप करने की कोई प्रेरक-प्रवृत्ति प्रतीत नहीं होती, और न इसमें अन्तर्विरोध है । क्योंकि, इसमें किसी प्रकार का आग्रह ही नहीं है । प्रचलित पुस्तकों में यह जिस स्थान पर है वहां पूर्वापरप्रसंग की दृष्टि से असंगत है । पूर्वापर प्रसंग कर्मों का है । किन्तु फिर भी इसे प्रक्षिप्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह एक अविरोधी और सहज वर्णन है ।

(ख) सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ।। [१।२१ ।।]

अर्थ — उस परमात्मा ने सृष्टि के प्रारम्भ में ही वेद के शब्दों से सब वस्तुओं के नामों, सबके भिन्न-भिन्न कर्मों और उनके विविध विभागों को बनाया ।

यह श्लोक भी क्रम की दृष्टि से असंगत है । वेदों की उत्पत्ति तो २३वें में कही है, जबकि वेदशब्दों से नामकरण और विभाजन पहले ही बता दिया; और २३वें तक अभी उत्पत्ति का ही प्रसंग है । वेदों के साथ उत्पत्ति-प्रसंग की पूर्णता होती है और नामकरण आदि उत्पत्ति के बाद की बातें हैं । इस प्रकार यह भी स्थानभ्रष्ट प्रतीत हुआ और इसे २३वें के पश्चात् (**अग्निवायुरविभ्यस्तु** . . . . . के बाद) उपयुक्त क्रम में रखने के लिये टिप्पणी देदी है । इससे यह क्रम बन गया कि ब्रह्म ने वेद उत्पन्न किये, फिर वेदों के द्वारा ही नामकरण और कर्मों का विभाजन हुआ । इस प्रकार यह श्लोक आगे कर्मों के प्रसंग "**कर्मणां च विवेकार्थम्**" [१।२६] से संगतिबद्ध रूप में जुड़ जाता है । इसका भी किसी प्रक्षिप्त विचार से सम्बन्ध नहीं है, और न किसी मान्यता से विरोध है । इस प्रकार प्रक्षेप की प्रवृत्ति से रहित श्लोकों को यथावत् रूप में रख दिया गया है ।

यहां यह स्पष्ट किया जाना है कि प्रक्षेप की प्रवृत्ति से रहित, किन्तु प्रक्षिप्त-प्रसंग से सम्बद्ध जो श्लोक हैं, वे श्लोक इस कोटि में ग्रहण नहीं किये गये हैं । उन्हें प्रक्षेपान्तर्गत ही स्वीकार किया है ।

पाठ-भेद की समस्या भी ऐसी समस्या है, जिसका प्रक्षिप्तता के साथ भी पर्याप्त सम्बन्ध है । बहुत से स्थानों पर प्रक्षेपकर्त्ताओं ने नया श्लोक मिलाने की अपेक्षा मौलिक श्लोक में ही पाठभेद कर दिया है । कुछ पाठभेद असावधानी से भी हुए हैं । पाठभेदों को पहचानना या उसका मौलिक रूप देना यद्यपि अपने आप में पृथक् और महत्त्वपूर्ण कार्य है, जो अत्यन्त कठिन है । फिर भी कुछ प्रक्षिप्त पाठभेदों को पहचानने की कोशिश की गई है । कोई प्रामाणिक पाठ उपलब्ध न होने के कारण मनुस्मृति की मान्यता, प्रसंग, विषय और शैली के अनुकूल जो पाठ उचित प्रतीत हुआ तथा जो अर्थ की दृष्टि से अधिक उपयुक्त और संगत लगा, उसे ही अपनाया है । अर्थ पर प्रभाव डालने वाले प्रमुख पाठभेदों में जहां भी परिवर्तन है, वहां 'अनुशीलन' नामक समीक्षा में उस पर प्रकाश डाला गया

प्रक्षेपानुसन्धान की कार्यप्रणाली का उल्लेख करने के पश्चात् अब 'आधारों' पर दृष्टिपात करना शेष रह जाता है । प्रक्षेपों के अनुसंधान के लिए कुल सात आधार निर्धारित किये गये हैं । इनमें प्रथम छह अन्त :साक्ष्य के आधार पर हैं अर्थात् मनुस्मृति की रचना शैली और मान्यताओं से इन आधारों के अन्तर्गत आने वाले श्लोकों की प्रक्षिप्तता सिद्ध होती है । सातवें आधार का स्वयं मनु ने अनेक स्थानों पर संकेत दिया है । उस संकेत के अनुसार केवल 'वेदों' को बाह्यसाक्ष्य के रूप में प्रमाण माना गया है । वे आधार निम्न हैं —

१. **विषय-विरोध ।**
२. **प्रसंग-विरोध ।**
३. **अन्तर्विरोध (परस्परविरोध) ।**
४. **पुनरुक्तियां ।**
५. **शैलीविरोध या शैलीगत आधार ।**
६. **अवान्तरविरोध (सहयोगी आधार के रूप में) ।**
७. **वेद-विरुद्ध ।**

परिभाषाओं और उदाहरणों सहित इनका विस्तृत विवेचन इस प्रकार है —

१. विषय-विरोध

मनुस्मृति कुछ मुख्य विषयों में निबद्ध है । मनु ने किसी भी विषय का प्रारम्भ या समापन करते समय अथवा दोनों ही स्थानों पर उस वर्ण्यविषय का संकेत स्वयं ही किया है । मनुस्मृति के अध्यायों का विभाजन भी लगभग मुख्य विषयों के अनुसार ही किया हुआ है, जैसे-—प्रथम अध्याय में सृष्ट्युत्पत्ति एवं धर्मोत्पत्ति, द्वितीय में संस्कार और ब्रह्मचर्याश्रम, तृतीय अध्याय में गृहस्थ (विवाह और पंचयज्ञ विधान), षष्ठ में वानप्रस्थ एवं संन्यास आदि । निश्चित विषयवाले उन वर्णनों में संकेतित विषय से भिन्न अथवा विपरीत जो श्लोक हैं, वे विषयविरुद्ध हैं ; और इस विषय-विरोध के आधार पर वे प्रक्षिप्त कहलायेंगे । वे मौलिक इसलिए नहीं माने जा सकते, क्योंकि जब मनु ने स्वयं अपने विषय को एक निश्चित सीमा में बाँधा हुआ है और साथ ही उनका संकेत भी दिया हुआ है, तो वे स्वयं विषयबाह्य वर्णन नहीं कर सकते । अत : ऐसे श्लोक मौलिक न होकर बाद में मिलाये गये हैं । यथा —

(क) **मातुलांश्च पितृव्यांश्च श्वशुरानृत्विजो गुरून् ।**
असावहमिति ब्रूयात्प्रत्युत्थाय यवीयस : ।।
मातृष्वसा मातुलानी श्वश्रूरथ पितृष्वसा ।
संपूज्या गुरुपत्नीवत् समास्ता गुरुभार्यया ।।
भ्रातुर्भार्योपसंग्राह्या सवर्णाहन्यहन्यपि ।। २।१३०-१३२ ।।
[इस संस्करण के अनुसार २।१०५-१०७]

अर्थ — (ब्रह्मचारी) मामा, चाचा, श्वसुर और ऋत्विज् आदि बड़ों को और ये छोटे भी हों तब भी उठकर 'मैं अमुक हूं' इस प्रकार नामोच्चारण पूर्वक नमस्कार करें । मौसी, मामी, सासु और बूआ, ये गुरुपत्नी के समान पूज्य हैं । उसे बड़े भाई की सवर्णा स्त्री का प्रतिदिन चरणस्पर्श करके अभिवादन करना चाहिये ।

पूर्व श्लोकों में उपनयन संस्कार का विधान करने के पश्चात् ... [इस ...

श्लोक में '**कर्मयोगं निबोधत**' कहकर ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों का वर्णन करने का कथन किया गया है। फिर २।१६४ [इस संस्करण में २।१३९]वें श्लोक में कहा है—''**अनेन क्रमयोगेन ...... गुरौ वसन् संचिनुयाद् ब्रह्माधिगमिकं तप:**'' अर्थात्—'इस पूर्वोक्त विधान के अनुसार ब्रह्मचारी गुरु के पास रहता हुआ वेदज्ञान-प्राप्तिकारक तप का संचय करे।' इससे यह स्पष्ट हुआ कि गुरुकुल में रहते हुए ब्रह्मचारी को जो कर्त्तव्य निभाने हैं, केवल उन्हीं का यहां वर्णन है। इसके अतिरिक्त २।६९ [इस संस्करण में ४४वां], १०८ [८३वां], १७५ [१५०वां], १९१-२०३ [१६६-१७८], २१९ [१९४वां], २४१-२४४ (इस संस्करण में २१६-२१९) श्लोकों से भी यही स्पष्ट होता है। ब्रह्मचारी को उपनयन संस्कार के अनन्तर समावर्तन तक गुरुकुल में ही रहने का विधान है। इसके लिए यह भी आदेश है कि सूर्यास्त के बाद गांव में न रहे [२।२१९ (इस सं. में १९४वां)]। उक्त श्लोकों में विहित कर्त्तव्य ब्रह्मचारी पर लागू ही नहीं होते। न तो ब्रह्मचारी का मामा, चाचा, मौसी आदि से सम्बन्ध पड़ता है और न भाई की पत्नी से। फिर वह कैसे प्रतिदिन चरणस्पर्श करके नमस्कार करेगा? इन श्लोकों में तो सास-ससुर को भी नमस्कार का विधान है। बताइये ब्रह्मचारी के सास-ससुर कहां से होंगे? यहां यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि ये वाक्य विधिवाक्य हैं, अर्थवाद नहीं। इस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम विषय के अन्तर्गत गृहस्थ के कर्त्तव्यों का उल्लेख विषय-विरुद्ध है। अत: ये प्रक्षिप्त हैं।

(ख) इसी प्रकार ब्रह्चर्याश्रम के कर्त्तव्यों के वर्णन में २।२२५-२३७ [इस संस्करण में २।२००-२१२] तक आचार्य, पिता और माता की सेवा का प्रसंग है—

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान्विजयेद् गृही।
दीप्यमान: स्ववपुषा देववद्दिवि मोदते॥
॥२।२३२। [२।२०७]

अर्थ—इन तीनों (आचार्य, माता, पिता) की सेवा में सावधान रहने वाला गृहस्थी तीनों लोकों को जीत लेता है और शरीर से तेजस्वी होकर देवताओं के समान स्वर्ग में आनन्द से रहता है।

ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों के बीच गृहस्थियों के कर्त्तव्यों का उल्लेख विषयविरुद्ध है। इस श्लोक में तो 'गृही' शब्द स्पष्टरूप से उल्लिखित है। इस प्रकार यह सारा ही प्रसंग प्रक्षिप्त है।

(ग) **निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधि:।**
तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिन् ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित्॥
॥२।१६। [इस संस्करण में १।१३५]

अर्थ—गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त जिसके लिए संस्कारों का वेद-मन्त्रों में विधान किया गया है, उसी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य का इस (मनुस्मृति) शास्त्र में अधिकार जानना चाहिए अन्य किसी का नहीं।

२।१ [इस संस्करण के अनुसार १।१२०] में मनु ने धर्मोत्पत्ति का विषय प्रारम्भ करने का संकेत दिया है, और २।२५ [१।१४४] में इस विषय की समाप्ति का संकेत है। धर्मोत्पत्ति के वर्णन में बिना ही प्रसंग के 'मनुस्मृति के पढ़ने के 'अधिकार-अनधिकार' का कथन विषय-विरुद्ध है, अत यह श्लोक प्रक्षिप्त कहा जायेगा।

२. प्रसंगविरोध

[illegible] विषयों को 'विषय' और प्रकरण वर्णन के छोटे-छोटे

प्रभागों या किसी चर्चा के क्रम को 'प्रसंग' की संज्ञा दी गई है । प्रचलित प्रसंग में पूर्वापर प्रसंग से भिन्न चर्चा वाले अथवा भिन्न प्रसंग को प्रारम्भ करने वाले श्लोक, एक प्रसंग के उक्त हो जाने के अनन्तर पुन : नये सिरे से तद्विषयक चर्चा या प्रसंग की शुरुआत करने वाले श्लोक, (उपसंहार और विकल्पों को छोड़कर), क्रमबद्ध वर्णन वाले प्रसंगों में यथोचित क्रम के पश्चात् अथवा पूर्व ही वर्णित क्रमविरुद्ध श्लोक, उपयुक्त स्थल अथवा प्रसंग के बिना ही कहे गये श्लोक 'प्रसंग-विरुद्ध' हैं ।

(क) प्रचलित प्रसंग में पूर्वापर प्रसंग से भिन्न चर्चा —

अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषदैविके ।
रात्रि : स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामह : ।। [१।६५।।]

पित्र्ये रात्र्यहनी मास : प्रविभागस्तु पक्षयो : ।
कर्मचेष्टास्वह : कृष्ण : शुक्ल : स्वप्नाय शर्वरी ।। [१।६६।।]

दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयो : पुन : ।
अहस्तत्रोदगयनं रात्रि : स्याद्दक्षिणायनम् ।। [१।६७।।]

अर्थ —सूर्य मानवीय तथा दैवी दिन-रातों का विभाग करता है । रात प्राणियों के सोने के लिए और दिन चलने-फिरने आदि चेष्टा तथा कार्यों के लिए होता है [१।६५] । मनुष्यों का महीना पितरों का एक दिन-रात होता है । और मास का जो दो पक्षों में विभाग है, उसमें कृष्णपक्ष कर्म करने के लिए पितरों का दिन और शुक्लपक्ष सोने के लिए रात होती है [१।६६] । मनुष्यों का एक वर्ष देवों का एक दिन-रात होता है । उसमें छ : मास उत्तरायण देवों का दिन और छ : मास दक्षिणायन देवों की रात्रि होती है [१।६७] ।

इनमें ६६वां श्लोक पूर्वापर प्रसंग से भिन्न चर्चा का वर्णन कर रहा है, अत : प्रसंगविरुद्ध है । इस श्लोक ने पूर्वापर प्रसंग को भंग कर दिया है । ६५वें श्लोक में '**मानुषदैविके**' पदों के उल्लेख से यह स्पष्ट है कि आगे मनुष्य और देवताओं के दिन-रात का वर्णन करना ही रचयिता को अभीष्ट है । संकेत के अनुसार मनुष्यों के दिन-रात का वर्णन तो ६५वें में ही वर्णित हो चुका । अब देवताओं के दिन-रात का वर्णन शेष रहा, वह ६७वें में वर्णित है । किन्तु प्रक्षेपकों ने उस क्रम को भंग करके बीच में पितरों के दिन-रात का वर्णन डाल दिया, जबकि इसको कहने की कहीं चर्चा ही नहीं है । इस प्रकार ६६वां श्लोक प्रसंगविरुद्ध है । मृतकश्राद्ध की मान्यता रखने वाले व्यक्तियों ने अपनी 'मृत-पितर' सम्बन्धी मान्यता को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने के लिए यह प्रक्षेप किया है ।

(ख) प्रचलित एक प्रसंग को भंग करके पूर्वापर से भिन्न नये प्रसंग का प्रारम्भ —

एक प्रसंग का प्रारम्भ —

चतुर्णामपि वर्णानां प्रेत्य चेह हिताहितान् ।
अष्टाविमान्समासेन स्त्रीविवाहान्निबोधत ।। [३।२०।।]
ब्राह्मो दैवस्तथैवार्ष : प्राजापत्यस्तथासुर : ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधम : ।। [३।२१।।]

अर्थ — चारों वर्णों के लिए लोक तथा परलोक में हित तथा अहित करने वाले आठ विवाह संक्षेप से ये जानने चाहिएं — (१) ब्राह्म (२) दैव (३) आर्ष (४) प्राजापत्य (५) आसुर (६) गान्धर्व (७) राक्षस (८) पैशाच ।

इस पूर्वप्रसंग को भंग करके मध्य में ही एक नये प्रसंग का प्रारम्भ —

यो यस्य धर्म्यो वर्णस्य गुणदोषौ च यस्य यौ ।
तद्वः सर्वं प्रवक्ष्यामि प्रसवे च गुणागुणान् ।। [३।२२ ।।]

X X X X

पृथक्पृथग्वा मिश्रौ वा विवाहौ पूर्वचोदितौ ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ ।। [३।२६ ।।]

अर्थ — जिस वर्ण के लिए जो विवाह धर्मानुकूल है और जिस विवाह के जो गुण तथा दोष हैं और उत्पन्न सन्तान के भी जो गुण-दोष हैं, उन सब को तुम्हारे लिए कहूँगा । अलग-अलग अथवा मिलाकर पहले बताए गान्धर्व और राक्षस विवाह क्षत्रिय के लिए धर्मयुक्त माने गये हैं ।

३।२०-२१ से प्रारब्ध पहले वाले मौलिक भग्नप्रसंग का पुनः प्रारम्भ —

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम् ।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ।।[३।२७।।]
यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते ।
अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ।।[३।२८ ।।]

अर्थ — विद्या और शील वाले वर को बुलाकर, वस्त्रादि से युक्त एवं सम्यक् सत्कार करके कन्या देना 'ब्राह्म' विवाह कहलाता है [३।२७] । ऋत्विक् के द्वारा विस्तृत यज्ञ-कर्म करने पर वस्त्राभूषणादि से अलंकृत करके कन्या का दान करना 'दैव' विवाह कहलाता है [३।२८] ।

यहां २०वें श्लोक में मनु ने आठ विवाहों को कहने का संकेत दिया है, और २१वें में उन विवाहों के नामों का उल्लेख है । इसके पश्चात् प्रसंग के अनुसार उपयुक्त यह था कि उनकी परिभाषाएं वर्णित हों — जो कि २७ से ३४ श्लोकों में हैं । किन्तु उस प्रसंग को बीच में ही तोड़कर प्रक्षेपक ने एक नया प्रसंग २२ से २६ श्लोकों में चलाया है, जिसमें यह बताया गया है कि किस वर्ण के लिए कौन-कौन सा विवाह धर्मानुकूल है । मनु को वर्णानुसार विवाह की श्रेष्ठता मान्य नहीं है, अपितु वे विधि के रूप में ही विवाह की श्रेष्ठता और अश्रेष्ठता मानते हैं । यह मान्यता उन्होंने विधिवर्णन वाले श्लोकों में ही स्पष्टतः दर्शायी है । ३९ से ४२ श्लोकों से भी यही सिद्ध होता है । इस प्रकार मध्यवर्ती प्रसंग प्रसंगविरुद्ध है, अतः प्रक्षिप्त है । ये श्लोक ऊंच-नीच और पक्षपात की भावना से प्रेरित प्रक्षेप हैं ।

(ग) क्रमबद्ध वर्णन वाले प्रसंगों में यथोचित क्रम के पश्चात् आने वाले क्रम-विरुद्ध श्लोक —

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः ।। [१।३२ ।।]

अर्थ — वह ब्रह्मा अपने शरीर के दो भाग करके आधे से पुरुष और आधे से नारी बन गये, फिर उस नारी में 'विराट्' को उत्पन्न किया ।

X X X

अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम् ।
पतीन्प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश ।। [१।३४ ।।]

अर्थ — मैंने (मनु ने) प्रजाओं की सृष्टि करने की इच्छा से कठिन तपस्या की और फिर दश प्रजापति महर्षियों को उत्पन्न किया ।

X X X

एवमेतैरिदं सर्वं मन्नियोगान्महात्मभि: ।
यथाकर्म तपोयोगात्सृष्टं स्थावरजंगमम् ।। [१।४१ ।।]

अर्थ — इस प्रकार इन महर्षियों ने मेरी आज्ञा से तप करके फिर सारे स्थावर जंगम जगत् को उत्पन्न किया ।

यहां विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि मनुस्मृतिकार एक निश्चित प्रक्रिया से क्रमश: प्रकृति, महत्, अहंकार, पञ्चतन्मात्राएं, इन्द्रियां और मन, पञ्चमहाभूत, इन तत्त्वों से स्थावर-जंगम सृष्टि की उत्पत्ति मानता है [१ । १४-२१] । पिछले श्लोकों में इसी क्रम से सृष्टि-उत्पत्ति दर्शाते हुए १ । १६-१८ श्लोकों द्वारा सभी प्रजाओं की 'उत्पत्ति हो चुकी' दर्शायी जा चुकी है । फिर १ । १९-२१ श्लोकों द्वारा संक्षेप में अन्य समस्त संसार की उत्पत्ति का कथन कर दिया । इस प्रकार प्रजाओं (प्राणियों) और अन्य जगत् की उत्पत्ति का क्रमबद्ध प्रसंग पूरा हो गया । इसके पश्चात् १।२२-३१ श्लोकों में उत्पन्न हुए प्राणियों के साथ कर्मसंयोग आदि का प्रसंग चला है । फिर एक नया प्रसंग शुरू किया गया है, जिसमें ब्रह्मा द्वारा अभी स्त्री और पुरुष का निर्माण होना कहा जा रहा है । मनु द्वारा अभी प्रजाओं को उत्पन्न करने की इच्छा ही की जा रही है । महर्षियों द्वारा स्थावर और जंगम जगत् की उत्पत्ति कही जा रही है ! जबकि पिछले श्लोकों में प्राणियों की उत्पत्ति होने पर उनके कर्मों का भी विवेचन किया जा चुका । इस प्रकार यह प्रसंग क्रमविरुद्ध है । यदि यह मौलिक होता तो १ । १६ में प्राणियों की उत्पत्ति दर्शाने से पूर्व इसका क्रमोचित वर्णन होता । लेकिन क्रम में यह जुड़ नहीं पाया । अत: प्रक्षेपक को बाद में डालना पड़ा । इस प्रकार इन श्लोकों की क्रमविरुद्धता इन्हें प्रक्षिप्त सिद्ध कर रही है । अन्य 'अन्तर्विरोध' आदि आधारों पर भी ये प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं । ये श्लोक ब्रह्मा द्वारा सृष्टि उत्पन्न करने वाली नवीन वेदान्त की मान्यता से प्रभावित पौराणिक कल्पना की देन हैं । मिथ्या कल्पनाओं द्वारा ब्रह्मा के साथ सम्बन्ध जोड़कर मनु और मनुस्मृति आदि को अलौकिक सिद्ध करने की भी प्रवृत्ति इनमें लक्षित होती है ।

(घ) क्रमबद्ध वर्णन वाले प्रसंगों में यथोचित क्रम से पूर्व ही आने वाले क्रमविरुद्ध श्लोक —

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामह: ।। १ । ९ ।।

अर्थ — वह 'अप्' तत्त्व हिम-सा शुभ्र और सूर्य-सा चमकीला अण्डाकार बन गया । उसमें से सब लोकों के पितामह स्वयं ब्रह्मा उत्पन्न हुए ।

X X X X

तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम् ।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद्द्विधा ।। १ । १२ ।।

अर्थ — उस अण्डे में भगवान् ने परिवत्सर (कल्प का शतांशसमय) तक निवास किया और तत्पश्चात् ध्यान से उस अण्डे के दो विभाग कर दिए ।

X X X X

ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे ।
मध्ये व्योमदिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम् ।। १ । १३ ।।

अर्थ — अण्डे के उन दो खण्डों से द्युलोक,पृथिवी की रचना की और इनके मध्य में आकाश, आठ दिशाओं और जलों के शाश्वत स्थान (अन्तरिक्ष) को बनाया ।

यह १ । ९, १२, १३ श्लोकों का एक प्रसंग है । इसमें एक अण्डे के द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति दर्शायी गयी है । ब्रह्मा ने उस अण्डे में रहकर उसको दो टुकड़ों में विभक्त कर दिया । उसके उन टुकड़ों से द्युलोक, पृथिवीलोक, आकाश, समुद्र आदि बने ।

मनुस्मृति की सृष्टि-उत्पत्ति-प्रक्रिया और उसके क्रम के बारे में पिछले 'ग' भाग में पर्याप्त विवेचन किया गया है । इस उदाहरण को समझने के लिए भी उसे ध्यान में रखना आवश्यक है । महत् आदि तत्त्वों की प्रक्रिया और क्रम से सृष्टि उत्पत्ति का वर्णन करते हुए १ । १९-२१ श्लोकों में पूर्णत : सृष्टि के बनने का क्रम आता है । उनका निर्माण १४ से २१ श्लोकों में है,लेकिन इस प्रसंग में उनके बनने से पूर्व ही द्युलोक, पृथ्वीलोक आदि की स्थूल सृष्टि बनी दिखा दी । प्रश्न उठता है कि जब उसके प्राकृततत्त्व ही नहीं बने हैं तो ये पृथ्वी आदि किस वस्तु से बन गये ? यदि यह प्रसंग मौलिक होता तो इसका वर्णन क्रमोचित ढंग से १।१५ के पश्चात् अथवा १८ के पश्चात् होता । लेकिन वहां यह नहीं जोड़ा जा सका, अत : पूर्व ही डाल दिया । इस प्रकार क्रमविरोधिता के कारण उक्त श्लोकों का यह प्रसंग 'प्रसंगविरुद्ध' है । ये श्लोक अन्तर्विरोध के आधार पर भी प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं । इस प्रकार की सृष्टि-उत्पत्ति की पौराणिक कल्पना नवीन वेदान्त के आधार पर की जाती है । उसी आग्रह के कारण यहाँ ये प्रक्षेप किये गये प्रतीत होते हैं ।

(ङ.) उपयुक्त स्थल अथवा प्रसंग के बिना ही कहे गये श्लोक —

जगतश्च समुत्पत्तिं संस्कारविधिमेव च ।
व्रतचर्योपचारं च स्नानस्य च परं विधिम् ।। [१।१११ ।]
देशधर्मान् जातिधर्मान् कुलधर्मांश्च शाश्वतान् ।
पाखण्डगणधर्मांश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुक्तवान् मनुः ।। [१।११८ ।]

अर्थ — मनुस्मृति में जगदुत्पत्ति, संस्कारों की विधि, व्रतचर्या और स्नान की विधि क्रमश: कही है । इस शास्त्र में मनु ने देश, जाति और कुलों के धर्मों तथा पाखण्डियों के अवैदिक कर्मों का वर्णन किया है ।

यह १११-११८ श्लोकों का एक प्रसंग है । इसमें मनुस्मृति की विषय सूची दी गई है । यहां विचारणीय बात यह है कि विषयसूची का उपयुक्त स्थान या तो किसी ग्रन्थ के प्रारम्भ में होता है, या फिर अन्त में ही । बिना ही पूर्वापर प्रसंग के कहीं भी विषयसूची का कथन कर देना किसी भी विद्वान् का कार्य नहीं हो सकता । इन श्लोकों के लिए यह उपयुक्त स्थल नहीं है, अपितु बलात् ठूँसे हुए प्रतीत होते हैं । इस आधार पर यह प्रसंग प्रक्षिप्त है । दो अन्य प्रमाण भी इनको प्रक्षेप सिद्ध करने में दिए जा सकते हैं — (१) मनुस्मृति की ऐसी शैली ही नहीं है जिसमें विषयसूची का प्रदर्शन करने का अवसर आ सके । इसकी प्रवचन-शैली है और प्रत्येक प्रवचन या विषय,पूर्वापर विषयों से शृंखलावत् जुड़े हैं । मनु की यह शैली है कि वे किसी विषय को प्रारम्भ या समाप्त करते समय अथवा दोनों स्थानों पर उसका संकेत करते हैं । शैली की अखण्डता के कारण उसमें साथ-साथ ही विषयों का संकेत होता रहता है, अत : पृथक् से विषयसूची की आवश्यकता ही नहीं रहती । इसीलिए मनु ने

कहीं मनुस्मृति के विषयों की सूची प्रदर्शित करने के लिए कोई प्रसंग भी प्रारम्भ नहीं किया। इस प्रकार यहां जो ये श्लोक वर्णित हैं, ये मनु की इस शैली के नहीं हैं; इस कारण भी ये प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं। (२) जिस स्थान पर ये वर्णित हैं, यहां पूर्वापर प्रसंग सृष्टि-उत्पत्ति और धर्मोत्पत्ति का है। क्रमश: ये १।५ और १।१०८ तथा २।१ से प्रारम्भ होकर २।२५ में समाप्त हुए हैं. इन विषय-संकेतों के अनुसार इनका बीच में वर्णन विषय और प्रसंगविरुद्ध भी है; क्योंकि ये क्रमबद्ध प्रसंगों को भंग कर रहे हैं। इस आधार पर भी ये प्रक्षिप्त है।

इस प्रकार उपयुक्त स्थल और प्रसंग के बिना कहे गये श्लोक 'प्रसंगविरुद्ध' प्रक्षेप माने गये हैं। परवर्तीकाल में मनुस्मृति को अध्याय-अनुसार व्यवस्थित करने वाले व्यक्ति ने ही ये श्लोक जोड़े लगते हैं।

३. अन्तर्विरोध (परस्परविरोध)

मनुस्मृति में जिन बातों में विरोध आता है अथवा एक मान्यता का दूसरी मान्यता जहां खण्डन करती है उसे 'अन्तर्विरोध' कहा गया है। ऐसे वर्णन वाले श्लोकों में, निश्चित है कि एक ही मान्यता मौलिक है, दूसरी प्रक्षिप्त। मनुस्मृति एक ही लेखक की रचना है। उसमें वर्णित मान्यताओं में किसी प्रकार का विरोध नहीं होना चाहिए, और किसी विशिष्ट विद्वान् की रचना में तो ऐसे विरोधों की आशा ही नहीं की जा सकती। फिर भी यह त्रुटि स्पष्टत: मिलती है। स्पष्ट है कि एक मान्यता अवश्य प्रक्षिप्त है। ऐसे वर्णनों में मौलिक मान्यता को मनुप्रोक्त मानकर दूसरी को 'अन्तर्विरुद्ध' या 'परस्परविरुद्ध' आधार पर प्रक्षिप्त माना गया है। कुछ अन्तर्विरोधी उदाहरण प्रस्तुत हैं —

(क) नवम अध्याय के ५७-६३ श्लोकों में स्त्रियों के लिए आपत्कालीन धर्म बतलाये हुए हैं। सन्तान के अभाव में यहाँ नियोग का विधान किया है। यह मान्यता शैली के अनुरूप और मौलिक है। एक श्लोक में विधान है —

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया।
प्रजेप्सिताऽधिगन्तव्या संतानस्य परिक्षये॥ [९।५९॥]

अर्थ — सन्तान का क्षय (अभाव) होने पर अपने पति की या समाज की आज्ञा से देवर या अन्य सपिण्ड पुरुष से इच्छित सन्तान प्राप्त कर लेनी चाहिये।

किन्तु जैसे ही यह प्रसंग पूर्ण होता है, इस विचार के विरोधी व्यक्तियों ने इसके खण्डन में श्लोक मिला दिये हैं। उन श्लोकों में नियोग का निषेध है। इसे गर्हित और साधुपुरुषों द्वारा निन्दित कहा है, और इसके प्रचलन में विकृत कारण का उल्लेख दर्शाया है। ये ६४ से ६८ तक पांच श्लोक खण्डन के प्रसंग के हैं। इस प्रसंग के दो श्लोक प्रस्तुत हैं —

नान्यस्मिन् विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभि:।
अन्यस्मिन् हि नियुञ्जाना धर्मं हन्यु: सनातनम्॥ [॥९।६४॥]

अर्थ — द्विजाति लोग विधवा नारी को अन्य देवर अथवा सपिण्ड पुरुष में नियोग की आज्ञा न दें। जो नियोग कराते हैं, वे सनातन धर्म को नष्ट करते हैं।

अयं द्विजैर्हि विद्वद्भि: पशुधर्मो विगर्हित:।
मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति॥ [९।६६॥]

अर्थ — इस नियोग-प्रथा को विद्वानों ने पशुधर्म कहा है। यह राजा वेन के समय मनुष्यों मे

प्रचलित हुआ है।

इनमें ६४-६८ श्लोकों का प्रसंग मौलिक नहीं है। इसे बाद में किसी ने खण्डन के लिए मिलाया है। अत: 'अन्तर्विरोध' या 'परस्पर विरोध' के कारण ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं। वेद में जिस का कथन हो, उसको थोड़े समय से प्रचलित कहना ठीक नहीं। मनुस्मृति स्वयं आदि सृष्टि की है। इस लेख से यह सिद्ध है कि मनु का पूर्व लेख नियोग-प्रतिपादन का है। राजा वेन मनु से बहुत बाद का है।[1]

(ख) 'अहिंसापालन' अथवा **'हिंसानिषेध'** की मान्यता मनुस्मृति की उन मान्यताओं में से एक है जिन पर मनुस्मृतिरूपी प्रासाद टिका हुआ है। जो व्यक्ति हिंसा, मांसभक्षण तथा पशुयज्ञ को मनुस्मृतिसम्मत मानते हैं वे मनु और मनुस्मृति के साथ अन्याय करते हैं; और वे वस्तुत: इनके साथ ईमानदार नहीं है। मनु ने प्रत्येक प्रकार की हिंसा को पाप माना है और स्थान-स्थान पर अहिंसा-पालन के लिए बल दिया है। अहिंसा की मान्यता मनुस्मृति की कितनी दृढ़ आधारभूत मान्यता है, इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि मनु ने गृहस्थी-जनों के लिए जो नैत्यिक पञ्चमहायज्ञों का अनिवार्य विधान किया है, उसके मूल में हिंसा-निवृत्ति की भावना ही है। गृहस्थों द्वारा प्रतिदिन अज्ञान और विवशतावश होने वाली छोटी-छोटी हिंसाओं के प्रायश्चित्त के लिए ही पञ्चमहायज्ञों का करना आवश्यक बताया है—

पञ्चसूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्कर:।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्॥ [३।६८॥]

अर्थ— गृहस्थी के यहां चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ओखली, जल का घड़ा, ये पांच हिंसा के स्थान हैं। इनको व्यवहार में लाता हुआ गृहस्थी हिंसा के पापों से बंधता है।

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभि:।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञा: प्रत्यहं गृहमेधिनाम्॥ [३।६९॥]

अर्थ— उनके प्रायश्चित्त के लिए महर्षियों ने गृहस्थी के लिए क्रमश: पांच महायज्ञों का दैनिक विधान किया है।

इसके अतिरिक्त मनु ने अनेक स्थानों पर हिंसा का स्पष्ट निषेध भी किया है और हिंसक की निन्दा की है।—

(अ) वर्जयेन् मधुमांसं च प्राणिनां चैव हिंसनम्॥ २।१७७॥
[इस संस्करण में १५२ वां]

अर्थ— मद्य-पान, मांस-भक्षण तथा प्राणियों की हिंसा को छोड़ देवे।

(आ)— हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते॥ [४।१७०॥]

अर्थ— जो नित्य हिंसा के कर्मों में रत रहता है, वह इस संसार में सुख प्राप्त नहीं करता है।

(इ) नाकृत्वा प्राणिनां हिंसा मांसमुत्पद्यते क्वचित्
न च प्राणिवध: स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् [॥५।४८॥]

अर्थ— प्राणियों की हिंसा के बिना कहीं मांस की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। और प्राणियों का वध

१. महाभारत में वेन नाम के दो राजाओं का उल्लेख आता है। एक— वैवस्वत मनु के दश पुत्रों में से एक था (महा. आ. ७०।१३)। दूसरा — अंग देश का एक दुष्टकर्मा राजा था, जो कर्दमपुत्र अनंग का पुत्र था। इससे राजा पृथु का जन्म हुआ (शा. ५९।९६-९९)। इस प्रकार दोनों ही राजा स्वायम्भुव मनु से पर्याप्त परवर्ती हैं। यहां अंगराजा वेन का ही वर्णन है।

सुख देनेवाला नहीं है। इसलिए मांस को सर्वथा छोड़ देना चाहिए।

मनु ही वे पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने हिंसा के लिए सलाह देने वाले व्यक्ति को भी पाप का भागीदार घोषित किया है। मांसप्राप्ति में किसी भी रूप से सम्बद्ध व्यक्ति मनु के मत से 'घातक' है। मनु ने हिंसा से सम्बद्ध सभी व्यक्तियों को 'घातक' घोषित करके अपनी अहिंसा की दृढ़ मान्यता को असंदिग्ध रूप से स्पष्ट कर दिया है। वे 'घातक (पापी) ये हैं —

(ई) अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च खादकश्चेति घातका:।। [५।५१।।]

अर्थ — सलाह देने वाला, काटने वाला, मारने वाला, खरीदने और बेचने वाला, पकाने वाला, लानेवाला और खाने वाला, ये सभी घातक (पापी) हैं।

अहिंसा के समर्थन में और हिंसा की निन्दा में इतना सब कुछ लिखने वाले व्यक्ति के ग्रन्थ में कहीं मांसभक्षण की बात को मौलिक मान लिया जाये तो यह दुस्साहस ही कहा जायेगा। इतनी स्पष्ट मान्यता होते हुए भी मनुस्मृति में मांसभक्षण, पशुयज्ञ और हिंसापरक श्लोकों को मिला दिया गया —

(अ) नानिष्ट्वा नवसस्येष्ट्या पशुना चाग्निमान् द्विज:।
नवान्नमद्यान्मांसं वा दीर्घमायुर्जिजीविषु:।। [४।२७।।]

अर्थ — अग्नियाँ नवान्न और मांस की लोलुप होती हैं। अतएव जो द्विज नये अन्न और पशु-मांस से अग्नि में हवन नहीं करते, उनके प्राणों को ही अग्नियां खाना चाहती हैं।

(आ) पांचवें अध्याय में ११ से ४७ तक मांसभक्षण का विधान

(इ) तृतीय अध्याय में १२२ से २८४ तक श्राद्ध में विभिन्न मांसों के खाने का विधान।

ये तथा मनुस्मृति के सभी हिंसा-समर्थक श्लोक उपर्युक्त मौलिक मान्यता के विरुद्ध होने के कारण 'अन्तर्विरोध' आधार पर प्रक्षिप्त हैं। इन श्लोकों का प्रक्षेप स्वार्थी पंडितों तथा वाममार्गियों ने किया है। (अन्य प्रमुख अन्तर्विरोधों को जानने के लिए देखिये — 'मनुस्मृति की प्रमुख मौलिक मान्यताएं' शीर्षक विवेचन)।

४. पुनरुक्तियां —

पहले कही हुई बात को विशिष्ट अभिप्राय के बिना पुन: कहना पुनरुक्ति है। ये पुनरुक्तियां बिल्कुल ज्यों की त्यों तो नहीं हैं, किन्तु अनेक स्थानों पर प्रक्षेपकर्त्ताओं ने अपने भाव को सिद्ध करने के लिए पूर्व प्रोक्त अंशों को आवश्यकतानुसार ग्रहण कर लिया है। उन्हें पढ़कर यह प्रतीत होता है कि इस अंश को पुन: ग्रहण करने की नितान्त आवश्यकता नहीं थी। अनावश्यक रूप से पुनरावृत्त वे अंश उसके प्रक्षेप होने का संकेत देते हैं। यथा —

(क) मनु सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन करते हुए, क्रमानुसार जगत् की प्रकटावस्था के माध्यम से ही परमात्मा की प्रकटता-रूप उत्पत्ति का वर्णन करते हैं —

तत: स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यंजयन्निदम्।
महाभूतादिवृत्तौजा: प्रादुरासीत्तमोनुद:।। [१।६।।]

अर्थ — तब अपने कार्यों को सम्पन्न करने में स्वयं समर्थ, महत्, पञ्चमहाभूत आदि तत्वों को उत्पन्न करने की अमित शक्ति से युक्त, स्थूलरूप में प्रकट न होने वाला परमात्मा इस समस्त संसार को प्रकटावस्था में लाते हुए ही प्रकट हुआ।

इससे अगला ही श्लोक है —

योऽसावतीन्द्रियग्राह्य : सूक्ष्मोऽव्यक्त : सनातन : ।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्य : स एव स्वयमुद्बभौ ।। [१ । ७ ।।]

अर्थ – जो यह परमात्मा इन्द्रियों से ग्रहण न कर सकने योग्य, सूक्ष्म, अव्यक्त, सनातन, सब प्राणियों का आश्रयस्थान और अचिन्त्य है ; वही अपने आप उत्पन्न हुआ ।

इस श्लोक में कोई नयी बात न होकर कुछ नए विशेषणों के साथ छठे श्लोक के भावों को ही पुन : कह दिया है । छठे श्लोक में परमात्मा का प्रकट होना कहा था, इसमें भी केवल परमात्मा की उत्पत्ति कही है । '**अव्यक्त :**' की ज्यों की त्यों, और '**स्वयम्भू :**' की '**स एव स्वयमुद्बभौ**' के रूप में पुनरुक्ति है । इस प्रकार 'पुनरुक्ति' के आधार पर यह श्लोक प्रक्षिप्त है ।

यह पुनरुक्ति क्यों की गई ? प्रसंगानुसार यह स्पष्ट कर देना भी इसको प्रक्षेप समझने में पोषक सिद्ध होगा । छठे श्लोक में परमात्मा की प्रकटता या उत्पत्ति, जगत् की प्रकटता के रूप में ही मानी है अर्थात् वैसे तो परमात्मा अव्यक्त है, प्रकट जगत् से ही उसका होना अनुमित होता है । किन्तु अग्रिम ७-१३ श्लोक पौराणिक कल्पना के आधार पर किये गये प्रक्षेप हैं जिनमें ब्रह्मा की उत्पत्ति दर्शायी गयी है । उसे सिद्ध करने के लिए ही सातवें श्लोक में '**योऽसौ**' कहकर एक नया प्रसंग शुरू किया गया । उसकी भूमिका के लिए प्रक्षेपक को विवश होकर यह पुनरावृत्ति करनी पड़ी, अन्यथा एक बार छठे श्लोक में कहने के बाद उसकी आवश्यकता ही नहीं रही थी । यह ब्रह्मा की उत्पत्ति का प्रसंग मनुस्मृति की उत्पत्ति-प्रक्रिया [१४-२१] के विरुद्ध है । इसे मनुस्मृतिसम्मत बनाने के लिए यह प्रसंग डाला गया है । किन्तु कपड़े के पैबन्द की तरह यह स्पष्टत : प्रक्षिप्त दिखाई पड़ रहा है ।

(ख) पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता ।
सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भि : साध्वीति चोच्यते ।। [५ । १६५ ।।]

(या) जो स्त्री (मन :-वाक्-देह-संयता) मन, वाणी और शरीर को संयम में रखकर (पतिम् न + अभिचरति) पति के विरुद्ध आचरण नहीं करती (सा) वह (भर्तृलोकम् + आप्नोति) पतिलोक अर्थात् पति के हृदय में आदर का स्थान प्राप्त करती है (च) और (सद्भि : 'साध्वी' + इति उच्यते) श्रेष्ठ लोग उसको 'पतिव्रता या अच्छी पत्नी' कहकर प्रशंसा करते हैं ।। १६५ ।।

इस श्लोक की ९ । २९ में अक्षरश : पुनरुक्ति है, जो अनावश्यक है । अत : ९ । २९ स्थल पर यह पुनरुक्ति प्रक्षेप माना गया है ।

(ग) ५ । १३४ श्लोक भी ९ । ३० में अक्षरश : पुनरुक्त है । वह अन्य आधारों पर भी प्रक्षिप्त सिद्ध होता है, अत : दोनों स्थानों पर ही प्रक्षिप्त माना गया है ।

(घ) ८ । ३४२ में शस्त्र औषध आदि चुराने वाले चोरों को देशकाल के अनुसार दण्ड देने का कथन हो चुका है —

महापशूनां हरणे शस्त्राणामौषधस्य च ।
कालमासाद्य कार्यं च दण्डं राजा प्रकल्पयेत् । [८ । ३२४ ।।]

अर्थ — हाथी आदि बड़े पशुओं, शस्त्रों तथा औषध की चोरी पर राजा समय और कार्य के अनुसार दण्ड देवे ।

इसकी पुनरुक्ति —

सीताद्रव्यापहरणे शस्त्राणामौषधस्य च ।
कालमासाद्य कार्यं च राजा दण्डं प्रकल्पयेत् ।। [९ । २९३ ।।]

अर्थ — खेती के उपकरण हल आदि, शस्त्रों तथा औषध की चोरी करने पर राजा समय और कार्य के अनुसार दण्ड देवे ।

यहां पहले पद को छोड़कर शेष बातों की यथावत् पुनरुक्ति है । पूर्व श्लोक अपने प्रसंग में है और यह अप्रासंगिक रूप से उक्त है । इस प्रकार 'पुनरुक्ति' होने से यह प्रक्षिप्त है ।

५. शैलीगत आधार अथवा शैली-विरोध —

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि सम्पूर्ण मनुस्मृति का प्रणेता एक ही व्यक्ति है । मनुस्मृति की शैली गम्भीर, संतुलित, साधार, युक्तियुक्त एवं पक्षपात की भावना से रहित है; किन्तु बीच-बीच में अतिसामान्य, निराधार, अयुक्तियुक्त, अतिशयोक्तिपूर्ण और पक्षपातपूर्ण शैली के श्लोक भी आजाते हैं । यह निश्चित है कि यह विरोधी भिन्नता एक ही प्रणेता की शैली में नहीं हो सकती । मनु एक विद्वान् ऋषि थे, अत : कहा जा सकता है कि दूसरी शैली के श्लोक मनुप्रोक्त न होकर प्रक्षिप्त हैं । मनुस्मृति के अनुशीलन से जो शैलियां मनुसम्मत प्रतीत नहीं हो पाईं, उन्हें दो विभागों में रखा गया है ।

१. **मनु की शैली से भिन्न शैलियां —**

 क. रचना-शैली-सिद्ध भिन्नताएं ।

२. **वर्णन-शैली से विरुद्ध शैलियां —**

 ख. निराधार एवं अयुक्तियुक्त शैली ।

 ग. अतिशयोक्तिपूर्ण शैली ।

 घ. पक्षपातपूर्ण शैली घृणा, निन्दा, अपशब्द, ऊंच-नीच, स्पृश्यास्पृश्यप्रेरित) ।

मनुसम्मत मौलिक शैलियां न होने के कारण इन शैलियों के श्लोकों को प्रक्षिप्त माना गया है । मनु की मौलिक शैलियों की विस्तृत समीक्षा 'मनुस्मृति की शैलियां' शीर्षक विवेचन में की गई है । शैलियों के निर्धारण की पद्धति पर भी वहीं विचार किया गया है । यहां केवल संक्षिप्त स्पष्टीकरण के साथ उनके उदाहरण ही प्रदर्शित किये जा रहे हैं ।

(क) रचना-शैलीसिद्ध भिन्नता —

रचना की दृष्टि से मनुस्मृति की 'प्रवचनशैली' है, अर्थात् मनुस्मृति मूलत : प्रवचन है । मनुस्मृति में प्रवचन के लिए जितने भी विषय या प्रकरण चुने गये हैं, उनके प्रारम्भ या समापन में, अथवा दोनों स्थानों पर क्रमश : उनके प्रारम्भ करने और समापन करने का प्रयोग किया है । इन सभी स्थानों पर 'सुनने-सुनाने' की क्रियाओं का प्रयोग किया है । ये सभी प्रवचन एक शैली में शृंखलावत् जुड़े हुए हैं । इस शैली के आधार पर निम्न निष्कर्ष निकलते हैं —

(अ) मनुस्मृति मूलत : कोई पूर्वनिबद्ध शास्त्र नहीं था । मनु द्वारा ऋषियों की जिज्ञासा के उत्तर में जो प्रवचन दिये गये, उनका संकलन होने पर वह 'शास्त्र' कहलाया । इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रवचनों को कोई प्रवक्ता स्वयं 'शास्त्र' नहीं कह सकता, अथवा क्रमश : दिये जा रहे अपने प्रवचनों को ग्रन्थ के रूप में वर्णित नहीं कर सकता है । यह रूप तो बाद में बनता है । इसलिए मनुस्मृति में जहां भी इसे पूर्वनिबद्ध 'शास्त्र' या 'ग्रन्थ' के रूप में वर्णित किया है, वे श्लोक परवर्ती काल में किये गये प्रक्षेप हैं, जबकि मनुस्मृति संकलित होकर निबद्ध 'शास्त्र' या 'ग्रन्थरूप में आ चुकी थी । यथा —

(१) इदं शास्त्रमधीयानो ब्राह्मण :शंसितव्रत : ।
मनो वाग्देहजैर्नित्यं कर्मदोषैर्न लिप्यते ।। [१ । १०४ ।]

अर्थ — इस शास्त्र को पढ़कर इसके अनुसार कर्त्तव्य व्रतों को करने वाले ब्राह्मण को मन वाणी और देह के कर्मों से उत्पन्न होने वाले दोष (पाप) नहीं लगते ।

(२) नै :श्रेयसमिदं कर्म यथोदितमशेषत : ।
मानवस्यास्य शास्त्रस्य रहस्यमुपदिश्यते ।। [१२ । १०७ ।]

अर्थ — मोक्ष-प्राप्ति के साधक सब कर्मों का वर्णन कर दिया । अब मानवशास्त्र के रहस्य का उपदेश किया जाता है ।

इस प्रकार के श्लोक मनुस्मृति-परम्परा के शिष्यों द्वारा प्रशंसा और महत्त्ववर्धन की दृष्टि से मिलाये गये हैं ।

(आ) इस प्रकार इस शैली में,मूल प्रवचनों के संकलन में स्वयं मनु का नाम भी प्रयुक्त नहीं हो सकता,और न भृगु का नाम आना ही युक्तसंगत जंचता है । इसलिए जो भी श्लोक मनु और भृगु के नाम से वर्णित हैं,वे इस शैली के आधार पर प्रक्षिप्त हैं । उनकी भाषा-प्रयोग.-शैली भी यही सिद्ध करती है कि वे मनुप्रोक्त बातों का मूलसंकलन नहीं हैं । वे उनके नाम से किसी अन्य व्यक्ति ने बनाये हैं । कुछ लोगों का विचार है कि उनका आशय मनु का आशय है, अत : उनके नाम से उनका उल्लेख है । यह भी युक्तिसंगत बात नहीं है कि वह मनु का आशय है । संभव है किसी अन्य व्यक्ति ने अपना आशय मनु के नाम से वर्णित कर दिया हो । यह तो एक ऐसा छिद्रद्वार बन जाता है कि चाहे कोई भी अपने अभीष्ट आशय को मनु का आशय बताकर कितने ही श्लोक बनाकर मिला दे ; अत : यह मान्य नहीं है । वास्तविकता भी यही है कि परवर्ती लोगों ने मनु के नाम पर अपने आशयों को मिलाया है । यदि यह मानें कि मनु के शिष्य भृगु ने उनके आशयों का वर्णन उनके नाम से किया है,तो इसमें भी कई सदेह रह जाते हैं — (१) इसका मतलब भृगु ने वास्तविक रूप में मनु के प्रवचनों का संकलन नहीं किया, (२) यदि वास्तविक रूप में है,तो कहीं बिना नाम के,और कहीं नामोल्लेखपूर्वक,दो पद्धतियां क्यों अपनायी हैं ? जब संकलन शैली में अन्य अधिकतर बातों का वर्णन मूलरूप में हुआ है तो कहीं-कहीं मनु का नाम देकर विधान करने की क्या आवश्यकता थी ? (३) और भृगु नाम वाले श्लोक मनु के संकलन में कैसे आये ?मनुस्मृति में उनका क्या औचित्य है ?

इस प्रकार मनुस्मृति को प्रक्षेपकों ने मनचाहा 'भण्डारघर' बना लिया है । इस शैली से यह निश्चित हो जाता है कि इस प्रकार मनु और भृगु नाम वाले सभी श्लोक मूलरूप नहीं हैं,अपितु परवर्तीकाल में उनके शिष्यों ने रचकर डाल दिये हैं । जैसे,मनु के नाम वाले श्लोक —

१. य : कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तित :
स सर्वोऽभिहितो वेदे, सर्वज्ञानमयो हि स : ।।
[२ । ७ ।]
[इस संस्करण में १ । १२६]

अर्थ — मनु ने जिस किसी का जो भी धर्म (कर्त्तव्य) बताया है, वह सब वेदोक्त है । क्योंकि वेद सम्पूर्ण ज्ञान से युक्त है ।

२. दश स्थानानि दण्डस्य मनु : स्वायंभुवोऽब्रवीत् ।
त्रिषु वर्णेषु यानि स्युरक्षतो ब्राह्मणो व्रजेत् ।। [८ । १२४ ।]

अर्थ – स्वायम्भुव मनु ने दण्ड के दश स्थान बताए हैं, जिन पर क्षत्रियादि तीन वर्ण वालों को दण्ड देना चाहिये। और ब्राह्मण को दण्ड के बिना ही छोड़ देना चाहिए।

३. ऋणे देये प्रतिज्ञाते पञ्चकं शतमर्हति ।
अपह्नवे तद्द्विगुणं तन्मनोरनुशासनम् ।। (८ । १३९)

अर्थ – मनु का ऋणादि के विवाद में यह दण्ड का प्रकार है कि यदि ऋण लेने वाला न्यायसभा में आकर ऋण को स्वीकार कर लेता है, तो उस पर पांच प्रतिशत दण्ड करे और यदि वहां भी झूठ बोले या छिपावे तो दश प्रतिशत देना चाहिए।

भृगु के नाम से वर्णित श्लोक –

१. एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः ।
एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः ।। (१ । ५९ ।)

अर्थ – यह भृगुमुनि आप सब को सम्पूर्ण धर्मशास्त्र सुनायेंगे। इस मुनि ने यह समस्त शास्त्र मुझ से पढ़ा है।

२. स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन्मानवो भृगुः ।
श्रूयतां येन दोषेण मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ।। (५ । ३ ।)

अर्थ – उस धर्मात्मा भृगु मुनि ने महर्षियों से कहा कि जिस दोष के कारण विप्रों (विद्वानों) को मृत्यु मारना चाहती है, उसे सुनिये।

३. इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठन्द्विजः ।
भवत्याचारवान्नित्यं यथेष्टां प्राप्नुयाद्गतिम् ।। (१२ । १२६ ।)

अर्थ – इस भृगु-प्रोक्त मानव-धर्मशास्त्र को पढ़ता हुआ द्विज सदाचारी बन जाता है और इच्छानुसार गति कोप्राप्त करता है।

(ङ) जैसा कि अभी 'क' खण्ड में दर्शाया गया है कि मनु की शैली किसी भी विषय अथवा प्रकरण के प्रारम्भ अथवा समाप्ति पर, या दोनों ही स्थानों पर, उद्दिष्ट विषय का संकेत देने की है। यदि किसी स्वतन्त्र प्रकरण में अथवा एक प्रकरण की समाप्ति होने पर, प्रारम्भ की गई चर्चाओं के आद्यन्त में, उस विषय का संकेत नहीं मिलता, तो उससे यह संकेत मिलता है कि वह प्रकरण मनु की शैली का नहीं है। यथा –

१. प्रथम अध्याय के १११-११८ श्लोकों में मनुस्मृति की विषयसूची का प्रसंग एक स्वतंत्र और पूर्वापर प्रसंग से भिन्न प्रसंग है, किन्तु इस प्रसंग के न तो पूर्व ही उद्दिष्ट विषय का संकेत है और न समाप्ति पर। अतः यह मनु की शैली का प्रसंग नहीं है।

२. ग्यारहवें अध्याय के १-४३ श्लोकों में स्वतन्त्र दान का तथा अन्य फुटकर प्रसंग हैं, किन्तु उसके प्रारम्भ और समाप्ति पर विषय का संकेत नहीं है। ४३ श्लोकों में वर्णित विषय का कोई संकेत न होना, इस प्रसंग को मनु की शैली का सिद्ध नहीं करता। अतः यह भी प्रक्षिप्त है।

(ख) निराधार एवं अयुक्तियुक्त शैली –

जहां कारण-कार्य या साधन-साध्य का पारस्परिक सम्बन्धरहित वर्णन किया गया हो, जिस विधान की कोई बुद्धिसंगत स्थिति न हो अथवा जो तर्क के आधार पर पुष्ट नहीं होता, ऐसा वर्णन निराधार एवं अयुक्तियुक्त शैली का है। मनु ने प्रत्येक विधान और वर्णन को साधार एवं युक्तियुक्त ढंग से

वर्णित किया है और धर्मनिर्णय के लिए तर्क को भी एक प्रमुख आधार माना है (१२।१०६, १११)। मनु के इस दृष्टिकोण के अनुसार उक्त शैली के श्लोक मनुकृत न मानकर प्रक्षिप्त माने गये हैं। यथा –

धान्यं हृत्वा भवत्याखुः कांस्यं हंसो जलं प्लवः।
मधु दंशः पयः काको रसं श्वा नकुलो घृतम् ॥ (१२।६२॥)

अर्थ – धान्य चुराने वाला चूहा, कांसा चुराने वाला हंस, जल की चोरी करने वाला जलमुर्गा, मधुचोर डांस, दूधचोर कौआ, रस चुराने वाला कुत्ता और घी चुराने वाला नेवला बनता है। यहां उक्त चोरियों का और उनके फलस्वरूप में वर्णित जन्मों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है अतः यह कथन निराधार एवं अयुक्तियुक्त है।

प्रत्यग्निं प्रतिसूर्यं च प्रतिसोमोदकद्विजान्।
प्रतिगां प्रतिवातं च प्रज्ञा नश्यति मेहतः ॥ (४।५२॥)

अर्थ – अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, जल, ब्राह्मण और गाय तथा वायु इनकी ओर मुख करके लघुशंका करने वाले व्यक्ति की बुद्धि नष्ट होती है।

यहां भी उक्त वस्तुओं की ओर मुख करने का और बुद्धि नष्ट होने का कोई युक्तियुक्त सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार निम्न विधान भी अयुक्तियुक्त और निराधार हैं –

मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम्।
प्रदक्षिणानि कुर्वीत प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन् ॥ (४।३९॥)

अर्थ – मिट्टी, गाय, देवमूर्ति, ब्राह्मण, घी, शहद, चौराहा और प्रसिद्ध वृक्ष, इनको दायभाग की ओर रखता हुआ बायीं ओर से जाये।

विनाद्भिरप्सु वाप्यार्तः शारीरं संनिवेश्य च।
सचैलो बहिराप्लुत्य गामालभ्य विशुद्ध्यति ॥ (११।२०२॥)

अर्थ – पीड़ित व्यक्ति जल के बिना और जल में शरीर के मल-मूत्र को त्यागकर वस्त्रसहित स्नान कर और जल से बाहर आकर गौ का स्पर्श करे, इस प्रकार वह शुद्ध होता है।

(ग) अतिशयोक्तिपूर्ण शैली –

अभीष्ट-सिद्धि की प्रवृत्ति से जहां किसी बात को आवश्यकता से अधिक बढ़ा चढ़ाकर वर्णित किया गया है, वह अतिशयोक्तिपूर्ण शैली है। मनु की शैली में संतुलित वर्णन है। मनुस्मृति एक विधानशास्त्र है, अतः उसमें वर्णित प्रत्येक विधान, प्रत्येक धर्म-अधर्म का कथन यथावत् होना चाहिए। कहीं-कहीं यह यथावत्ता नहीं है, यथा –

अवगूर्य त्वब्दशतं सहस्रमभिहत्य च।
जिघांसया ब्राह्मणस्य नरकं प्रतिपद्यते ॥ ११।२०६॥

अर्थ – ब्राह्मण को मारने की इच्छा से दंड को उठाने मात्र से सौ वर्ष तक और दंडप्रहार करके मारने वाला हजार वर्ष नरक में रहता है।

शोणितं यावतः पांसून्संगृह्णाति महीतले।
तावन्त्यब्दसहस्राणि तत्कर्ता नरके वसेत् ॥ (११।२०७॥)

अर्थ — ब्राह्मण के शरीर से निकले रक्त से पृथ्वी के जितने रजकण भीगें, दण्डप्रहार करके ब्राह्मण के शरीर से रक्त निकालने वाला व्यक्ति उतने ही सहस्र वर्ष पर्यन्त नरक में पड़ा रहता है।

अतिशयोक्तिपूर्ण शैली होने से ये श्लोक मनुप्रोक्त नहीं हैं, अत एव प्रक्षिप्त हैं।

(घ) पक्षपातपूर्ण शैली —

जहां किसी वर्ग, व्यक्ति या बात की,उपयुक्त आधार या कारण के बिना विशेष पक्षधरता अपनायी गई है; अथवा किसी वर्ग या व्यक्ति की घृणा, निन्दा, ऊंच-नीच,छूआ-छूत आदि से प्रेरित होकर अनुपयुक्त अवमानना की गई हो; वह पक्षपातपूर्ण शैली है। मनु की शैली में उपयुक्त 'आधार' या कारण के आधार पर ही प्रशंसा या निन्दा है, पूर्वाग्रहबद्धता पूर्वक पक्षपात की प्रवृत्ति से नहीं। बीच-बीच में पक्षपात की भावना से ओतप्रोत श्लोक भी आते हैं, वे मनुप्रोक्त नहीं है —

ब्राह्मणवर्ग के लिए विशेष पक्षपात —

(अ)स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वंवस्ते स्वं ददाति च।
आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः॥ [१।१०१।]

अर्थ —ब्राह्मण जो कुछ खाता है, पहनता है, देता है, वह सब उसका ही है — यह सब ब्राह्मण का ही है। अन्य जो लोग खाते हैं, वे सब ब्राह्मणों की कृपा से खाते हैं।

ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम्।
पितापुत्रौ विजानीयाद् ब्राह्मणस्तु तयोः पिता॥ [२।१३५।]
[इस संस्करण में २।११०]

अर्थ —दश वर्ष का ब्राह्मण और सौ वर्ष का क्षत्रिय,पिता-पुत्र के बराबर हैं। उनमे ब्राह्मण पिता के तुल्य है।

स्त्रियों के लिए पक्षपात-पूर्ण विधान —

(आ) विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः।
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः॥ [५।१५४।]

अर्थ — पतिव्रता स्त्री को दुष्टस्वभाव वाले, परस्त्रीगामी और गुणहीन पति की भी सदा देवताओं के समान पूजा-सेवा करनी चाहिए।

अछूत की भावना से प्रेरित पक्षपातपूर्ण शैली —

न विप्रं स्वेषु तिष्ठत्सु मृतं शूद्रेण नाययेत्।
अस्वर्ग्या ह्याहुतिः सा स्याच्छूद्रसंस्पर्शदूषिता॥ [५।१०४।]

अर्थ – जब तक अपने वर्ग के व्यक्ति विद्यमान हैं,तबतक ब्राह्मण के शव को शूद्रों से नहीं उठवाना चाहिये। क्योंकि शूद्र के स्पर्श से दूषित शरीर की आहुति स्वर्ग में नहीं पहुँचाती।

घृणा और निन्दायुक्त शैली –

(ई) वृषलीफेनपीतस्य निःश्वासोपहतस्य च।
तस्यां चैव प्रसूतस्य निष्कृतिर्न विधीयते॥ [३।१९।]

अर्थ – विवाह करके शूद्र स्त्री के अधरपान करने वाले का,और जिसके मुख पर शूद्रा का श्वास लगा हो, जो शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न हुआ हो; उसका कभी (निस्तार) नहीं हो सकता।

ऊंच-नीच की भावना से प्रेरित पक्षपातपूर्ण शैली –

(उ) सहासनमभिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्यापकृष्टजः।

कट्यां कृताङ्के निर्वास्यः स्फिचं वास्यावकर्तयेत् ।। [८ । २८१ ।।]

अर्थ – जो शूद्र, ब्राह्मण के समान आसन पर बैठना चाहे तो उसकी कमर पर दगवाकर उसे देश निकाला दे दे अथवा नितम्बों को कटवा दे ।

उपर्युक्त सभी श्लोक पक्षपातपूर्ण शैली के होने से मनुप्रोक्त सिद्ध नहीं होते, अत : प्रक्षिप्त हैं ।

४. अवान्तरविरोध —

मनुस्मृति में कुछ प्रसंग ऐसे हैं, जिनमें अन्धाधुन्ध मिलावट हुई है । एक प्रक्षिप्त प्रसंग के अन्तर्गत ही अनेक पारस्परिक विरोध पाये जाते हैं । इन विरोधों से कुछ निष्कर्ष सामने आते हैं — (१) विवादास्पद विषयों में ही अधिक प्रक्षेप हुए हैं (२) इतने विरोध किसी एक लेखक की रचना में नहीं हो सकते. (३) प्रक्षेप भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा —(४) भिन्न-भिन्न समयों में किये गये हैं, (५) ऐसे विरोधात्मक वर्णन मनुसदृश विद्वान् की रचना नहीं हो सकते हैं, (६) अत : वह प्रसंग प्रक्षिप्त और अप्रामाणिक है । एक प्रक्षिप्त प्रसंग में ही परस्पर पाये जाने वाले विरोध को 'अवान्तर विरोध' कहा गया है । यह आधार एक सहयोगी आधार के रूप में लिया गया है । इसके प्रदर्शन से उपर्युक्त निष्कर्ष स्पष्ट हो जाते हैं, और उस प्रसंग की अप्रामाणिकता और प्रक्षिप्तता पुष्ट हो जाती है । जैसे —

३ । १२२ से २४८ तक श्राद्ध-वर्णन का प्रसंग है, जो अन्तर्विरोध, प्रसंगविरोध आदि के आधार पर प्रक्षिप्त सिद्ध होता है । साथ ही उस प्रसंग में प्राप्त होने वाले अवान्तरविरोध उसकी प्रक्षिप्तता और अप्रामाणिकता को पुष्ट कर देते हैं और यह संकेत देते हैं कि स्वार्थी लोगों ने अपने स्वार्थ के अनुसार पूर्वापर प्रसंग देखे बिना ही मनचाहे प्रक्षेप करके अपनी मान्यताओं को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने के प्रयास किये हैं । इस प्रसंग में कुछ अवान्तरविरोध इस प्रकार हैं —

(अ) १२९ वें श्लोक में कहा गया है कि देवकर्म में वेदहीन ब्राह्मण को नहीं जिमाना चाहिए, और १४९ में कह दिया कि श्राद्धदाता देवकर्म में जिमाते समय वेदादि के पढ़े लिखे की परीक्षा न करें अर्थात ब्राह्मणमात्र होना ही पर्याप्त है ।

(आ) सम्पूर्ण प्रसंग में मांसभक्षण का विधान है और मांस की भरपूर प्रशंसा है, किन्तु १५२ में मांसविक्रेता ब्राह्मण को जिमाने का निषेध कर दिया । यदि मांसभक्षण पवित्र और प्रशंसनीय कार्य है तो मांसविक्रेताओं को निन्द्य क्यों माना गया ?

(इ) १५१ वें श्लोक में श्राद्ध-कर्म में ब्रह्मचारी को जिमाने का निषेध है, और १८६, १९२, १९४ में श्राद्ध में जिमाने का विधान है । इतना ही नहीं इनमें उसे पंक्तिपावन (श्राद्ध की पंक्ति को पवित्र करने वाला) तक माना है ।

(ई) १९६ –१९७ श्लोकों में शूद्रादि सभी वर्णों के लिए श्राद्ध करना कहा है, और २४१ आदि में शूद्र के स्पर्श का निषेध, शूद्र के देखने मात्र से श्राद्ध के पुण्य का नष्ट हो जाना आदि प्रदर्शित है ।

(उ) १३८ में मित्र ब्राह्मण को श्राद्ध में जिमाने का निषेध है, किन्तु १४४ में जिमाने का विधान है ।

(ऊ) १६७ –१७२ तक के श्लोकों में विभिन्न मांसों से कई-कई मास, वर्ष और अनन्त काल तक पितरों की तृप्ति मानी है । यदि एक बार के श्राद्ध मे इतनी तृप्ति हो जाती है तो उनको पुन : पाक्षिक, मासिक श्राद्ध की क्या आवश्यकता रह जाती है ?

७. वेद-विरुद्ध —

मनुस्मृति के १ । ३ ।। २ । ६ [इस संस्करण में १ । १२५] ९–१५ ।। १२ । ९३–९९ १०९–११३ श्लोकों से यह विदित होता है कि मनु वेद को ही धर्म का मूलाधार मानते हैं और उनकी मनुस्मृति भी वेदानुकूल है । अन्य परवर्ती स्मृतियों ने भी मनुस्मृति को वेदानुकुल घोषित किया है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुस्मृति में कोई मान्यता वेदविरुद्ध नहीं होनी चाहिए । जो वेदविरुद्ध होगी,वह मनु की मान्यता के आधार पर प्रक्षिप्त ही मानी जायेगी । यहां यह स्पष्टीकरण भी उपयुक्त होगा कि वेद की मान्यताओं को निर्विवाद रूप में स्पष्ट करना अपने आप में एक जटिल कार्य है, अत : वेदों की जो मान्यताएँ बिल्कुल स्पष्ट हैं, उन्हीं के अनुसार इस आधार का उपयोग किया गया है । विशेषत : उन विधानों में तो इस आधार का उपयोग करना अति-आवश्यक हो गया है, जिनमें वेदों को उद्धृत करके वर्णन है । कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं —

(१) निम्न श्लोकों में स्त्री-शूद्रों को वेदमन्त्रों के पठन-श्रवण का निषेध है—

(क) अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषत : ।।
[२।६६ ।।] [२ । ४१ इस संस्करण में]

अर्थ —स्त्रियों के संस्कार के लिए ये समस्त-कर्म बिना मन्त्र के करे ।

(ख) सायं त्वन्नस्य सिद्धस्य पत्न्यमन्त्रं बलिं हरेत् ।। [३ । १२१ ।।]

अर्थ —सायंकाल पाकशाला में बनाये अन्न से पत्नी मन्त्रोच्चारण किये बिना बलि देवे ।

(ग) नाविस्पष्टमधीयीत न शूद्रजनसन्निधौ ।। [४ । ९९ ।।]

अर्थ — वेदों को अस्पष्ट न पढ़े और शूद्र के सामने न पढ़े ।

इन श्लोकों में वेदविषयक विधान स्वयं वेदविरुद्ध हैं । वेद में वेदाध्ययन सभी के लिए विहित है —

(क) ''यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्य : ।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ।। [यजुर्वेद २६ । २]

अर्थात् —''परमेश्वर कहता है कि (यथा) जैसे मैं (जनेभ्य :) सब मनुष्यों के लिये (इमाम्) इस (कल्याणीम्) कल्याण अर्थात् संसार और मुक्ति के सुख देने हारी (वाचम्) ऋग्वेद आदि चारों वेदों की वाणी का (आवदानि) उपदेश करता हूं,वैसे तुम भी किया करो । यहां कोई ऐसा प्रश्न करे कि जन शब्द से द्विजों का ग्रहण करना चाहिए,क्योंकि स्मृत्यादि ग्रन्थों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ही को वेदों के पढ़ने का अधिकार लिखा है, स्त्री और शूद्र आदि वर्णों का नहीं ? (उत्तर) — (ब्रह्मराजन्याभ्याम्) इत्यादि, देखो परमेश्वर स्वयं कहता है कि हमने ब्राह्मण, क्षत्रिय (अर्याय) वैश्य (शूद्राय) शूद्र और (स्वाय) अपने भृत्य वा स्त्री आदि (अरणाय) और अतिशूद्र आदि के लिए भी वेदों का प्रकाश किया है ।'' [स. प्र. समु. तृतीय, पृ. ७४]

(ख) सभी व्यक्तियों को वेद पढ़ने का अधिकार होने और यज्ञ आदि वैदिक क्रियाएँ करने का अधिकार होने में वेदमन्त्र के साथ-साथ वेद के अंग 'निरुक्त का प्रमाण —

''यज्ञियास : पञ्चजना : मम होत्रं जुषध्वम् ।।''
[ऋग. १० । ५३ । ४]

इस मन्त्र में पठित **पञ्चजना :** पद की व्याख्या करते हुए यास्क ऋषि स्पष्ट करते हैं —

''**गन्धर्वा : पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके । चत्वारो वर्णा :, निषाद : पञ्चम :, इति औपमन्यव : । निषाद : कस्माद् ? निषन्नं अस्मिन् पापकमिति नैरुक्ता :, पञ्चजनीनया विशा ।''** [३ । ८]

अर्थात् — 'गन्धर्व, पितर, देव, असुर, राक्षस, ये पांच प्रकार के व्यक्ति हैं, इन सब को यज्ञ करने का अधिकार है ; ऐसा कुछ आचार्य मानते हैं । औपमन्यव का मत है कि चार वर्ण — ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तथा निषाद = पापी इन सबको यज्ञ का अधिकार है । निषाद को 'निषाद' क्यों कहते हैं ? क्योंकि इस व्यक्ति के मन में पाप की भावना रहती है । इस प्रकार सभी मनुष्यों के ये पांच वर्ग हैं ।' यज्ञ में मन्त्रपाठ अवश्य होता है ।

(ग) स्त्रियों को वेदाध्ययन, विद्याप्राप्ति एवं ब्रह्मचर्याश्रम के विधान में वेद का प्रमाण —

'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।'

[अथर्व. ३ । २४ । ११ । १८]

''जैसे लड़के ब्रह्मचर्य-सेवन से पूर्णविद्या और सुशिक्षा को प्राप्त होके युवती, विदुषी, अपने अनुकूल, प्रिय, सदृश स्त्रियों के साथ विवाह करते हैं, वैसे (कन्या) कुमारी (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य सेवन से वेदादिशास्त्रों को पढ़ पूर्णविद्या और उत्तम शिक्षा को प्राप्त युवक होके पूर्ण युवावस्था में अपने सदृश, प्रिय विद्वान् (युवानम्) पूर्ण युवावस्थायुक्त पुरुष को (विन्दते) प्राप्त होवे । इसलिए स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य और विद्या का ग्रहण अवश्य करना चाहिए ।

(प्रश्न) क्या स्त्री लोग भी वेदों को पढ़ें ?

(उत्तर) अवश्य, देखो श्रौतसूत्र आदि में —

'इमं मन्त्रं पत्नी पठेत् ।।'

अर्थात् — 'स्त्री यज्ञ में इस मन्त्र को पढ़ें । जो वेदादि शास्त्रों को न पढ़ी होवे तो यज्ञ में स्वरसहित मन्त्रों का उच्चारण और संस्कृतभाषण कैसे कर सके । भारतवर्ष की स्त्रियों में भूषणरूप गार्गी आदि वेदादिशास्त्रों को पढ़के पूर्ण विदुषी हुई थीं, शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट लिखा है ।'

(स. प्र. तृतीय समु. पृ. ७५)

(आ) मनुस्मृति के पंचम अध्याय के २६ से ४२ श्लोकों में वेद का साक्ष्य देकर हिंसा का विधान है, वह साक्ष्य मिथ्या और वेदविरुद्ध है । वेद में तो हिंसा का निषेध है —

'यजमानस्य पशून् पाहि' [यजु. १।१]

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे' [यजु. ३६ । १८]

अत : वेदविरुद्ध होने से मनुस्मृति के सभी हिंसापरक श्लोक प्रक्षिप्त कहलायेंगे ।

अन्त में यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक समझता हूं कि उपर्युक्त आधारों के अतिरिक्त और भी 'आधार' बन सकते थे, या बन सकते हैं, किन्तु अभी केवल सात ही आधारों पर कार्य किया है । अन्य आधारों का निर्माण कुछ का तो इसीलिए नहीं किया जा सकता कि वे दोषपूर्ण प्रतीत होते हैं । उदाहरण के रूप में यह बहुत संभव है कि कुछ श्लोक स्थानभ्रष्ट हो गये हों, लेकिन हम यदि स्वयं उनका क्रम निश्चित करदें तो फिर कोई सीमित आधार नहीं रह जायेगा । कोई किसी श्लोक को कहीं रखेगा, कोई कहीं । ऐसे श्लोक जो स्थानभ्रष्ट प्रतीत हुए और उनमें प्रक्षेप की कोई प्रवृत्ति लक्षित नहीं हुई, उन्हें उसी स्थान पर रखकर अपनी टिप्पणी देदी है । इसी प्रकार कुछ आधारों का निर्माण करना संभव ही नहीं लगा, जैसे — किसी एक पदभाग या पंक्ति के रूप में किये गये प्रक्षेपों को निकालना । इसी प्रकार मौलिक बचे श्लोकों में भी कुछ रचनाएं इस प्रकार की हैं, जो निर्धारित

आधारों की सीमा में नहीं आतीं, किन्तु ये इतनी साधारण बातें है कि उन्हें मनु सदृश महर्षि की रचना कहने में सन्देह होता है।

इतना कार्य करने के बाद भी इस विषय में कार्य करना शेष रह जाता है। फिर भी अब जैसा संभव हो सका, मनुस्मृति के गदलेपन और विकृति को दूर करने का भरसक प्रयत्न किया गया है, और इसमें कोई गर्वोक्ति की बात भी नहीं है कि इन 'आधारों' से मनुस्मृति का शुद्धिकरण करने से इसका गदलापन तो निश्चितरूप से दूर हो ही गया है।

६. प्रक्षेपों से हानियां एवं भ्रान्तियां

प्रक्षेपकों ने मनुस्मृति में स्वाभिमत प्रक्षेप करके अपना स्वार्थ एवं उद्देश्य तो सिद्ध कर लिया, किन्तु इस दुष्कृत्य से मनुस्मृति को गहरा आघात पहुंचा है । मनुस्मृति का अध्ययन करने से यह ज्ञात हो जाता है कि उसका मौलिक रूप अत्यन्त शुद्ध, परिष्कृत, मानवतापूर्ण, पक्षपातदुराग्रहरहित एव उच्चाशयों से युक्त था । प्रक्षिप्तों ने उस स्वरूप को विकृत करके गदला और भद्दा बना दिया । मनु की मौलिक व्यवस्थाओं को परिवर्तित करके मनु के उद्देश्य को संकीर्ण एवं कुण्ठित रूप दे दिया । प्रक्षिप्त वर्णनों के कारण आज मनुस्मृति को पाठकों की आक्षेपात्मक आलोचनाओं का शिकार होना पड़ रहा है । इसे घृणा की दृष्टि से देखा जाता है और अध्ययन के योग्य ग्रन्थ नहीं माना जाता । इस प्रकार प्रक्षिप्तों के कारण एक श्रेष्ठ ग्रन्थ का अपमान हो रहा है । साथ ही अनेक भ्रान्तियाँ भी पनप गयी हैं । प्रक्षिप्तों के कारण हुई हानियों और भ्रान्तियों का अनुमान निम्न बातों से लगाया जा सकता है —

(१) भारतीय संस्कृति के स्वरूप में विकृति —

मनुकालीन समाज की संस्कृति अत्यन्त उच्च आदर्शों से अनुप्राणित, पक्षपात और दुराग्रहरहित व्यवस्थाओं से युक्त, मानवता और आध्यात्मिकता से ओतप्रोत थी । वर्णव्यवस्था का आधार कर्म थे (१।८७-९१)। घृणा की भावना व्यक्तियों के प्रति न होकर दुष्कर्मों के प्रति थी । परवर्ती काल में व्यवस्थाएँ और परम्पराएँ विकृत एवं शिथिल हो गई । वर्णव्यवस्था कर्मणा न रहकर जन्मना मानी जाने लगी । ज्ञान-विद्या पर ब्राह्मणों का एकमात्र आधिपत्य हो गया । उन्होंने अपने को सर्वोच्च तथा पवित्र घोषित किया और स्त्री, शूद्र को घृणास्पद तथा अस्पृश्य बताया । अवान्तर काल की इन विकृत-व्यवस्थाओं को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने के लिए मनुस्मृति तथा अन्य शास्त्रों में स्थान-स्थान पर उनका प्रक्षेप कर दिया, और उन वर्णनों को पढ़कर ही आज यह माना जाने लगा कि ये विकृतियाँ मनुकालीन समाज में भी थीं । इन प्रक्षिप्तों के आधार पर ही आलोचक आज यह आक्षेप करते हैं कि मनुकालीन समाज में जाति-पाँति, स्पृश्यास्पृश्य की भावना, स्त्री-शूद्रों के प्रति हीनदृष्टि थी । शूद्रों के प्रति पक्षपात और विद्वेषपूर्ण व्यवहार था । माँसभक्षण, पशुयज्ञ, बहुविवाह, आदि का प्रचलन था । इस प्रकार प्रक्षेपों के कारण प्राचीन संस्कृति का स्वरूप भद्दा एवं विकृत हो गया । इतिहासकार तत्कालीन समाज और संस्कृति का जो इतिहास प्रस्तुत कर रहे हैं, वह इन्हीं प्रक्षिप्तों पर आधारित होने से वास्तविक नहीं कहा जा सकता ।

(२) रचनाकाल-सम्बन्धी भ्रान्तियाँ --

यद्यपि मनुस्मृति के रचनाकाल के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं, तथापि प्राप्त प्रमाणों के आधार पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि मनुस्मृति उपलब्ध समस्त लौकिक संस्कृत-साहित्य से प्राचीन है, और कुछ वैदिक साहित्य से भी (विस्तृत विवेचन पूर्व वर्णित है); किन्तु कुछ आधुनिक इतिहासकारों ने इसे महाभारत से भी परवर्ती और कुछ ने इसे शुंगकालीन माना है । यह रचनाकाल-सम्बन्धी भ्रान्ति कुछ प्रक्षिप्त श्लोकों के कारण ही हुई है । महाभारत से परवर्ती मानने वाले इतिहासकार निम्न श्लोकों को आधार मानते हैं —

> कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः ।
> एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः ।। [२।१९ ।।]

अर्थ — ब्रह्मावर्त से मिला हुआ कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल और शूरसेनक देशों का प्रदेश ब्रह्मर्षि-देश कहलाता है।

कुरुक्षेत्रांश्च मत्स्यांश्च पञ्चालांशूरसेनजान्।
दीर्घांल्लघूंश्चैव नरानग्रानीकेषुयोजयेत्।। [७।१९३।।]

अर्थ — कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल, शूरसेनक देशों में उत्पन्न सैनिकों को, जो लम्बे या छोटे कद के होते हैं, उनको सेना के अगले भाग में रखें।

इन श्लोकों में कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल, शूरसेनक नामों का उल्लेख है, अत: विद्वानों का विचार है कि मनुस्मृति इनसे परवर्ती है। किन्तु ये दोनों ही श्लोक परवर्ती हैं।

इसी प्रकार कुछ अत्याधुनिक परम्पराओं के कारण, कुछ वाममार्गीय परंपराओं के कारण मनुस्मृति को शुंगकालीन घोषित किया गया, जैसे- बालविवाह का विधान, मद्य-मांस का विधान आदि। वे इस प्रकार के श्लोक हैं —

त्रिंशद्वर्षोद्वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम्।
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वर:।। [९।९४।।]

अर्थ — गृहस्थ-धर्म का लोप न चाहता हुआ तीस वर्ष का पुरुष शीघ्र ही १२ वर्ष की सुन्दर कन्या और २४ वर्ष का आठ वर्ष की कन्या से विवा करे।

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये [illegible] च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला।। [५।५६।।]

अर्थ — मांस-भक्षण, शराब पीना और व्यभिचार में कोई दोष नहीं है। यह तो प्राणियों की **स्वाभाविक प्रवृत्ति है,** किन्तु इनसे निवृत्ति होना अतिलाभदायक है।

ये श्लोक भी प्रक्षिप्त हैं। इस प्रकार प्रक्षिप्त श्लोकों ने मनुस्मृति के काल के सम्बन्ध में विवाद **पैदा कर दिया और अनेक इतिहासकारों को इसका कालनिर्णय करने में भ्रान्ति का शिकार होना पड़ा है।**

(३) साहित्यिक अवमूल्यन

अपने मौलिक रूप में मनुस्मृति उत्कृष्ट एवं शिक्षाप्रद ग्रन्थ है। इसमें मनु के हितकारी, शान्तिप्रद और मार्गदर्शक प्रवचन हैं। इनमें अधिकांश प्रवचन ऐसे हैं, जिन्हें जीवन के शाश्वत और सार्वभौमिक सिद्धान्त कहा जा सकता है। इसी कारण भारतीय साहित्य में मनुस्मृति का शीर्षस्थान रहा किन्तु आज प्रक्षिप्तों के कारण इसे रूढ़िवादी ग्रन्थ माना जाने लगा है, और विभिन्न विकृतियों के कारण इसे साहित्य में सम्मानित स्थान और महत्व नहीं दिया जाता। प्रक्षेपों से मनुस्मृति की **साहित्यिक गरिमा का हनन हुआ है।**

(४) प्रामाणिकता में सन्देह

विभिन्न विरोधी बातों के प्रक्षेपों के कारण, आज पाठक मनुस्मृति की प्रामाणिकता में ही संदेह करने लगे हैं। मनुस्मृति का रचयिता कौन है, और क्या यह मनुस्मृति वास्तविक है इत्यादि प्रश्न प्रक्षेपों के कारण और अधिक उलझ गये हैं। जैसे —

निम्न श्लोक से मनुस्मृति मनुप्रोक्त सिद्ध होती है —

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षय:।
प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन्।। [१।१।।]

अर्थ — एकाग्रचित्त होकर बैठे मनु जी के सामने महर्षि उपस्थित हुए और उनका योग्य सत्कार करके मनु जी से इस प्रकार कहने लगे ।

किन्तु निम्न श्लोक इसे भृगुप्रोक्त सिद्ध करता है —

एतद्वो ऽ यं भृगु :शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषत : ।। [१।५९ ।।]

अर्थ — इस धर्म-शास्त्र को भृगुमुनि आप सब ऋषियों को सम्पूर्णस्वरूप में सुनायेंगे । निम्न श्लोकों से मनुस्मृति मूलत : ब्रह्माप्रोक्त सिद्ध होती है —

प्रजापतिरिदं शास्त्रं तपसैवासृजत्प्रभु : ।। [११।२४३ ।।]

अर्थ — प्रजापति ने इस धर्मशास्त्र को तपस्या करके बनाया ।

इदं शास्त्रं तु कृत्वासौ मामेव स्वयमादित : ।
विधिवद्ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन् ।।[१।५८ ।।]

अर्थ — मनुजी कहते हैं कि ब्रह्मा ने सृष्टि के प्रारम्भ में इस धर्मशास्त्र को बनाकर प्रथम विधिपूर्वक मुझे उपदेश दिया । और फिर मैंने मरीचि आदि मुनियों को पढ़ाया ।

इसी प्रकार अन्य परस्परविरोधी, प्रसंगविरोधी वर्णन भी मनुस्मृति में मिलते हैं, जिन्हें पढ़कर पाठक का सिर चकराने लगता है, और फिर उसे इसकी प्रामाणिकता में सन्देह पैदा होता है ।

(५) मनु के व्यक्तित्व पर आंच —

महर्षि मनु को धर्मप्रवक्ता के रूप में सभी ने सर्वोच्च स्थान दिया है । परवर्ती शास्त्रों, ऋषि-महर्षियों ने एकमत से मनु के विधानों को प्रमाण माना है और उन्हें प्रमाणिक, अधिकारी विद्वान् । **''यद्वै किंच मनुरवदत् तद् भैषजम्''** (जो कुछ मनु ने कहा है, वह औषध है —तै. सं. २।२।१०२) कहकर उन्हें सर्वाधिक आदर दिया । किन्तु परवर्ती पक्षपात — दुराग्रहबद्ध, रूढ़ अन्धविश्वास और घृणा-विद्वेष से प्रेरित प्रक्षेपों के कारण पाठकों की दृष्टि में मनु की प्रतिष्ठा धूमिल हो गई। पाठकों से प्रक्षेपों की परीक्षा तो सम्भव न हो सकी, किन्तु उन्होंने यह अवश्य मान लिया कि इस प्रकार का वर्णन करने वाला व्यक्ति कोई विशिष्ट व्यक्ति नहीं हो सकता । इस प्रकार के प्रक्षेपों ने मनु के व्यक्तित्व का हनन किया है ।

(६) मनुस्मृति के प्रति घृणा का दृष्टिकोण —

ऊपर-वर्णित घिनौनी और अमानवीय बातों का मनुस्मृति में उल्लेख देखकर आज के व्यक्ति इसके प्रति उपेक्षा और घृणा की भावना रखने लगे हैं । कोई-कोई इसे 'स्वार्थी ब्राह्मणों का पोथा' कहकर मजाक उड़ाते है । विशेषत : निम्नवर्ग तो इस के प्रति इसलिए आक्रोश प्रकट करते हैं, क्योंकि इसमें उनके प्रति पक्षपात और विद्वेष का वर्णन है । स्त्रियों की निन्दा देखकर स्त्रीवर्ग की भी इस ग्रन्थ के प्रति उदासीनता की भावना है । यह सब प्रक्षेपों के कारण है ।

इस प्रकार प्रक्षेपों के कारण मनुस्मृति को विभिन्न हानियां हुई हैं, और उस के सम्बन्ध में भ्रान्तियां जन्मी हैं । अत : यह आवश्यक है कि मनुस्मृति के प्रक्षेपों का अनुसन्धान करके उन्हें दूर किया जाये, जिससे मनुस्मृति का मौलिक शुद्ध रूप सामने आ सके । प्रक्षेपों के निकल जाने पर ही मनु एवं मनुस्मृति के प्रति जनता की श्रद्धा जाग सकती है । तभी मनुकालीन भारतीय संस्कृति और इतिहास का वास्तविक चित्र सामने आ सकता है ।

तृतीय अध्याय

मनु की प्रमुख मौलिक मान्यताएं और उनकी मौलिकता के आधार

पिछले अध्याय में, मनुस्मृति में पाये जाने वाले प्रक्षिप्त श्लोकों और उनके अनुसंधान में सहायक 'मानदण्डों' पर लक्षण-उदाहरण-सहित पर्याप्त विवेचन प्रस्तुत करके प्रक्षेपानुसन्धान की पद्धति को स्पष्ट कर दिया गया है, और भाष्य में भी उन-उन श्लोकों या मान्यताओं पर यथास्थान आधारभूत समीक्षा दी है, फिर भी इस विषय में बार-बार ये शंकाएं उठायी जाती हैं कि 'अमुक मान्यता को मौलिक क्यों माना गया ?' 'अमुक मान्यता को प्रक्षिप्त क्यों माना गया है ? 'आप जिसे प्रक्षिप्त घोषित कर रहे हैं, क्यों न उसे मौलिक स्वीकार किया जाये ?' आदि-आदि ।

पीछे यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि कृतित्व के आधार पर निर्धारित प्रसंगविरोध, अन्तर्विरोध आदि सात मानदण्डों के अनुसार जो मान्यता मनुस्मृति-विरुद्ध सिद्ध होती है, वह प्रक्षिप्त मानी गयी है और मनुस्मृति-संगत मान्यता मौलिक । यहां मनु की कुछ प्रमुख मान्यताओं का, मनुस्मृति में प्राप्त होने वाले उससे सम्बन्धित समग्र पक्ष-विपक्षात्मक विवरण को एकत्ररूप में प्रस्तुत करके और अधिक विवेचन किया जाता है, जिससे ये मान्यताएं और इनको मौलिक मानने की पद्धति और अधिक स्पष्ट हो सके ।

मनुस्मृति की किसी भी मान्यता को मौलिक और प्रक्षिप्त मानने में सर्वसामान्य कारण या तर्क निम्न हैं —

१. मनुस्मृति के प्रतिपाद्य, उसकी आधारभूत भावनाओं —जो कि प्रसंग, विषय और शैली की दृष्टि से पूर्वापर क्रम से संगत हैं — के अनुकूल वर्णन या मान्यताएं मौलिक हैं, और इनके विरुद्ध प्रक्षिप्त हैं । ये प्रक्षिप्त 'अन्तर्विरोध' या 'परस्परविरोध' वर्ग के अन्तर्गत आते हैं ।

२. मनुस्मृति कुछ निधारित विषयों या प्रकरणों में आबद्ध है । किसी भी विषय के प्रारम्भ, अन्त अथवा दोनों स्थानों पर मनुस्मृति में उसका संकेत स्वयं किया गया है । उन विषय-संकेतों से सम्बद्ध वर्णन मौलिक हैं, और उनसे बाह्य वर्णन प्रक्षिप्त हैं । ये प्रक्षेप 'विषयविरोध' वर्ग के अन्तर्गत आते हैं ।

३. मनुस्मृति के पूर्वापर प्रसंगक्रम से जुड़े हुए श्लोक मौलिक हैं, और उससे तालमेल न रखने वाले अथवा उस क्रम को भंग करने वाले श्लोक प्रक्षिप्त हैं । ये 'प्रसंगविरोध' के अन्तर्गत आते हैं ।

४. मनुस्मृति की संरचना और वर्णन पद्धति की कुछ सुनिश्चित शैलियां भी पायी जाती हैं ।[1] उन शैलियों में ढ़ले या अनुकूल वर्णन मौलिक हैं, और उनसे विरुद्ध प्रक्षिप्त । इन सभी को 'शैलीगत आधार' के अन्तर्गत रखा गया है ।

५. मनु ने अपनी स्मृति का मूलस्रोत या आधार वेद को माना है ।[2] अत: स्पष्ट है कि मनुस्मृति में वेदानुकूल पायी जाने वाली मान्यताएं मौलिक हैं, और उसके प्रतिकूल पायी जाने वाली प्रक्षिप्त हैं । यह बात मनु ने स्वयं भी स्वीकार की है ।[3] इस प्रकार के प्रक्षेपों को 'वेदविरोध' की संज्ञा दी गयी है ।

६. प्रक्षेप करने का कोई न कोई कारण अवश्य होता है । वह प्रक्षेप करने के पीछे 'निहितप्रवृत्ति'

---

१. शैलियों के परिज्ञान के लिए मनु. का पु. तृतीय अध्याय में शैलीगत आधार और चतुर्थ अध्याय में 'मनुस्मृति की शैली' शीर्षक द्रष्टव्य है ।

२. १।१२९ (२।१०); १।३/ १।१२५ (२।६), १।१२७ १२८, १३०-१३४ (२।८, ९, ११-१५); १।२४ [illegible]

३. १२।९५-९६ ।।

कही जा सकती है । प्रक्षिप्त निर्धारण में इस प्रवृत्ति को भी ध्यान में रखा गया है । इसको ध्यान में रखना इसलिए भी आवश्यक है कि प्राचीनकाल में स्मृति या हस्तलेखों के द्वारा ही विद्याएं या शास्त्र सुरक्षित रखे जाते थे । इसकी बहुत अधिक संभावना है कि किसी श्लोक में स्मृतिदोष से पूर्वापरक्रम में परिवर्तन आ गया हो, और फिर वैसा ही लेखबद्ध हो गया हो, अथवा हस्तलेख में त्रुटित होकर स्थानभ्रष्ट हो गया हो ।

इन तर्क या आधारों में से किसी श्लोक पर एक आधार ही लागू होता है, तो कहीं एक से अधिक भी । इन आधारों के अनुसार मनुस्मृति में मौलिक सिद्ध होने वाली कुछ प्रमुख मान्यताएं निम्न हैं —

१. मनुस्मृति में वर्णव्यवस्था कर्मणा मान्य है, जन्मना नहीं —

मनुस्मृति में अनेक स्थलों पर स्पष्ट और सांकेतिक रूप में ऐसे वर्णन हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि मनु वर्णव्यवस्था का निर्धारण मूलत : कर्म से मानते हैं, जन्मना नहीं । किसी भी वर्ण में उत्पन्न बालक को माता-पिता अपने वर्ण या अन्य किसी भी वर्ण में दीक्षित करा सकते हैं, किन्तु शैक्षणिक काल में अन्तत : वर्ण का निश्चय, उसके गुण, कर्म, स्वभाव-संस्कार आदि के आधार पर आचार्य करता है । बाद में कर्मों या व्यवसाय के आधार पर उसमें परिवर्तन हो सकता है ।

(क) इस मान्यता के विधायक या संकेतक स्थल —

इस मान्यता को प्रदर्शित करने वाले निम्न स्थल मनुस्मृति में प्राप्त हैं । ये सभी मनुस्मृति की आधारभूत भावना के अनुरूप, संकेतित विषय के अन्तर्गत, प्रसंगसम्मत और शैली के अनुकूल हैं —

१।३१, ८७-९१ ; २।११-१४ [३६-३९], ७८[१०३], १०१[१२६], १४३[१६८] ; ४।२४५ ; १०।६५ ।।

इन सभी स्थलों का अनुशीलन और विश्लेषण करने के अनन्तर इस विषयक निम्न निष्कर्ष स्पष्ट होते हैं —

(१) (क) यदि मनु जन्म से ही किसी वर्ण को श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ मानते,तो उन्हें वर्णों के कर्मों का निश्चय करने की आवश्यकता नहीं थी; क्योंकि जो व्यक्ति जन्म के आधार पर ही श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ माना जा रहा है, तो वह वैसा ही रहेगा, चाहे कर्म करे या न करे । यतोहि शैशवावस्था और कौमार्यावस्था में भी वह वर्णों के लिए प्रतिपादित कर्मों को नहीं करता है, अपितु बहुत बार तो अज्ञान में विरोधी कर्म भी कर देता है । जब उस अवस्था में उसे जन्मत : ब्राह्मण या धर्म की प्रत्यक्ष मूर्ति माना जा रहा है [१।९८],तो बाद में कर्मों के न करने या विरोधी कर्मों के करने से भी उसका ब्राह्मणत्व नष्ट नहीं होना चाहिए । लेकिन मनुस्मृति के सभी विधि-निषेध-वचनों, व्यवस्थाओं और वर्णों के लिए कर्मों के निश्चय से स्पष्ट होता है कि मनु धर्म-अधर्म, कर्म और अवस्थाओं से ही वर्णव्यवस्था या व्यक्ति की श्रेष्ठता मानते हैं, जन्म से नहीं । यदि जन्म से ही श्रेष्ठत्व स्वीकार कर लिया जाये, तो मनुस्मृति की सम्पूर्ण कर्मव्यवस्था ही व्यर्थ हो जायेगी । कोई पालन करे या न करे व्यवस्थाओं का कोई महत्त्व ही नहीं रहेगा,क्योंकि उनका श्रेष्ठत्व-अश्रेष्ठत्व तो जन्म से ही निर्धारित हो ही चुका । लेकिन मनु ने कर्म के आधार पर वर्णव्यवस्था मानी है । निम्न श्लोकों में उनकी अत्यधिक स्पष्ट घोषणा द्रष्टव्य है —

> शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
> क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ।। [१०।६५ ।।]

अर्थात् —श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ कर्मों के अनुसार शूद्र ब्राह्मण और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है,अर्थात् गुणकर्मों

के अनुकूल कोई ब्राह्मण हो तो ब्राह्मण रहता है तथा जो ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के गुण वाला हो तो वह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हो जाता है । इसी प्रकार शूद्र के घर उत्पन्न भी मूर्ख हो तो वह शूद्र रहता है और जो उत्तम गुणयुक्त हो तो यथायोग्य ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हो जाता है । इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य का भी वर्ण-परिवर्तन समझना चाहिए ।

कर्मणा वर्णव्यवस्था का अतिस्पष्ट विधान — मनु ने इस श्लोक मे अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में वर्णव्यवस्था को कर्मों पर आधारित माना है । इस मान्यता के सम्बन्ध में अन्य विवेचन २।३१, ८७-९१ ; १०७, ११।११४ श्लोकों में और उनकी समीक्षा में देखिये ।

(ख) श्लोक की पुष्टि में प्रमाण — प्राचीन काल में कर्मानुसार वर्णव्यवस्था प्रचलित थी । इसके अनेक प्रमाण और उदाहरण मिलते हैं । आपस्तम्ब धर्मसूत्र १।५।१०-११ में इसी मान्यता को स्पष्ट किया है —

''**धर्मचर्य्यया जघन्यो वर्ण : पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ।। १ ।।**
अधर्मचर्य्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ।। २ ।।

धर्माचरण से निकृष्ट वर्ण अपने से उत्तम-उत्तम वर्ण को प्राप्त होता है और वह उसी वर्ण में गिना जाये कि जिस-जिस के योग्य होवे ।। १ ।।

वैसे अधर्माचरण से पूर्व अर्थात् उत्तम वर्णवाला मनुष्य अपने से नीचे-नीचे वाले वर्ण को प्राप्त होता है और उसी वर्ण में गिना जावे ।। २ ।।'' (स. प्र. चतुर्थ समु.)

(२) अपने धर्म-कर्मों का पालन न करने पर कोई भी व्यक्ति शूद्र बन जाता है, ऐसा मनु का मत है । यथा —(अ) वेद न पढ़ने पर द्विज शूद्रता को प्राप्त करता है [**योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् । स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वय : ।।** [२।१६८] । (आ) सन्ध्योपासना न करने वाला व्यक्ति शूद्रवत् होता है [**न तिष्ठति तु य : पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् । स शूद्रवत् बहिष्कार्य : सर्वस्मात् द्विजकर्मण : ।।** [२।१०३] । (इ) यथोक्त आयुसीमा तक उपनयन में दीक्षित न होकर द्विज न बनने वाले व्यक्ति 'व्रात्य' संज्ञक शूद्र कहलाते हैं [२।३७-४०] । (ई) नीचों की संगति से ब्राह्मण शूद्रता को प्राप्त करता है [**उत्तमानुत्तमान्गच्छन् हीनान् हीनांश्च वर्जयन् । ब्राह्मण : श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेन शूद्रताम् ।।** (४।२४५)] । इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि न तो मनु ने व्यक्ति को जन्म से ही अश्रेष्ठ माना है और न जन्म के आधार पर वर्णव्यवस्था मानी है, यदि जन्मना इनका निर्धारण होता तो उक्तरूप से वे निम्न न बनते ।

(३) इसके साथ ही शूद्रता को प्राप्त व्यक्ति, यदि अपने कर्मों को सुधार लेता है, और त्रुटियों के लिए प्रायश्चित्त कर लेता है, तो वह पुन : अपने वर्ण का हो सकता है । मनु ने यह मान्यता, 'व्रात्य' संज्ञक शूद्रों के लिए और वर्णविरुद्ध कार्यों के कारण ब्राह्मण-वर्ण से बहिष्कृत ब्राह्मणों के लिए विहित प्रायश्चित्तों में प्रकट की है [११।१९१-१९६] । इस व्यवस्था से भी मनु की वर्णव्यवस्था कर्मानुसार ही सिद्ध होती है ।

(४) मनु ने व्यक्ति की प्रतिष्ठा और बड़प्पन, गुणों की योग्यता के आधार पर माने हैं [२।१३६, १३७, १५४, १५६] । मनु की यह मान्यता भी यह स्पष्ट करती है कि मनु जन्म के आधार पर श्रेष्ठता या उच्चता अथवा वर्णव्यवस्था नहीं मानते, अपितु कर्म या गुणों को ही आधार मानते हैं ।

(५) मनु ने वर्णों के कर्म बतलाते हुए ''**लोकानां विवृद्ध्यर्थम्**'' (समाज की वृद्धि के लिए १।३१) और ''**सर्वस्यास्य तु गुप्त्यर्थम्**'' (इस समस्त [illegible]

कर्मनिर्धारण का कारण बतलाया है । इन कारणों पर विशेष ध्यान देने पर यहां यह स्पष्ट मान्यता प्रकट हो जाती है कि मनु कर्मों के आधार पर ही वर्ण-व्यवस्था मानते हैं, जन्म के अनुसार नहीं । क्योंकि, यदि जन्म से ही व्यक्ति श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ, उच्च-निम्न निर्धारित हो गये तो,उससे समाज या जगत् की क्या वृद्धि होगी ? केवल उच्च लोगों की वृद्धि होगी । अपितु वृद्धि भी कहां होगी, जो जिस स्तर का होगा वहीं रहेगा । उसे अपने स्तर की उन्नति का अवसर ही कहां मिलेगा ? यदि जन्मना वर्ण-व्यवस्था मानें तो इन कारणों का कथन निरर्थक होगा । इन कारणों के कथन से एक और संकेत मिलता है — वह यह कि चार वर्णों के अनुसार प्रजाएं नहीं बनायीं अपितु प्रजाओं की वृद्धि के लिये (प्रजाओं के लिए) चार वर्ण बनाये अर्थात् पहले प्रजाएं बनीं जो जन्मना समान थीं,फिर उनमें से गुण-कर्मानुसार चार वर्ण निर्मित किये गये, जिससे समाज व्यवस्था में बंधकर वृद्धि करता रहे । इस प्रयोगपद्धति से भी कर्मणा वर्णव्यवस्था सिद्ध होती है ।

(६) 'वर्ण' शब्द का अर्थ और व्युत्पत्ति ही यह सिद्ध करते हैं कि मनु की व्यवस्था जन्मना न होकर कर्मणा है । निरुक्त में 'वर्ण' शब्द की व्युत्पत्ति दी है . . . **'वर्णो वृणोतेः'** [२।१।४] अर्थात कर्मानुसार जिसका वरण किया जाये वह 'वर्ण' है । इस पर प्रकाश डालते हुए महर्षि दयानन्द ने भी स्पष्ट किया है —

''वर्णो वृणोतेरिति निरुक्तप्रामाण्याद्वरणीया वरीतुमर्हाः ।
गुणकर्माणि च दृष्ट्वा यथायोग्यं व्रियन्ते ये ते वर्णाः ।''

(ऋ. भा. भू. वर्णाश्रमधर्मविषय)

अर्थात् —गुण-कर्मों को देखकर यथायोग्य अधिकार जिसको दिया जाये वह वर्ण है ।

(७) वर्णों के नाम उनके कर्मानुसार रखे गये हैं । नामों की व्युत्पत्ति स्वयं उनके कर्मों का बोध कराती है (इसके लिए विस्तृत समीक्षा १।८७-९१ श्लोकों पर द्रष्टव्य हैं) ।

(क) 'ब्राह्मण' नाम कर्मणा वर्णव्यवस्था का सूचक — वर्णों के नामों की व्याकरणानुसारी रचना और व्युत्पत्ति से भी यह बात सिद्ध होती है कि मनु ने कर्मानुसार ही वर्णों का नामकरण किया है और नामों से वर्णों के कर्मों का भी बोध होता है । 'ब्रह्मन्' प्रातिपदिक से 'तदधीते तद्वेद' [अष्टा. ४।२।५९] अर्थ में 'अण्' प्रत्यय के योग से 'ब्राह्मण' शब्द बनता है । इसकी व्युत्पत्ति है — **'ब्रह्मणा वेदेन परमेश्वरस्य उपासनेन च सह वर्तमानो विद्यादि उत्तमगुणयुक्तः पुरुषः'** अर्थात् वेद और परमात्मा के अध्ययन और उपासना में तल्लीन रहते हुए विद्या आदि उत्तम गुणों को धारण करने से व्यक्ति 'ब्राह्मण' कहलाता है । मनु ने भी इन्हीं कर्मों को ब्राह्मण के प्रमुख कर्मों के रूप में वर्णित किया है ।

ब्राह्मणग्रन्थों के वचनों में भी वर्णों के कर्मों का वर्णन पाया जाता है । निम्न वचनों में ब्राह्मण के कर्त्तव्य उद्दिष्ट हैं —

(अ) **"आग्नेयो ब्राह्मणः"** [तां. १५।४।८] । **"आग्नेयो हि ब्राह्मणः"** [काठ. २९।१०] = ब्राह्मण श्रेष्ठ व्रतों = यज्ञादि से सम्बन्ध रखने वाला अर्थात् यज्ञकर्त्ता ब्राह्मण होता है ।

(आ) **"ब्राह्मणो व्रतभृत्"** [तै. सं. १।६।७।२] । **"व्रतस्य रूपं यत् सत्यम्"** [श. १२।८।२।४] = ब्राह्मण श्रेष्ठ व्रतों = कर्मों को धारण करने वाला होता है । सत्य बोलना व्रत का एक रूप है ।

(इ) **"गायत्रो वै ब्राह्मणः"** [ऐ १।२८] । **"गायत्रो यज्ञः"** [गो. पू. ४।२४] । **"गायत्रो वै बृहस्पतिः"** [तां. ५।१।१५] = ब्राह्मण गायत्र होता है । गायत्र वेद, यज्ञ और परमात्मा को कहते हैं ।

(ख) क्षत्रिय' नाम कर्मणा व्यवस्था का सूचक — (१) क्षणु — हिंसा अर्थ वाली (तनादि) धातु से 'क्त :' प्रत्यय के योग से 'क्षत :' शब्द की सिद्ध होती है और 'क्षत' उपपद में त्रैङ् = पालन करने अर्थ में (भ्वादि) धातु से '**अन्येष्वपि दृश्यते**' [अष्टा. ३।२।१०१] सूत्र से 'ड :' प्रत्यय, पूर्वपदान्त्याकारलोप होकर 'क्षत्र' शब्द बना । 'क्षत्र एव क्षत्रिय :' स्वार्थ में 'इय :' होने से 'क्षत्रिय :' अथवा क्षत्रस्य-अपत्यं वा, '**क्षत्राद् घ :**' [अ. ४।१।१३८] सूत्र से जन्म लेने अर्थ में 'घ :' प्रत्यय होकर क्षत्रिय शब्द बना । '**क्षदति रक्षति जनान् क्षत्र :**' जो जनता की रक्षा का कार्य करता है अथवा, '**क्षण्यते हिंस्यते नश्यते पदार्थो येन स 'क्षत :' = घातादि :, तत स्त्रायते रक्षतीति क्षत्र :**'= आक्रमण, चोट, हानि आदि से लोगों की रक्षा करने वाला होने से क्षत्रिय को 'क्षत्रिय' कहते हैं।ब्राह्मण ग्रन्थों में —'**क्षत्रं राजन्य :**'[ऐ. ८।२ ; ३।४]'**क्षत्रस्य वा एतद्रूपं यद् राजन्य :**'[श १३।१।५।३] = क्षत्रिय 'क्षत्र' का ही रूप है, जो प्रजा का रक्षक होता है ।

(२) यहां अपत्यार्थ में 'इय्' आदेश क योग से क्षत्रिय आदि शब्द बनाने में यह शंका उत्पन्न होती है कि क्या मनु जन्म के आधार पर वर्ण मानते हैं ? इस शंका के निराकरण के लिए पुष्ट समाधान है । वंश केवल जन्म से ही नहीं अपितु विद्याजन्म से भी वंश चलता है । अष्टाध्यायी २।१।१९ में '**संख्यावंश्येन**' सूत्र में विद्या से जन्म माना है । मनुस्मृति २।११९ — १२३ श्लोकों में स्पष्टत : विद्या के आधार पर जन्म माना है । इस प्रकार गुणग्राहिता, कार्यकारणभाव और विद्या के आधार पर भी अपत्य आदि सम्बन्ध होते हैं । जैसे सूर्य, वरुण आदि की कोई पत्नी या अपत्य आदि नहीं होते, किन्तु फिर भी कार्य-कारण और गुणग्राहिता आदि के आधार पर अदिति का पुत्र आदित्य, सूर्य की पत्नी सूर्या आदि, और — वरुणानी, मैत्रावरुण : आदि प्रयोग होते हैं ।

(३) क्षत्रिय के विस्तृत कर्त्तव्यों का वर्णन ७।१ से ९।२२५ श्लोकों में है ।

(ग) '**वैश्य' नाम कर्मणा व्यवस्था का सूचक** — (१) ''विश :मनुष्यनाम'' [निघं. २ । ३] उससे भावार्थ में 'यत', उससे स्वार्थ में 'अण' । अथवा 'विश' प्रातिपदिक से अपत्यार्थ में 'यञ' छान्दस प्रत्यय से 'वैश्य' शब्द बना । ''**यो यत्र-तत्र व्यवहारविद्यासु प्रविशति स :, 'वैश्य :' व्यवहारविद्याकुशल : जनो वा**''= जो विविध व्यावहारिक व्यापारों में प्रविष्ट रहता है या विविध विद्याओं में कुशल जन 'वैश्य' होता है ।

ब्राह्मण ग्रन्थों में —

''**एतद् वै वैश्यस्य समृद्धं यत् पशव :**'' [तां. १८ । ४ । ६] ''**तस्माद् बहुपशुर्वैश्वदेवो हि जागतो (वैश्य :)**''(तां. ६।१ १०) = पशुपालन से वैश्य की समृद्धि होती है, यह वैश्य का कर्त्तव्य है ।

(२) वैश्य के विस्तार से कर्त्तव्यों का वर्णन द्रष्टव्य है ९ । २२५ --३३३ में ।

(घ) '**शूद्र' नाम कर्मणा व्यवस्था का सूचक** — (१) शुच –शोकार्थक (भ्वादि) धातु से '**शुचेर्दश्च**' (उणा. २ । १९) सूत्र से 'रक' प्रत्यय, उकार को दीर्घ, च को द होकर 'शूद्र' शब्द बनता है । **शूद्र : = शोचनीय : शोच्यां स्थितिमापन्नो वा, सेवायां साधुर अविद्यादिगुणसहितो मनुष्यो वा**'= शूद्र वह व्यक्ति होता है, जो अपने अज्ञान के कारण किसी प्रकार की उन्नत स्थिति को नहीं प्राप्त कर पाया, और जिसे अपनी निम्न स्थिति होने की तथा उसे उन्नत करने की सदैव चिन्ता बनी रहती है, अथवा स्वामी के द्वारा जिसके भरण की चिन्ता की जाती है ऐसा सेवक मनुष्य।ब्राह्मण ग्रन्थों में भी यही भाव मिलता है — ''**असतो वा एष सम्भूतो यत् शूद्र :**'' [तै. ३ । २ । ३ । ९] असत् : = अविद्यात् : । अज्ञान और अविद्या से जिसकी निम्न

जीवनस्थिति रह जाती है, जो केवल सेवा आदि कार्य ही कर सकता है, वह मनुष्य शूद्र होता है।

(२) वह उत्तम कर्मों से उच्च वर्ण को भी प्राप्त कर सकता है।

[९ । ३५ ।। १० । ६५]

(३) शूद्र के कुछ विस्तृत कर्त्तव्यों का वर्णन ९ । ३३४ –३३५ श्लोकों में है । उन श्लोकों से मनु की शूद्र-सम्बन्धी यह मान्यता और भी स्पष्ट हो जाती है कि वे शूद्र को जन्मना नहीं मानते, तथा न घृणास्पद मानते हैं ।

(८) मनु कर्मणा वर्णव्यवस्था मानते हैं इसमें अन्य प्रमाण भी हैं — (क) शूद्र को वे हीन नहीं मानते, अपितु **'शुचि'** := पवित्र **'उत्कृष्ट शुश्रूषुः'** आदि विशेषणों से सम्बोधित करते हैं [९ । ३३५] । सबके घरों में सब प्रकार की सेवा करने वाला भला अपवित्र, अछूत, हीन कैसे हो सकता है ? (ख) मनु व्यक्ति को शूद्र इसलिए मानते हैं कि वह पढ़ता नहीं । उसका वेदाध्ययन-रूप दूसरा ब्रह्मजन्म नहीं होता।२ । १२६ में अज्ञानता के कारण ही यह कथन किया है — **''यथा शूद्रस्तथैव सः''** । ब्राह्मण – क्षत्रिय – वैश्यों को द्विज इसलिए कहा जाता है कि उनका ब्रह्मजन्म रूप दूसरा जन्म होता है — **'द्विर्जायते इति द्विजः'** । शूद्र को 'एकजातिः' न पढ़ने के आधार पर कहा जाता है । देखिए प्रमाण — **'ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णाः द्विजातयः । चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रः नास्ति तु पंचमः ।।'** १० । ४ ।। (ग) मनु कर्मों के आधार पर मनुष्यों के दो वर्ग मानते हैं — जो श्रेष्ठ धर्मांकूल आर्य परम्पराओं में दीक्षित हैं, वे चारों वर्ण आर्य हैं । (२) इनमें अदीक्षित शेष सब दस्यु हैं [१० ।४५] । (घ) मनु कर्म के आधार पर ही व्यक्ति को श्रेष्ठ = आर्य और अश्रेष्ठ = अनार्य = मानते हैं । १० । ५७–५८ में वे कर्मों के आधार पर इनकी पहचान करने को कहते हैं । ये सब बातें मनु की कर्मणा वर्णव्यवस्था की मान्यता को सिद्ध करती हैं ।

(९) १ । ३१ में भी मनु ने अपनी 'कर्मणा वर्णव्यवस्था' की मान्यता का संकेत दिया है । १ । १६, २२, २६ –३० श्लोकों के द्वारा यह कहा जा चुका है कि एक साथ अनेक प्रजाएं उत्पन्न हुईं — ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि के रूप में प्रजाएं उत्पन्न नहीं हुईं, अपितु समान मनुष्यों के रूप में हुईं । फिर उन बहुत सारे मनुष्यों में से समाज की वृद्धि के लिए, एक व्यवस्था के रूप में चार वर्णों का मुख, बाहु, जंघा और पैर की समानता से (गुणकर्मानुसार) निर्माण किया । १ । ३१ में आलंकारिक रूप में यह कथन है । उक्त अंगों का जो स्थान और कार्य शरीर में है, समाज में वही स्थान क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का बनाया । इस प्रकार योग्यता के आधार पर लोगों को चार वर्णों में विभक्त करके उनके कर्म भी योग्यतानुसार निश्चित किये । यह वर्णनक्रम (अनेक प्रजाओं की उत्पत्ति और फिर उनमें वर्णव्यवस्था) और आलंकारिक कथन कर्मानुसार वर्णव्यवस्था का संकेत देता है । इन अनेक प्रमाणों से 'कर्मणा वर्णव्यवस्था' मनु की मौलिक मान्यता सिद्ध होती है, अतः इसकी विरोधी 'जन्मना वर्णव्यवस्था' वाली मान्यता अन्तर्विरोध के आधार पर प्रक्षिप्त कहलायेगी ।

(१०) ब्राह्मणग्रन्थों में कर्मणा वर्णव्यवस्था के स्पष्ट वर्णन मिलते हैं । यथा —

(अ)"सः (क्षत्रियः) ह दीक्षमाण एव ब्राह्मणतामभ्युपैति ।।'' [ऐ. ७ । २३]

क्षत्रिय दीक्षित होकर ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर लेता है ।

(आ) ''तस्मादपि (दीक्षितम्) राजन्यं वा वैश्यं वा ब्राह्मण इत्येव ब्रूयात्, ब्राह्मणो हि जायते यो यज्ञाज् जायते ।।'' [शत. ३ । २ । १ । ४०]

चाहे कोई क्षत्रियपुत्र हो अथवा वैश्यपुत्र, यज्ञ में दीक्षा ग्रहण करके (उपनयनसंस्कार में) वह ब्राह्मण ही कहलाता है अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में वेदाध्ययन के समय यज्ञ में दीक्षित होकर सभी व्यक्ति ब्राह्मण कर्म वाले होते हैं। बाद में कर्मानुसार क्षत्रिय और वैश्य बनते हैं।

(११) वर्ण-परिवर्तन के उदाहरण — ऐतरेय ब्राह्मण २ । १९ में कवष-ऐलूष नामक व्यक्ति की एक घटना वर्णित है, जो वर्ण-परिवर्तन का ज्वलन्त प्रमाण है । जन्मना निम्न जाति का व्यक्ति ऋषित्व के कारण ऋषियों में परिगणित होकर उच्चवर्णस्थ कहलाया —

(क) ''ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्तमासत,ते कवषमैलूषं सोमादनयन्, दास्या: पुत्र: कितवोऽ ब्राह्मण : कथं नो मध्ये दीक्षिष्टेति । . . . स बहिर्धन्वो दूढ्ह पिपासया वित्त एतदपोनप्त्रीयमपश्यत् — 'प्रदेवत्रा ब्रह्मणे गातुरेतु' इति ।।''

अर्थात् — 'ऋषि लोगों ने सरस्वती नदी के तट पर यज्ञ का आयोजन किया । यज्ञ में भाग लेने आये हुए कवष ऐलूष को ऋषियों ने सोम से वञ्चित कर दिया । यह सोचकर कि यह दासी का पुत्र, कपट-आचरण वाला, अब्राह्मण किस प्रकार हमारे मध्य दीक्षित हो गया ! (यज्ञ से बाहर निकाल देने पर) वह कवष-ऐलूष पिपासा से संतप्त हुआ बाहर जंगल में चला गया । वहां उसने 'अपोनप्त्र' देवता वाले सूक्त का 'अर्थदर्शन किया' फिर ऋषियों ने वेदार्थद्रष्टा होने के कारण उसे पुन: अपने मध्य बुलाकर यज्ञ में दीक्षित कर लिया ।

यह सूक्त ऋक्. १० । ३० वाँ है और वेद में इस सूक्त पर इसी ऋषि का नाम उल्लिखित है । इस ऋषि द्वारा दृष्ट अन्य १० । ३१ —३४ सूक्त भी हैं । इससे यह भी सिद्ध होता है कि सूक्तों पर लिखित ऋषि उन-उन सूक्तों के अर्थद्रष्टा हैं ।

(ख) छान्दोग्योपनिषद् में सत्यकाम जाबाल की कथा आती है, जो अज्ञात कुल होते हुए गुण—कर्मों से ब्राह्मण बन गये [४।४।२]। इसी प्रकार चांडाल कुल के मातङ्ग ऋषि ब्राह्मण हो गये । वाल्मीकि रामायण में विश्वामित्र क्षत्रियराजा के ब्राह्मण होने का बर्णन आता है [१.६५सर्ग]। इस प्रकार गुण—कर्म से बर्णव्यवस्था और वर्णपरिवर्तन परम्परा से भी सिद्ध है।

(१२) **वर्ण चार हैं**—(क) मनु ने चार वर्णों की मान्यता अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में उद्घोषित की है । मनुस्मृति में सर्वत्र वर्णनात्मक रूप में चार वर्णों का ही वर्णन है । चार वर्णों की दीक्षा से रहित अन्य सभी व्यक्ति दस्यु हैं [१० । ४५]। अन्य वर्णसंकर आदि संज्ञक कोई वर्ण नहीं । इस मान्यता की पुष्टि के लिए मनुस्मृति के निम्न श्लोक भी द्रष्टव्य है— १।३१, ८७-९१।३।२०।।५।५७। ७।६८ ।। १०।४५, ६५, १३१।। १२।९७ आदि ।

(ख) **चार वर्णों में शास्त्रीय प्रमाण**—अन्यत्र शास्त्रग्रन्थों में भी चार वर्णों का ही उल्लेख आता है । इन चार वर्णों से शेष व्यक्ति आर्येतर हैं, जिन्हें निषाद, असुर, राक्षस आदि विभिन्न वर्गकृत नामों से अभिहित किया जाता है—

(अ) **''ऊर्जाद : उत यज्ञियास : पंचजना : मम होत्रं जुषध्वम् ।''**

(ऋक् १०।५३।४)

''पंचजना :—चत्वारो वर्णा :, निषादः पंचम इति औपमन्यव : ।''

[निरु. ३ । २ । ७]

चार वर्ण = ब्राहमण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और इनसे भिन्न पांचवें निषादजन, ये वेदोक्त पांच प्रकार के मनुष्य हैं ।

(आ) ''चत्वारो वर्णा: । ब्राह्मणो राजन्यो वैश्य : शूद्र :''
[श. ब्रा. ५ । ५ । ४ । ९]

''चत्वारो वै पुरुषा ब्राह्मणो राजन्यो वैश्य : ।।''
[मैत्रा. सं. ४ । ४ । ६]

कर्मणा-चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का आधार वेद —

यजुर्वेद के पुरुषसूक्त में चार वर्णों की उत्पत्ति का वर्णन आया है । इन मन्त्रों से मनु का भाव और स्पष्ट हो जाता है तथा ब्रह्मा के अंगों से चार वर्णों की उत्पत्ति की भ्रान्ति का भी निराकरण हो जाता है । जैसा कर्मों-गुणों के आधार पर आलंकारिक वर्णन वेद में है,वैसा ही मनुस्मृति में है । मन्त्र निम्न हैं—

(क) ''यत्पुरुषं व्यदधु : कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते ।।
[यजु. ३१ । १०]

(यत्पुरुषं.) पुरुष उसको कहते हैं कि जो सर्वशक्तिमान ईश्वर कहाता है। **(कतिधा व्य.)** जिसके सामर्थ्य का अनेक प्रकार से प्रतिपादन करते हैं,क्योंकि उसमें चित्रविचित्र बहुत प्रकार का सामर्थ्य है, अनेक कल्पनाओं से जिसका कथन करते हैं, **(मुखं किमस्यासीत्)** इस पुरुष के मुख अर्थात् मुख्य गुणों से इस संसार में क्या उत्पादन हुआ है? **(किं बाहू)** बल वीर्य्य, शूरता और युद्ध आदि विद्यागुणों से किसकी उत्पत्ति हुई है? **(किमूरू)** व्यापार आदि मध्यम गुणों से किसकी उत्पत्ति होती है ? इन चारों प्रश्नों के उत्तर ये हैं कि—

(ख) ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्य : कृत : ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्य : पद्भ्यां शूद्रो अजायत ।।
[यजु. ३१ । ११]

(ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्) इस पुरुष की आज्ञा के अनुसार जो विद्या, सत्य-भाषण आदि उत्तमगुण और श्रेष्ठकर्मों से **ब्राह्मणवर्ण** उत्पन्न होता है, वह मुख्य कर्म और गुणों के सहित होने से मनुष्यों में उत्तम कहाता है **(बाहू राजन्य : कृत :)** और ईश्वर ने बल-पराक्रम आदि पूर्वोक्त गुणों से युक्त क्षत्रिय वर्ण को उत्पन्न किया है **(ऊरू तदस्य.)** खेती, व्यापार और सब देशों की भाषाओं को जानना तथा पशुपालन आदि मध्यम गुणों से वैश्य वर्ण सिद्ध होता है **(पद्भ्यां शूद्रो.)** जैसे पग सबसे नीच अंग है वैसे मूर्खता आदि नीच गुणों से शूद्रवर्ण सिद्ध होता है ।'' [ऋ. भू. १२५-१२६]

(ग) इस आलंकारिक वर्णन की पुष्टि के लिए वेदों के व्याख्याग्रन्थ ब्राह्मणों के प्रमाण भी उपलब्ध हैं । निम्न वचनों में ब्राह्मण को समाज या मनुष्यों का मुखरूप बताया है, मुख से उत्पन्न हुआ नहीं —

(अ) ''ब्राह्मणो मनुष्याणां मुखम् ।'' [तां. ६ । ६ । ९]
= ब्राह्मण मनुष्यों का मुख है ।

(आ) ''अस्य सर्वस्य ब्राह्मणो मुखम् '' [श. ३ । ९ । १ । १४]

(ख) जन्मना वर्णव्यवस्था के विधायक स्थल और इस विषयक शंकाओं का निराकरण —

मनुस्मृति में जन्मना वर्णव्यवस्था खोजने वाले व्यक्ति प्रमुखत : निम्नस्थलों से इस विषयक आधार ग्रहण करते हैं —

(१) १ । २ में '**अन्तरप्रभवाणाम्**'और १ । १३७ [२ । १८] में '**सान्तरालानाम्**' पदों से वर्णसंकरों का वर्णन है । इस प्रकार मनु वर्णसंकरों के धर्मों का वर्णन भी करते हैं,और जन्मना वर्ण तथा जातियां मानते हैं ।

(२) १ । ९८-१०० श्लोकों में जन्म के आधार पर ब्राह्मण की प्रशंसा है ।

(३) २ । ११-१४ [२ । ३६-३९] उपनयनविषयक श्लोकों में शूद्र का उल्लेख नहीं है । इसका अभिप्राय यह है कि मनु जन्म से ही शूद्र मानते हैं । जन्म से अन्य वर्णों के नामों का उल्लेख भी मनु की जन्मना-मान्यता की प्रवृत्ति को प्रकट करता है ।

(४) दशम अध्याय में जन्म से ही माने गये वर्णसंकरों का तथा अन्य विविध जातियों का वर्णन है ।

इनका उत्तर क्रमश : दिया जाता है—

(क) इन श्लोकों में टीकाकारों ने '**अन्तरप्रभवाणाम्**' पद का — ''संकीर्ण जातियों या **वर्णसंकरों** के'' यह अर्थ अशुद्ध किया है । इस पद का अर्थ 'आश्रमों के' होना चाहिये । इसकी पुष्टि में निम्न युक्तियाँ हैं —

२ । १८ [इस संस्करण के अनुसार १ । १३७] में '**अन्तरप्रभवाणाम्**' के पर्यायवाची रूप में '**सान्तरालानाम्**' शब्द का प्रयोग किया है । जैसे यहाँ वर्णों के साथ '**अन्तरप्रभवाणाम्**' शब्द का प्रयोग है, वैसे ही उक्त श्लोक में भी वर्णों के कथन के साथ-साथ '**सान्तरालानाम्**' शब्द का प्रयोग हैं । उस श्लोक में '**सान्तरालानाम्**' शब्द का अर्थ 'आश्रम' है, अत : यहां भी उसके पर्यायवाची शब्द '**अन्तरप्रभवाणाम्**' शब्द का अर्थ '**आश्रमों के**' होना चाहिये । यद्यपि २।१८ [१।१३७] श्लोक में भी टीकाकारों ने '**सान्तरालानाम्**' शब्द का अर्थ 'संकीर्ण जाति' या 'वर्णसंकर'किया है, किन्तु वह मनु की मान्यता के विरुद्ध है । यतो हि, उस श्लोक में धर्म के चार मूलाधारों में से एक आधार 'सदाचार' [२ । ६, १२ या १ । १२५, १३१] का लक्षण किया है और बताया गया है कि ''ब्रह्मावर्त देश के निवासी वर्णों और आश्रमों का जो परम्परागत श्रेष्ठ आचरण है, वह 'सदाचार कहलाता है'' । इस श्लोक में 'सान्तराल' शब्द का 'वर्णसंकर' या 'संकीर्ण जाति' अर्थ इसलिए ग्रहण नहीं हो सकता,क्योंकि वर्णसंकरों का आचरण 'सदाचार' ही नहीं हो सकता और न ही उनके आचरण को उन श्लोकों में 'सदाचार' के रूप में माना है ।

इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि वर्णसंकरों के धर्मवर्णन-प्रसंग में अनेक स्थानों पर उनके आचरण को निन्दनीय और गर्हित कहा है । उस प्रसंग में संकीर्ण जातियों के लिए प्रयुक्त विशेषणों में कुछ इस प्रकार हैं —''**मातृदोषविगर्हितान्**'' = माता के दोष से निन्दित जन्म वाले [१० । ६], ''**क्रूराचारविहारवान्**'' = क्रूर आचार-व्यवहार वाले [१० । ९], ''**अधमो नृणाम्**'' = मनुष्यों में नीच [१० । १२], ''**अव्रतांस्तु यान्**'' = व्रतहीन [१० । २०], ''**पापात्मा भूर्जकण्टक :**'' = पापी आत्मा वाले भूर्जकण्टक [१० । २१], ''**ततोऽप्यधिकदूषितान्**'' = उनसे भी अधिक दूषित आचरण वाले [[illegible]], ''[illegible]'' = निन्दित

सन्तानों को जन्म देते हैं [१० । २९]। इसी प्रकार संकीर्ण जातियों का 'अपसद' (नीच) 'अवध्वंसज' (पतितोत्पन्न) आदि शब्दों द्वारा नामकरण करना भी यह सिद्ध करता है कि रचयिता इन्हें निन्दित आचरण वाला मानता है। इनके अतिरिक्त उस प्रसंग में वर्णसंकरों के जो पशुहिंसा आदि धर्म बतलाये हैं,वे मनु के मत में धर्म न होकर दुष्कर्म हैं; जिनकी मनु ने स्थान-स्थान पर निन्दा की है। फिर उनके आचरण को 'सदाचार' कैसे कहा जा सकता है ? और न उन्हें 'धर्म' कहा जा सकता है। इससे यह बोध होता है कि उक्त श्लोक में 'सान्तराल' शब्द का 'वर्णसंकर' अर्थ करना संगत नहीं है, और मनु के विरुद्ध भी है। अतः वहां उसका 'आश्रम' अर्थ होना चाहिए। उसके पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त होने से इस श्लोक में 'अन्तरप्रभव' का अर्थ भी 'आश्रम' ही समीचीन है।

(ख) मनुस्मृति में वर्णों के धर्मों के साथ-साथ विस्तृत और विशिष्ट रूप से आश्रमों के धर्मों का ही कथन है, वर्णनसंकरों के धर्मों का नहीं। यह भी ध्यान देने की बात है कि इस श्लोक में जिस क्रम से वर्णों और आश्रमों के धर्मों को बतलाने की इच्छा व्यक्त की है, ठीक उसी क्रम से ही मनुस्मृति में उसका उल्लेख है। आश्रमों और वर्णों का क्रम साथ-साथ चलता है, जैसे — द्वितीय अध्याय में — ब्रह्मचर्याश्रम का वर्णन है, तृतीय से पञ्चम तक गृहस्थ का, षष्ठ में वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम का वर्णन है। साथ-साथ छठे अध्याय तक ब्राह्मण के कर्त्तव्य भी उक्त हो जाते हैं। फिर क्षत्रियों के शेष कर्त्तव्यों का वर्णन ७ । १ । से ९ । ३२५ तक है। वैश्य के अतिरिक्त कर्त्तव्यों का कथन ९ । ३२६ से ३३३ [इस संस्करण में १० । १-६] तक तथा शूद्रों के कर्त्तव्यों का वर्णन ९ । ३३४-३३५ [इस संस्करण में १० । ७-८] में है। यदि 'अन्तरप्रभवाणाम्' का 'आश्रम' अर्थ न करके 'वर्णसंकर' अर्थ लिया जाये तो प्रश्न उठेगा कि जब प्रारम्भ में आश्रमों के धर्म पूछने का प्रश्न ही नहीं है,तो इतने विस्तृत और प्रधान रूप से आश्रमों के धर्मों का विधान क्यों किया गया है ? वर्णों और आश्रमों के धर्मों का साथ-साथ और प्रधानतापूर्वक वर्णन करने की मनु की यह शैली भी यह संकेत देती है कि इस श्लोक में वर्णों और आश्रमों के विषय में प्रश्न है, वर्णसंकरों के विषय में नहीं।

(ग) मनुस्मृति में सर्वत्र वर्णों के साथ आश्रमों का उल्लेख करने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है, वर्णसंकरों की नहीं। १२ । ९७ में भी वर्णों के साथ आश्रमों का उल्लेख है — ''**चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाःचत्वारश्चाश्रमाः पृथक्**''। इसी प्रकार ७ । ३५ में भी राजा को वर्णों और आश्रमों के धर्मों का रक्षक कहा है, वर्णसंकरों का उल्लेख ही नहीं —

> स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः ।
> वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ।।

इस प्रवृत्ति के अनुसार भी यहाँ वर्णों के साथ प्रयुक्त 'अन्तरप्रभव' शब्द का अर्थ 'आश्रम' ही सिद्ध होता है।

(घ) मनुस्मृति में दशम अध्याय को छोड़कर वर्णों के साथ अथवा स्वतन्त्र रूप से कहीं भी वर्णसंकरों की चर्चा या उल्लेख नहीं है। नामकरण संस्कार [२ । २६-३५ या २ । १-१०] विवाहविधि [३ । २०] आदि प्रसंगों में जहाँ शूद्रों के लिए भी विधान किए हैं, वहां भी इनका उल्लेख नहीं है। दशम अध्याय में भी जो इनका वर्णन है,वह वस्तुतः मौलिक न होकर प्रक्षिप्त है (विस्तृत जानकारी के लिए दशम अध्याय के श्लोकों की समीक्षा देखिए)। यतो हि, वह विषय प्रसंगविरुद्ध रूप से वर्णित है। मनु की विषय-संकेत-शैली से भी दशम अध्याय का वर्णसंकरों का प्रसंग प्रक्षिप्त सिद्ध होता है। वर्णों के धर्म-कथन का विषय प्रारम्भ करते हुए वे कहते

है — ''**वर्णधर्मान्निबोधत**'' १ । १४४ [अन्य संस्करणों में २ । २५] । इसी प्रकार इस विषय की समाप्ति का संकेत करते हुए कहा — ''**एष धर्मविधि : कृत्स्नश्चातुर्वर्ण्यस्य कीर्तित :**'' १० । १४२ [अन्य संस्करणों में १० । १३१] । दोनों ही स्थानों पर वर्णों के धर्मों के वर्णन का कथन है, आपद्धर्म का नहीं । यहां बीच में वर्णसंकरों के वर्णन करने का न तो प्रसंग था और न ही अभीष्टता, किन्तु फिर भी किसी ने इस वर्णन को बलात् मिलाया है ।

इसी प्रकार १० । १५ [अन्यत्र १० । ४] में स्पष्ट शब्दों में मनु ने उद्घोषित किया है कि आर्यों के समाज में केवल चार वर्ण हैं, पांचवां कोई नहीं है । इनसे भिन्न सभी दस्यु हैं, चाहे वे आर्य भाषाएं बोलते हों अथवा म्लेच्छ भाषाएं [१० । ५६(१० । ४५)] । यहां वर्णसंकरों का कोई उल्लेख नहीं । इससे वर्णसंकरों का वर्णन [१० । ५-७३] मनुस्मृतिसम्मत या मौलिक सिद्ध नहीं होता । जब यह मनुस्मृतिसम्मत ही सिद्ध नहीं होता, तो इस ग्रन्थ में किसी शब्द से 'वर्णसंकर' अर्थ ग्रहण करना ही अनुपयुक्त एवं विरुद्ध है । अत : यहां भी 'वर्णसंकर' अर्थ न होकर 'आश्रम' अर्थ ही मनुस्मृतिसम्मत है ।

(ङ) मनु ने संक्षिप्त भूमिका के रूप में १ । ८७-९१ श्लोकों में एक-एक वर्ण का नामोल्लेख तथा उनका कर्मवर्णन किया है । उससे स्पष्ट संकेत मिल जाता है कि मनु मनुष्य-समाज में चार वर्णों के अतिरिक्त कोई वर्ण नहीं मानते । इन श्लोकों से यह भी संकेत मिलता है कि मनुस्मृति में मनु को केवल इन्हीं चार वर्णों के धर्मों का कथन अभीष्ट है, अन्य किसी वर्णसंकर आदि का नहीं । अत : यहाँ भी 'अन्तरप्रभव' का अर्थ वर्णसंकर करना मनु की मौलिकता के विरुद्ध है, इसका 'आश्रम' अर्थ ही प्रकरणसंगत है ।

(च) प्रतीत होता है कि जब वर्णसंकरों के प्रसंग का प्रक्षेप हुआ, तो उन लोगों ने तदनुसार ही 'अन्तरप्रभव' और 'सान्तराल' शब्दों के अर्थों को भी परिवर्तित करके 'वर्णसंकर' अर्थ प्रचलित कर दिया । यही नहीं, अपने आशय के अनुसार ऐसे लोगों ने पाठभेद करने का भी प्रयास किया । तीन-चार हस्तलिखित प्रतियों में '**अन्तर-प्रभवाणाम्**' पद के स्थान पर '**संकरप्रभवाणाम्**' पाठभेद भी मिलता है । यह पाठभेद वर्णसंकर-सम्बन्धी प्रक्षिप्त श्लोकों को मौलिक सिद्ध करने का ही एक प्रयास था । यह पाठभेद तो प्रचलित नहीं हो पाया किन्तु इस पाठभेद के अनुसार अर्थ की भ्रान्ति अवश्य प्रचलित हो गई ।

२. १ । ९८-१०० श्लोक, १ । ९२-१०७ तक चलने वाले श्लोकों के बीच आते हैं और पूर्वापर दृष्टि से उनसे सम्बद्ध भी है । ये सभी श्लोक पूर्वापर प्रसंग से असम्बद्ध हैं, और सांकेतिक 'सृष्ट्युत्पत्ति-विषय' से बाह्य हैं । इन श्लोकों में मनुस्मृति को शास्त्र कहा गया है । शैली के आधार पर यह प्रयोग इन श्लोकों को परवर्ती सिद्ध करता है ।

३. (क) **उपनयन में शूद्र का उल्लेख क्यों नहीं?**— ११-१३ श्लोकों में मनु ने उपनयन संस्कार का विधान करते हुए शूद्र का उल्लेख नहीं किया । यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि मनु कर्मणा वर्णव्यवस्था मानते हैं, तो शूद्र का उल्लेख क्यों नहीं किया ? इसका समाधान इस प्रकार है —

(अ) इस प्रश्न में ही इसका उत्तर भी निहित है । उपनयन में शूद्र का उल्लेख न करने से यह संकेत मिलता है कि मनु उपनयन और वेदारम्भ की दीक्षा से पूर्व किसी को जन्म से शूद्र नहीं मानते । यह द्विज-दीक्षा का संस्कार है, और वे द्विज तीन ही प्रकार के होते हैं । जो व्यक्ति जिस वर्ण की दीक्षा दिलाना चाहे वह इन तीनों में उसी वर्ण में प्रवेश ले सकता है । पुन : शिक्षा-दीक्षा के उपरान्त आचार्य [illegible] वर्णों का निश्चय करता है [२ । १३१ (१४६), १३३ (१४८)]

(अ) जो व्यक्ति इन तीनों वर्णों के गुणों को धारण नहीं कर सकता और वेदारम्भ तथा उपनयन रूप ब्रह्मजन्म को ग्रहण नहीं कर सकता वह शूद्र रह जाता है । उपनयन से पूर्व अर्थात् द्विजजन्म से पूर्व सभी वर्णों के बालक शूद्र ही होते हैं — **'जन्मना जायते शूद्र :, संस्कराद् द्विज उच्यते'** । इस प्रकार कोई भी बालक किसी वर्ण में दीक्षित हो सकता है । मनु ने स्पष्ट शब्दों में कहा है —

चतुर्थ : एकजातिस्तु शूद्र : ।। १० ।४ ।।

इस प्रकार उपनयन आदि से पूर्व शूद्र का कोई निर्धारण न होने से उसके उल्लेख की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती । द्विज की 'पतित' या 'शूद्र' होने की स्थिति अध्ययन के बाद आती है । द्विजों के अध्ययन और कार्यों में असमर्थ व्यक्ति ही शूद्र है [२ । १४-१५ (३९-४०)]

(इ) मनु जन्मना वर्णव्यवस्था नहीं मानते, इसकी पुष्टि में यह भी एक प्रबल युक्ति है कि मनु ने उपनयन के प्रसंग में शूद्र के उपनयन का निषेध नहीं किया । अगर वे जन्म से ही शूद्र का अस्तित्व और वर्णनिर्धारण मानते तो इस प्रसंग में पृथक् से उसके उपनयन का निषेध करते।

(ख) 'ब्राह्मणस्य' आदि पदों का मनुसम्मत अर्थ —

(अ) ११-१३ श्लोकों में 'ब्राह्मणस्य' आदि पदों का प्रचलित टीकाओं में ब्राह्मण के बालक का, 'राज्ञ :' या 'क्षत्रियस्य'= क्षत्रिय के बालक का, 'वैश्यस्य','विश :'= वैश्य के बालक का, यह अर्थ मिलता है । यह अर्थ श्लोक के पदप्रयोग के विरुद्ध है और मनु की मान्यता के विरुद्ध भी । श्लोक के पदों में 'बालक' अर्थ देने वाला कोई पद नहीं है, जिससे कि 'ब्राह्मण के बालक' आदि अर्थ किये जायें । इसी प्रकार मनु कर्मणा वर्णव्यवस्था मानते हुए कर्मणा वर्ण-परिवर्तन मानते हैं [देखिए १० । ६५ ।। १ । ८७-९१ । १ । १०७ श्लोक और उन पर समीक्षा] । इन अर्थों से ऐसा प्रतिभासित होता है, जैसे जन्म के आधार पर वर्ण-प्रवेश है, और वह भी ब्राहमण का ब्राह्मण वर्ण में, क्षत्रिय का क्षत्रिय वर्ण में, वैश्य का वैश्य में । यह उक्त मान्यता से मेल नहीं खाता ।

(आ) यहां ये पद वस्तुत : जातिवाचक न होकर वर्णसंज्ञावाचक हैं । जिनका अर्थ है 'ब्राह्मण — वर्ण का दीक्षाकाल' आदि । मनुसम्मत मान्यता के आधार पर अध्याहार से इनका अर्थ 'ब्राह्मण वर्ण को धारण करने के इच्छुक का' आदि अर्थ किये गये हैं । इस अर्थ का संकेत मनु के **'ब्रह्मवर्चसकामस्य'** [२ । १२] आदि पदों से भी प्राप्त होता है । इस अर्थ की व्यापकता के अन्तर्गत दोनों प्रकार के भावों का समावेश हो जाता है; जो वंशपरम्परानुसार अपने वर्ण में दीक्षा दिलाना चाहे, वह भी इस व्यवस्थानुसार दीक्षा करा सकता है, और जो परिवर्तनपूर्वक अपने बालक को दूसरे वर्ण में दीक्षित कराना चाहे, तो वह भी उस निर्धारित समय-व्यवस्थानुसार करा सकता है ।

(इ) यहां यह शंका हो सकती है कि इतने अल्पवयस्क बच्चों के साथ 'इच्छुक' पद का सम्बन्ध नहीं बनता ? इसका स्पष्ट-सा उत्तर है कि माता-पिता की इच्छा के आधार पर ये प्रयोग हैं । प्रारम्भ में माता-पिता अपने बच्चे को जैसा बनाना चाहते हैं, उसी के अनुसार सभी संस्कार करते हैं । पुन : उसकी शिक्षा-दीक्षा को परखकर वर्ण का अन्तिम निश्चय आचार्य करता है [२ । १२१ (१४६), १२३ (१४८)] । देखिये मनु ने इसी व्यवहार के आधार पर पांच वर्ष के बालक के लिए **'ब्रह्मवर्चसकामस्य' 'बलार्थिन :, 'वैश्यस्य इह अर्थिन :'** [२ । १२] पदों का प्रयोग किया है, जबकि इतने अल्पवय बालकों को ब्रहमवर्चसकामना आदि की इच्छा, गम्भीरता एवं परिणाम का ज्ञान नहीं होता । इस प्रमाण के आधार पर प्रस्तुत भाष्य का अर्थ ही मनु के वर्णनानुरूप ही है ।

४. उपर्युक्त विवेचन (संख्या १) से यह स्पष्ट हो गया कि मनुस्मृति में वर्णसंकरों का वर्णन

तर्पण आदि कर्म में सत्कार करने योग्य तीन हैं — देव, ऋषि और पितर । 'पितर' से अभिप्राय मृतकों से नहीं अपितु जीवितों से है । "**पान्ति पालयन्ति रक्षन्ति अन्न-विद्या-सुशिक्षा-आदिदानै ; ते पितरः**" = जो अन्न विद्या, सुशिक्षा आदि से पालन-पोषण और रक्षण करते हैं वे 'पितर' कहलाते हैं । इसमें ब्राह्मणों के प्रमाण द्रष्टव्य हैं —

(अ) "**देवा वा एते पितरः**" [गो. उ. १।२४]

(आ) "**स्विष्टकृतो वै पितरः**" [गो. उ. १।२५]

अर्थात् सुख सुविधाओं द्वारा पालन-पोषण करने वाले और हितसम्पादन करने वाले विद्वान् व्यक्ति 'पितर' कहलाते हैं ।

ये श्लोक अपने-अपने प्रसंग में सहज ढंग से उक्त हैं, और विषय तथा शैली के अनुकूल हैं ।

(ख) मृतकश्राद्ध के विधायक स्थल —

(अ) ३।१२२-२८४ तक मृतकश्राद्ध का एक स्वतन्त्र प्रसंग है ।

इस प्रसंग का अपने पूर्वापरप्रसंग से न तो तालमेल है, न यह विषय संकेत के अनुसार है, और न मनु की मूल भावना के अनुकूल है । ऐसा निम्न कारणों से ज्ञात होता है —

१. **अन्तर्विरोध** — इस प्रसंग में वर्णित विधानों के मनुस्मृति के अन्य विधानों से अनेक अन्तविरोध हैं —(१) १२२ से २८४ श्लोकों में मृतकश्राद्ध का विधान है । यह मान्यता मनुविरुद्ध है । मनु ने पितृयज्ञ के रूप में जीवितों का श्राद्ध और वह भी दैनिक रूप में विहित किया है [३।८०-८२] [विस्तृत रूप में द्रष्टव्य है ३।८५ पर अनुशीलन समीक्षा] । मनु के अनुसार 'पितृ' या 'पितर' शब्द का अर्थ भी 'बुजुर्ग' 'पालक' है । देखिए ९।२८; २।१२६; [२।१५१] में 'पितृ' शब्द का प्रयोग 'बुजुर्गों' के लिये किया है । (२) दैनिक पितृयज्ञ या श्राद्ध घर पर विहित है, जबकि इन श्लोकों में वर्णित श्राद्ध को वनों, नदीतीरों, एकान्त स्थानों [२०७] पर करने का कथन है । यह भिन्नता मनु की व्यवस्था के विरुद्ध है । (३) मनु ने पितृयज्ञ को ही श्राद्ध माना है और उससे भिन्न कोई क्रिया पितृयज्ञ में नहीं मानी [८०-८२], जब कि इन श्लोकों में "**पितृयज्ञं तु निर्वर्त्य**" कहकर "**पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं कुर्यात् मासानुमासिकम्**" [१२२] के विधान से यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्णन करने वाला इस विधान को पितृयज्ञ से भिन्न क्रिया मानता है । यह अतिरिक्त पृथक् श्राद्ध का विधान मनु की व्यवस्था के अनुकूल नहीं है । (४) पितृयज्ञ के प्रसंग में केवल अन्न, जल, फल-मूल से ही श्राद्ध करना कहा है [८२], जब कि इस प्रसंग में मांस से श्राद्ध करना अधिक फलदायक माना है [२६६-२७२] । (५) इस प्रसंग में अनेक श्लोकों में मांसभक्षण का विधान है [१२३, २२७, २५७, २६६-२७२] । यह मान्यता मनुस्मृति की मौलिक मान्यता के ही विरुद्ध है । मनु ने मांसभक्षण को पाप और मांसभक्षक को पापी कहा है [५।४३-५१] और हिंसा करने वाले के लिए प्रायश्चित्तों का विधान किया है [३।६८-६९] । [विस्तृत समीक्षा ४।२६-२८ श्लोकों पर देखिये] । (६) मनु कर्त्ता को ही स्वयं फल का भोक्ता मानते हैं [४।२४०] ।

इस प्रसंग में श्राद्धकर्त्ता द्वारा पितरों का निस्तार [२२०-२२२], एक के श्राद्ध से सात पीढ़ी के वंशजों को पुण्यफल-प्राप्ति [१४६], आदि कथन उक्त मान्यता के विरुद्ध हैं । (७) १३६, १३७, १५२-१५६, १६४-१६६, १८२ आदि श्लोकों में वर्णव्यवस्था को जन्मना मानने के

संकेत हैं, जबकि मनुकर्मणा वर्णव्यवस्था मानते हैं । [१।८८; २।१४३ (१६८), १२२-१२३ (१४७-१४८)] । उक्त श्लोकों में वर्णित कर्म ब्राह्मणों के नहीं हो सकते । यदि उनमें ये कर्म हैं तो वे मनु की व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण नहीं कहला सकते । (८) २।८१ [१०६] में वेदाध्ययन को सर्वदा पुण्यदायक माना है, जबकि इस प्रसंग में श्राद्ध में वेदपाठ निषिद्ध है [१८८] । [९] प्रथम अध्याय में सृष्टि का उत्पत्ति परमात्मा द्वारा पञ्चभूतों के माध्यम से मानी है [१।६, १४-२०], जबकि इस प्रसग में मरीचि आदि ऋषियों से चराचर जगत् की उत्पत्ति कही है, जो प्रकृतिविरुद्ध बात है [२०१] । (१०) १।९१ में शूद्रों का कर्म द्विजों की सेवा करना कहा है, जबकि इस प्रसंग में शूद्रों का श्राद्ध के पदार्थों से स्पर्श करना भी निषिद्ध हैं [२४१] । १९७ में शूद्रों के पितर सुकाली माने जाते हैं । जब शूद्रों के लिए श्राद्ध में स्पर्श तक का निषेध है,तो शूद्रों के यहां कौन से ब्राह्मण श्राद्ध खायेंगे ? यदि नहीं खाते हैं,तो फिर शूद्रों के लिए श्राद्ध का विधान क्यों ? (११) इस सम्पूर्ण प्रसंग में पितरों के लिए हव्य-कव्य आदि देने का विधान है,किन्तु मनु के मत में जीवित व्यक्तियों को दिये जाने वाले भोज्य एवं हितार्थ देय वस्त्र, धन आदि दान 'हव्य-कव्य' कहलाते हैं । ४ ।३०-३१ में देखिए मनु ने स्पष्टत : जीवित, धार्मिक विद्वानों को हव्य-कव्य देने का कथन किया है । यह सम्पूर्ण प्रसंग उक्त मान्यता के विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त है ।

२. **प्रसंगविरोध** —(१) ११७ वें श्लोक में गृहस्थी को '**शेषभुक्**' होने के लिए कहा है और ११८ वें श्लोक में '**यज्ञशेषभुक्**' होने के लिए कहा है । २८५ वें श्लोक में इन्हीं बातों का विकल्प रूप में कथन है । यह कहना चाहिए कि २८५ वां श्लोक इनका 'अर्थवाद' रूप है । बीच के इन श्लोकों ने उस पूर्वापर प्रसंग को भंग करके एकवाक्यात्मक वर्णन को तोड़ दिया है ।

(२) ११७-११८ और २८५ श्लोक में अतिथि यज्ञ से सम्बन्धित प्रसंग है, जिसमें गृहस्थी को कैसा भोजन करना चाहिए,यह स्पष्टीकरण है । इसके बीच में संबन्धियों की पूजा, राजा-स्नातक की पूजा [११९, १२०],बलिवैश्वदेव का विधान [१२१], पितृश्राद्ध का विधान [१२२-२८४], पूर्वापर प्रसंग-विरुद्ध है ।

(३)३।१२२ वें श्लोक में "**पितृयज्ञं तु निर्वर्त्य**" कहकर नये सिरे से पितृश्राद्ध का प्रसंग शुरू किया गया है । यदि यह प्रसंग मौलिक होता तो प्रसंगक्रम की दृष्टि से पितृयज्ञ के प्रसंग [३।८१, ८२] के साथ होना चाहिए था, किन्तु ऐसा न होकर खण्डित क्रम में इसका वर्णन है । यह क्रम की असंगति इसे मौलिक सिद्ध नहीं करती । इस प्रकार इन प्रसंगविरोधों के आधार पर ये सभी ११९ से २८४ श्लोक प्रक्षिप्त हैं ।

३. **विषयविरोध** — ६७ वें श्लोक में "**वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत . . . पञ्चयज्ञविधानं च**" कहकर दैनिक पञ्चयज्ञों के वर्णन का संकेत किया है और समाप्तिसूचक "**एतत् व : अभिहितं सर्वं विधानं पाञ्चयज्ञिकम्**" श्लोक से भी यही सिद्ध है कि ६७ से २८६ श्लोकों का विषय केवल दैनिक पञ्चयज्ञों का विधान करना है । १२२ से २८४ श्लोकों में दैनिक पञ्चयज्ञों से भिन्न मासिक, त्रैमासिक आदि श्राद्धों का वर्णन है । यह वर्णन मनु के विषय-संकेत से बाह्य होने से विषयविरुद्ध है, अत : प्रक्षिप्त है ।

इस प्रकार मृतकश्राद्ध की मान्यता मनुविहित न होकर अन्य द्वारा प्रक्षिप्त है । मनु द्वारा वर्णित श्राद्ध से अभिप्राय केवल जीवित वयोवृद्धों की सेवा-सुश्रूषा से है ।

४. नियोग-प्रथा मनुविहित एवं वैदिक है —

(क) इस प्रथा के विधायक स्थल —

मनु ने ९।५६-५९, ६२, ६३ श्लोकों में बहुत स्पष्ट शब्दों में नियोग का विधान किया है। वे कहते हैं कि सन्तान का अभाव होने पर (पति के मरने पर अथवा जीते हुए भी सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होने पर) स्त्री को अथवा विधवा को देवर अर्थात् पति के भाई से अथवा उसके वंशस्थ पुरुष से सन्तान प्राप्त कर लेनी चाहिए। प्रमुख श्लोक है —

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया।
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ।। [९।५९ ।।]

(१) नियोग का अर्थ है — 'सन्तान प्राप्ति के लिए किसी स्त्री अथवा विधवा को किसी अन्य पुरुष से शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करने की स्वीकृति देना।' नियोग के लिए 'नियुक्त करना' या 'नियोग की विधि' से अभिप्राय यह है कि जैसे समाज और परिवार में प्रसिद्धिपूर्वक विवाह होता है उसी प्रकार नियोग भी होता है। इन्हीं के समक्ष पुत्र आदि प्राप्त करने के सम्बन्ध में निश्चय होते हैं। उस निश्चय के अनुसार चलना 'विधि' है और अन्यथा चलना 'विधि का त्याग' है। मनु ने यह भी स्पष्ट किया है कि यह शारीरिक सम्बन्ध केवल सन्तान प्राप्ति के लिए ही है, विलासिता के लिए नहीं। सन्तान प्राप्ति के पश्चात् यदि वे स्त्री-पुरुष सम्बन्ध स्थापित करते हैं तो दण्डनीय होते हैं [९।६२-६३]।

यह परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। इसमें वेदों, इतिहास और परम्पराओं के प्रत्यक्ष प्रमाण मिलते हैं —

(२) वेदों में नियोग का विधान और इतिहास के प्रमाण —

(क) उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ ।।
[ऋ. ।मं. १०। सू. १८। मं. ८ ।।]

अर्थ — "(नारि) विधवे! तू (एतं गतासुम्) इस मरे हुए पति की आशा छोड़ के बाकी पुरुषों में से (अभि जीवलोकम्) जीते हुए दूसरे पति को (उपैहि) प्राप्त हो, और (उदीर्ष्व) इस बात का विचार और निश्चय रख कि जो (हस्तग्राभस्य दिधिषोः) तुम विधवा के पुनः पाणिग्रहण करने वाले नियुक्त पति के सम्बन्ध के लिए नियोग होगा तो (इदम्) यह (जनित्वम्) जना हुआ बालक उसी नियुक्त (पत्युः) पति का होगा और जो तू अपने लिये नियोग करेगी तो यह सन्तान (तव) तेरी होगी। ऐसे निश्चययुक्त (अभि सम्बभूथ) हो और नियुक्त पुरुष भी इसी नियम का पालन करे।"
(स. प्र. चतुर्थ समु.)

(ख) (प्रश्न) नियोग मरे पीछे ही होता है वा जीते पति के भी?
(उत्तर) जीते भी होता है —
अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ।। ऋ. मं. १०। सू. १० ।।

जब पति सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होवे तब अपनी स्त्री को आज्ञा देवे कि हे सुभगे! सौभाग्य की इच्छा करनेहारी स्त्री तू (मत्) मुझ से (अन्यम्) दूसरे पति की (इच्छस्व) इच्छा कर, क्योंकि अब मुझ से सन्तानोत्पत्ति की आशा मत कर। तब स्त्री दूसरे से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति करे परन्तु उस विवाहित महाशय पति की सेवा में तत्पर रहे। वैसे ही स्त्री भी जब रोगादि दोषों से ग्रस्त होकर

सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होवे तब अपने पति को आज्ञा देवे कि हे स्वामी! आप सन्तानोत्पत्ति की इच्छा मुझसे छोड़ के किसी दूसरी विधवा स्त्री से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कीजिए।

जैसा कि पाण्डु राजा की स्त्री कुन्ती और माद्री ने किया, और जैसा व्यास जी ने चित्रांगद और विचित्रवीर्य के मरजाने के पश्चात् उन अपने भाइयों की स्त्रियों से नियोग करके अम्बिका में धृतराष्ट्र और अम्बालिका में पाण्डु और दासी में विदुर की उत्पत्ति की; इत्यादि इतिहास भी इस बात में प्रमाण है।" (स. प्र. चतुर्थ समु.)

(३) देवर शब्द का अर्थ और प्राचीन परम्परा का संकेत —

मनुस्मृति या वैदिक साहित्य में देवर शब्द का प्रचलित — 'पति का छोटा भाई' अर्थ न होकर विस्तृत अर्थ है। निरुक्त में 'देवर' शब्द की निरुक्ति निम्न दी है —

"देवरः कस्मात् द्वितीयो वर उच्यते ।।" (३।१५)

अर्थात् — "देवर उसको कहते हैं कि जो विधवा का दूसरा पति होता है, चाहे छोटा भाई या बड़ा भाई अथवा अपने वर्ण वा अपने से उत्तम वर्ण वाला हो। उससे नियोग करे, उसी का नाम देवर है।" (म. दयानन्द, स. प्र. ११६)

आजकल यह केवल पति के छोटे भाई के अर्थ में रूढ़ हो गया है। इस रूढ़ि का कारण कदाचित् यह है कि स्त्री के विधवा हो जाने पर अधिकतर मृत-पति के छोटे भाई से ही उसका सम्बन्ध कर दिया जाता है। यह नियोगविधि का ही एक परिवर्तित रूप है। इस परम्परा से प्राचीन काल में नियोगप्रथा के अस्तित्व के संकेत मिलते हैं।

(४) यहां यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि इन दोनों मान्यताओं में 'नियोग-व्यवस्था' मनु की मौलिक मान्यता है। इसमें निम्न पोषक प्रमाण हैं — (क) नियोग-विधान की मान्यता पूर्वविहित और आधारभूत है। (ख) विषयसंकेतक श्लोकों में इस प्रसंग को प्रारम्भ और समाप्त करने का संकेत है [९।५६ और ९।१०३]। ये श्लोक अपने पूर्वापर प्रसंगों से श्रृंखलावत् जुड़े हैं, जो सिद्ध करते हैं कि यह मान्यता मौलिक है। (ग) ९।१४५-१४६ में नियोग से उत्पन्न पुत्र को दायभाग का पूर्ण अधिकार विहित है। यह भी इस मान्यता को मनुसम्मत सिद्ध करता है, और (घ) नियोग-विधि का त्याग करके उत्पादित पुत्र को धनाधिकार से ९।१४७ में वंचित किया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि मनु नियोग को ही स्वीकार्य मानते हैं, नियोगत्याग को नहीं।

(ख) इस परम्परा के खण्डनात्मक स्थल —

ज्यों ही नियोग प्रथा का विधान पूर्ण होता है, उसके पश्चात् इसका खण्डन करने वाले श्लोक हैं। ९।६४-६८ श्लोकों में इस प्रथा का खण्डन करते हुए कहा गया है कि 'नियोग नहीं कराना चाहिये, यह धर्महनन करना है। राजा वेन के समय यह पशुधर्म प्रचलित हुआ है', आदि-आदि।

१. स्पष्ट है कि विधान के पश्चात् किया गया यह खण्डन परवर्ती है। विधान मौलिक और खण्डन उसकी प्रतिक्रिया में होता है, अतः यह नियोगविरोधी वर्णन मनुकृत नहीं है।

२. पिछले प्रमाणों से यह भी सिद्ध हो गया है कि यह प्रथा वेदोक्त है, अतः अतिप्राचीन भी है। इन श्लोकों में इसे वेन राजा के समय की कहना गलत है। आचार्य कौटिल्य ने भी इसका विधान अपने अर्थशास्त्र में किया है। इसका अभिप्राय यह है कि आचार्य कौटिल्य तक नियोग-व्यवस्था प्रचलित एवं मान्यता प्राप्त रही है। उन्होंने प्र. ६०। अ. ४ में कारण प्रदर्शनपूर्वक विभिन्न नियोगों का विधान किया है।

इनके अतिरिक्त ये खण्डनात्मक श्लोक निम्न कारणों से मौलिक सिद्ध नहीं होते —

१. **विषयविरोध** — विषय-संकेतक श्लोकों [९।५६, १०३] के निर्देशानुसार यह विषय स्त्रियों के लिए आपत्कालीन धर्मों और आपत्काल में सन्तानप्राप्ति का है। नियोग की मान्यता उस विषय से सम्बद्ध है, अत: मौलिक है। खण्डन की मान्यता का संकेतित विषय से कोई सम्बन्ध नहीं अत: प्रक्षिप्त है।

२. **शैलीगत आधार** — ६६-६७ श्लोकों में राजा वेन के समय नियोग के विस्तार का कथन है। राजा वेन मनु से परवर्ती है, अत: ये श्लोक भी किसी व्यक्ति द्वारा रचकर मिलाये गये हैं। राजा वेन अंग देश का राजा था। इसके पिता का नाम अनंग था। यह मनु से बहुत पीढ़ियों पश्चात् हुआ [महा. शान्ति. ५९।९६-९९]।

विस्तार से समझाने के लिए उपर्युक्त मान्यताओं का पक्ष-विपक्ष की विवेचना पूर्वक विश्लेषण किया गया। इसी प्रकार अन्य मान्यताओं के विषय में समझना चाहिये। यहां कुछ अन्य मान्यताएं संक्षेप से प्रस्तुत की जा रही हैं, किन्तु विस्तारभय से उनका समग्र विश्लेषण नहीं किया जा रहा है। वह मनुस्मृति-भाष्य में यथास्थान देखा जा सकता है।

५. स्त्रियों के सम्बन्ध में मनु की धारणा —

(क) बहुत से आलोचक मनु पर यह आक्षेप लगाते हैं कि मनु का स्त्रियों के प्रति बड़ा ही संकीर्ण, पक्षपातपूर्ण और निम्न दृष्टिकोण है। मनुस्मृति में कुछ ऐसे प्रक्षिप्त स्थल हैं, जिनके कारण लोगों की यह धारणा बनी है, यथा — २।४१-४२ [६६-६७]; ५।१४७, १४८, १५३-१६२, १६४, १६६; ९।२, ३, १४-२४, आदि।

(१) किन्तु प्रक्षिप्तों के अतिरिक्त मनुस्मृति के प्रसंग, विषय, शैली के अनुकूल ऐसे बहुत सारे श्लोक हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि मनु ने स्त्रियों को अत्यधिक सम्मान, श्रद्धा और उच्चता प्रदान की है। वे स्त्रियों को घर की स्वामिनी, गृहलक्ष्मी, देवी, गृहशोभा के विशेषणों से संबोधित करते हैं; और उन्हें घर के सुख का आधार मानते हैं। उनका सम्मान करने और उन्हें प्रसन्न रखने की प्रेरणा देते हैं। यहां मनुस्मृति में प्राप्त श्लोकों के आधार पर मनु की उन धारणाओं को स्पष्ट किया जाता है। निम्न श्लोकों में मनु द्वारा वर्णित स्त्रियों का उज्ज्वल, सम्माननीय और उच्चस्तरीय रूप द्रष्टव्य है —

(क) पिता, भाई, पति आदि द्वारा स्त्रियों का सत्कार करना चाहिए —

(क) पितृभि: भ्रातृभिश्चैता ..... पूज्या भूषयितव्याश्च। [३।५५]

(ख) नारियों के सत्कार से दिव्यलाभों व दिव्यगुणों की प्राप्ति —

(ग) यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला: क्रिया:।

(ग) वस्त्रों, आभूषणों से नारियों को सदा सत्कृत रखें —

तस्मादेता: सदा पूज्या: भूषणाच्छादनाशनै:। [३।५९]

(घ) नारी की प्रसन्नता में कुल का कल्याण निहित है —

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्।। [३।६०]

(ङ) स्त्रियों के शोकग्रस्त रहने से परिवार का विनाश —

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।

न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा ।।
[३।५७]

(च) स्त्रियाँ घर की लक्ष्मी और शोभा हैं —

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ।। [९।२५]

(छ) स्त्रियाँ घर के सुख का आधार हैं —

अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह ।। [९।२८]

(ज) स्त्रियाँ घर की स्वामिनी हैं —

अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत् ।
शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च परिणाह्यस्य वेक्षणे ।। [९।११]
सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ।। [५।१५०]

(२) मनु स्त्री और पुरुष में न तो कोई पक्षपातपूर्ण अन्तर करते हैं, न स्त्री को पुरुष की दासी या अधानता में बधी रहने वाला मानते हैं । वे दोनों को ही, एक-दूसरे का भावनाओं का समान रूप से आदर करने वाली बातें कहते हैं; अपितु स्त्रियों को अधिक आदरपूर्वक रखने की बातें कहते हैं । नीचे कुछ श्लोक प्रमाणरूप में दिये जा रहे हैं, जिनसे इन बातों की पुष्टि होती है कि (अ) मनु की स्त्रियों के प्रति पक्षपातपूर्ण, दमनात्मक, अस्वतन्त्रतापूर्वक रखने की भावना नहीं है, अपितु समानता की भावना है। मनु द्वारा अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में स्त्रियों पर बन्धन डाल कर रखने की प्रवृत्ति की व्यर्थता का कथन और स्त्रियों द्वारा स्वयं अपने विवेक से ही अपने आचरण को बनाने का समर्थन निम्न श्लोकों में किया है—

(क) स्त्री को कोई भी दमनपूर्वक नहीं रख सकता —

न कश्चिद् योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम् । [९।१०]

(ख) स्त्री स्वयं अपनी रक्षा करने से सुरक्षित हो सकती है —

अरक्षिता गृहे रुद्धा पुरुषैराप्तकारिभिः ।
आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः ।। [९।१२]

(३) बिना किसी पक्षपात के, स्त्री-पुरुष दोनों को समानस्तर का मानते हुए मनु ने स्त्री-पुरुषों को ऐसे सुझाव दिये हैं, जिनसे स्त्री की पुरुष के पूर्ण अधीन रहने की मान्यता स्वतः खण्डित हो जाती है —

(क) स्त्री-पुरुष मिलकर समानभाव से रहें—

अन्योन्यस्य अव्यभिचारो भवेदामरणान्तिकः ।
एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः ।। [९।१०१]

(ख) स्त्री-पुरुष कभी न बिछुड़ें —

तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ ।
यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्तौ इतरेतरम् ।। [९।१०२]

(ग) स्त्री-पुरुष समान हैं, अत: सभी कार्य मिलकर करें

प्रजनार्थं स्त्रिय : सृष्टा : सन्तानार्थं च मानवा : ।
तस्मात्साधारणो धर्म : श्रुतौ पत्न्या सहोदित : ।।

[९।९६]

इन मान्यताओं के आधार पर कहा जा सकता है कि १४७-१४८ श्लोकों में जो दमनात्मक आग्रह से प्रेरित होकर आज्ञा दी है । यह मनु की मान्यता नहीं हो सकती । यह मनु की व्यवस्थाओं के विरुद्ध है ।

(४) मनु ने स्त्रियों को कहीं भी हीनभावना से नहीं देखा है, अपितु कहीं-कहीं तो पुरुषों से बढ़कर उन्हें सम्मान दिया है । कुछ उदाहरण देखिए —

(क) स्त्री के लिए मार्ग छोड़ देना चाहिए —
''**स्त्रिया : पंथा देय :।**'' [(२।११३ (२।१३८)] ।
(ख) पत्नी से लड़ाई-झगड़ा नहीं करना चाहिए —
''**भार्यया ... विवादं न समाचरेत्**'' [४।१८०] ।

(ग) पत्नी आदि पर झूठा दोषारोपण नहीं करना चाहिए और न अपशब्द कहने चाहिएँ । यदि कोई ऐसा करे तो वह दण्डनीय है —"**मातरं पितरं जायाम् ... आक्षारयन् शतं दण्डय :**"
[८।१८०] ।

(ख) स्त्रियों को वेदाध्ययन एवं यज्ञोपवीत का अधिकार मनुसम्मत —

कुछ श्लोकों में स्त्रियों के लिए गुरुकुलवास, वेदाध्ययन, मन्त्रपूर्वक क्रियाओं का निषेध मिलता है ; यथा २।४१-४२ (६६-६७) ९।१८ आदि । ये सभी प्रक्षिप्त हैं । अन्य अनेक स्थलों पर, यहां तक कि स्वयं वेद में भी स्त्रियों के लिए सभी धार्मिक कार्यों और वेदाध्ययन का विधान है ।

(१) मनु प्रत्येक धर्मकार्य में स्त्री-पुरुष का समान अधिकार समझते हैं । २।४ (२।२९) श्लोक में जातकर्म के अवसर पर बालक के लिए चाहे वह कन्या हो अथवा पुत्र, दोनों के ही लिए मन्त्रोच्चारणपूर्वक शहद चटाने का विधान है ''**मन्त्रवत् प्राशनं चास्य**'' । इससे स्पष्टत : सिद्ध है कि मनु मन्त्रोच्चारण या श्रवण आदि कार्यों में स्त्री-पुरुष का भेद नहीं करते । इसी प्रकार नामकरण आदि भी यज्ञ और मन्त्रपूर्वक करने का विधान है [२।८] । इस प्रकार ४१ वें श्लोक में स्त्रियों के लिए मन्त्रों के निषेध का विधान इस मान्यता के विरुद्ध है ।

(२) इसी प्रकार ३।२८ में अग्निहोत्रपूर्वक स्त्रियों का दैवविवाह करने का विधान किया है । अग्निहोत्र में मन्त्रोचारण हुआ ही करता है । इससे यह स्पष्ट होता है कि मनु स्त्रियों की क्रियाएं मन्त्ररहित नहीं मानते । स्त्रियों की अन्त्येष्टि भी अग्निहोत्र से विहित है [५।१६७],विवाह भी स्वस्तिमन्त्रपूर्वक यज्ञ से विहित है [५।१५२] । ४१ वें श्लोक में स्त्रियों के लिए मन्त्ररहित क्रियाओं का विधान, इस विधान के विरुद्ध होने से, प्रक्षिप्त है ।

(३) मनु ने घर में अग्निहोत्र आदि धर्मकार्यों के आयोजन की मुख्य जिम्मेदारी स्त्री को ही सौंपी है और यह आदेश दिया कि पुरुष को प्रत्येक धर्मकार्य स्त्री को साथ लेकर करना चाहिए — (क) ''**शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च**'' (घर की शुद्धि, धर्मकार्यों का आयोजन और भोजन बनाना आदि की

जिम्मेदारी स्त्री को सौंपे) [९।११] (ख) ''**अपत्यं धर्मकार्याणि**'' [९।२८] (सन्तानोत्पत्ति और उनका पालन, अग्निहोत्र आदि धर्मकार्य स्त्री के अधीन होते हैं) । (ग) ''**तस्मात् साधारणो धर्म : श्रुतौ पत्न्या सहोदित :**'' [९।९६] (साधारण से साधारण धर्मकार्य में भी पत्नी को सम्मिलित करना चाहिए) । इसी प्रकार २।१-३ [२।२६-२८] श्लोकों में मनु ने संस्कारों को सभी के लिए समान रूप से आवश्यक मानते हुए शारीरिक एवं संस्कार-सम्बन्धी दोषों को हटाने वाला कहा है । यहां स्त्री-पुरुष का कोई भेद नहीं माना । इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं — एक तो यह कि सभी संस्कार मन्त्रपूर्वक होते हैं । अत : चाहे वह संस्कार स्त्री का हो अथवा पुरुष का, मन्त्रपूर्वक ही करना चाहिए । दूसरी यह कि संस्कार, द्विजाति वर्ग के सभी व्यक्तियों के लिए आवश्यक हैं, चाहे वह स्त्री हो अथवा पुरुष । इन दोनों श्लोकों में स्त्रियों के लिए मन्त्ररहित क्रियाओं का विधान, विवाह को ही उपनयन संस्कार मानना, पतिसेवा को ही ब्रह्मचर्याश्रम मानना, घर के कामों को ही अग्निहोत्र मानना, उक्त विधानों के विरुद्ध है, अत : प्रक्षिप्त हैं ।

(४) स्त्रियों के वेदाध्ययन में स्वयं वेदों के प्रमाण — इन श्लोकों में स्त्रियों के लिए वेदमन्त्रों का उच्चारण न करने आदि का कथन है । अत : यहां यह विचार कर लेना भी उपयोगी रहेगा कि इस विषय में स्वयं वेद क्या कहते हैं ।

(क) वेदों में सभी के लिए वेदवाणी का विधान है — ''**यथेमां वाचं कल्याणीम् आवदानि जनेभ्य : । ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय** . . . .'' [यजु. २६।२] अर्थात — ''परमेश्वर कहता है कि (यथा) जैसे मैं (जनेभ्य :) सब मनुष्यों के लिए (इमाम्) इस (कल्याणीम्) कल्याण अर्थात संसार और मुक्ति के सुख देनेहारी (वाचम्) ऋग्वेदादि चारों वेदों की वाणी का (आवदानि) उपदेश करता हूँ वैसे तुम भी किया करो . . . .(ब्रह्मराजन्याभ्याम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय (अर्याय) वैश्य (शूद्राय) शूद्र और (स्वाय) अपने भृत्य वा स्त्रियां आदि (अरणाय) और अतिशूद्रादि के लिए भी वेदों का प्रकाश किया है ।'' [स. प्र. ७४] ।

(ख) इसी प्रकार अथर्ववेद में ''**ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्**'' [३।५।१८] अर्थात ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर वेदों को पढ़ने और ब्रह्मचर्य का पालन करने के उपरान्त गृहस्थ की कामना करने वाली कन्या युवक पति का वरण करती है ।

(ग) स्त्रियों के उपनयन में ऋग्. १०।१०९।४ मन्त्र भी प्रमाण है — ''**भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता**'' — इन प्रमाणों में स्त्रियों के लिए ब्रह्मचर्याश्रम, गुरुकुलवास आदि विधान सिद्ध होते हैं ।

(घ) वैदिक काल के इतिहास पर यदि दृष्टि डालकर देखें तो उससे भी स्त्रियों के लिए मन्त्रनिषेध आदि की बातें सिद्ध नहीं होतीं । ऐसी बहुत-सी ऋषिकाएं हुई हैं जो मंत्रद्रष्ट्री थीं । जिन-जिन सूक्तों के मन्त्रों का उन्होंने अर्थ-रहस्य जाना, उन सूक्तों पर उनके नाम ऋषि के रूप में आज भी उपलब्ध हैं । अकेले ऋग्वेद में ही इस प्रकार की लगभग ३० ऋषिकाओं के नाम आते हैं । उनमें अदिति, जुहू, इन्द्राणी, घोषा, गोधा, अपाला, रोमशा, लोपामुद्रा आदि उदाहरण के रूप में उल्लेखनीय हैं[५]। इसी प्रकार उपनिषदों में गार्गी, मैत्रेयी ब्रह्मतत्त्वज्ञा देवियों का वर्णन आता है[६]। मनु ने अपनी स्मृति को वेदानुकूल और वेदाधारित माना है [१।१२५-१३२ (२।६-१३) ; १२।९४, ९५, ९७, ९९, १०९, ११२, ११३ आदि] । अत : स्वयं वेद में विहित इन मान्यताओं के विरुद्ध होने से उपर्युक्त आक्षेप मान्य नहीं है ।

५. बृहद्देवता २।८२-८४ ; ऋग्वेद के सूक्तों की ऋषिकाएं
६. बृहदारण्यक ३।६; २।४।१-१४।

६. शूद्र के विषय में मनु की धारणा —

(१) शूद्र अस्पृश्य नहीं — मनु ने शूद्र का कर्त्तव्य द्विजातियों की सेवा करना बताया है [१।९१]। इसी कर्त्तव्यनिर्धारण से मनु की यह मान्यता स्पष्ट हो जाती है कि मनु शूद्र को अस्पृश्य या घृणास्पद नहीं मानते।

(२) वस्तुत: जो व्यक्ति पढ़-लिख नहीं पाता और ऊपर के किसी वर्ण के योग्य नहीं होता वही शूद्र कहलाता है। इसी कारण २।१२६ में अज्ञानता के प्रतीकरूप में शूद्र की उपमा दी है — ''**यथा शूद्रस्तथैव स:**''।

(३) शूद्र को धर्मपालन का अधिकार — शूद्र को धर्मपालन का अधिकार है। २।२१३ [२३९] में ''**अन्त्यादपि परं धर्मम्**'' कहकर शूद्र आदि से भी धर्म की शिक्षा ग्रहण करने को कहा है।

(४) शूद्र को वेदाध्ययन का अधिकार — शूद्र को वेदाध्ययन का अधिकार भी है। यह स्वयं यजु. २६।२ ''**यथेमां वाचं कल्याणीम्** . . . **शूद्राय चार्याय च**'' से संकेत मिलता है। इसकी व्याख्या पिछले 'स्त्री-वेदाध्ययन'-सम्बन्धी प्रसंग में की जा चुकी है। वहां द्रष्टव्य है।

(५) वेदों में शूद्र को यज्ञ आदि का विधान — ऋक्. १०।५३।४-५ में ''**पञ्चजना: ममहोत्रं जुषध्वम्**'' कहकर शूद्र को भी यज्ञ करने का आदेश है। निरुक्त ३।२।७ में '**पञ्चजना:**' की व्याख्या में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निरामिषभोजी निषाद की गणना की है। इस पर विस्तृत विवेचन 'कर्मणा वर्णव्यवस्था' विषय में किया जा चुका है।

(६) **मनुस्मृति** में कहीं-कहीं शूद्र के प्रति घृणा, आक्रोश, असम्मान प्रकट करने वाले वर्णन हैं। ये सभी वर्णन परवर्ती प्रक्षेप हैं। मनु की यह शैली है कि वे अधर्मी, पापी या दोषी व्यक्ति को छोड़कर किसी के प्रति आक्रोश का भाव प्रकट नहीं करते। प्रत्येक विधान सहज और निर्लिप्त भाव से करते हैं। यथा, १।९१ का विधान सहज वर्णन है। मनु ने निम्न श्लोक में द्विजों को भी यह आदेश दिया है कि वह वृद्ध शूद्र का सम्मान पहले करें —

''**सोऽत्र मानार्ह: शूद्रोऽपि दशमीं गत:**'' [२।११२ (१३७)]

(७) शूद्र पवित्र है और उत्कृष्ट वर्ण प्राप्त कर सकता है —

शुचिरुत्कृष्टशुश्रुषुर्मृदुवागनहंकृत: ।
ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जातिमश्नुते ।। (९।३३५।)

(शुचि:) शुद्ध-पवित्र [शरीर एवं मन से], (उत्कृष्टशुश्रुषु:) अपने से उत्कृष्ट वर्ण वालों की सेवा करने वाला, (मृदुवाक्) मधुरभाषी (अनहंकृत:) अहंकार से रहित (नित्यं ब्राह्मण + आदि-आश्रय:) सदा ब्राह्मण आदि तीनों वर्णों की सेवा में संलग्न शूद्र भी (उत्कृष्टां जातिम् + अश्नुते) उत्तम ब्रह्मजन्मान्तर्गत द्विजवर्ण को प्राप्त कर लेता है।।

इस श्लोक के वर्णन से मनु की शूद्र के प्रति यह धारणा स्पष्ट हो जाती है कि वे शूद्र को हीन नहीं मानते, अपितु पवित्र, उत्कृष्ट और उत्तम कर्मों से उच्चवर्ण प्राप्त करने का अधिकारी मानते हैं। यह मान्यता १०।६५ में भी वर्णित है।

(८) उपनयन प्रसंग २।११-१४ [३६-३९] में कहीं भी शूद्र के लिए उपनयन का निषेध नहीं है। इससे यह संकेत मिलता है कि जन्म से कोई शूद्र [illegible] द्विज वर्णों में उपनयन करा सकता है।

इस संक्षिप्त विवेचन से शूद्र के प्रति मनु की धारणा स्पष्ट हो जाती है। इस विषयक कुछ विवेचन 'मनु की कर्मणा वर्णव्यवस्था' मान्यता शीर्षक में भी द्रष्टव्य है।

(७) स्वर्ग और नरक —

(क) स्वर्ग या स्वर्गलोक से मनु का अभिप्राय — मनु इस संसार से भिन्न कोई स्वर्ग या नरकलोक नहीं मानते। सुख की प्राप्ति का नाम स्वर्ग है और दुःख की प्राप्ति का नाम नरक है, जो इसी संसार में, जीवन में प्राप्त होते रहते हैं। इसमें प्रमाण है —

(१) मनु ने 'स्वर्ग' शब्द का प्रयोग इहसुख और मोक्षसुख दोनों सुखों के लिए किया है। ३।७९ श्लोक में अक्षय सुख अर्थात् मोक्ष के लिए 'स्वर्ग' शब्द का प्रयोग है और उसके पर्यायवाची रूप में इहसुख के लिए 'सुख' का प्रयोग है।

(२) सुख के अर्थ या पर्यायवाची रूप में अन्यत्र भी स्वर्ग शब्द का प्रयोग किया है —

(क) ''अस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।'' २।३२ [२।५७]
(ख) ''दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह।'' [९।२८।।]
(ग) ''स्वर्ग-आयुष्य-यशस्यानि व्रतानीमानि धारयेत्।''[४।१३।।]

(३) अक्षय सुख अर्थात् मोक्षसुख के लिए स्वर्ग का प्रयोग —

(क) ३।७९ श्लोक में **''स्वर्गमक्षयमिच्छता''**
(ख) **इदमन्विच्छतां स्वर्गम्, इदमानन्त्यमिच्छताम्।''** [६।८४।।]

(४) मनु ने १२।९, ३९-५२ श्लोकों में मृत्यु के बाद जीव को उसके कर्मों के अनुसार प्राप्त होने वाली योनियों का वर्णन किया है। उस प्रसंग में स्वर्गलोक या स्वर्गयोनि विशेष का कोई उल्लेख नहीं है।

(५) व्याकरण-शास्त्रानुसार 'स्वर्ग' शब्द 'स्वर्' उपपद में 'गम्लृ-गतौ' धातु से **'ड प्रकरणेऽन्येष्वपि दृश्यते** अ. ३।२४८ वार्तिकसूत्र से 'डः' प्रत्यय के योग से बनता है। गति के ज्ञान-गमन-प्राप्ति तीन अर्थ होते हैं। 'स्वः' सुख का अनुभव होना, सुख में प्रविष्ट होना, सुख की प्राप्ति होना ही स्वर्ग अर्थात् सुख है।

(६) इसी प्रकार 'स्वर्गलोक' का अर्थ है। 'लोकृ दर्शने' धातु से लोक शब्द बनता है, जिसका अर्थ 'स्थान' है। जहां स्वर्ग प्राप्त होता है—सुख प्राप्त होता है, वह स्वर्गलोक है।

(ख) नरक की कल्पना मनुविरुद्ध — ४।८१, ८७-९१ श्लोकों में इक्कीस नरक योनियों की गणना है और अक्षत्रिय राजा से दान लेने वाले को इन योनियों की प्राप्ति बतलायी है। मनु के मत में 'नरक' नाम की कोई योनि या स्थान विशेष नहीं है। यह मान्यता निम्न प्रमाणों के आधार पर मनुविरुद्ध और प्रक्षिप्त सिद्ध होती है —

(१) नरक शब्द स्वर्ग का विपरीतार्थक है। मनु ने २।३२ [२।५७] में सुख और ३।७९ स्वर्ग शब्द का प्रयोग सुख और 'अक्षय सुख' के लिए किया है, और ९।२८ में **''दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह''** कहकर 'वर्तमान जीवन के सुख' के अर्थ में किया है। इससे स्पष्ट है कि स्वर्ग के विपरीतार्थक शब्द 'नरक' का अर्थ कोई योनि या स्थानविशेष नहीं, अपितु दुःख ही है। निरुक्त में महर्षि यास्क ने भी 'नरक' शब्द की इसी रूप में निरुक्ति की है — ''[illegible]

नरक है [निरुक्त १।३।११]।

(२) मनु ने मृत्यु के उपरान्त जीव की केवल दो अवस्थाएं मानी हैं — एक तो संसार में स्थावर-जंगम योनियों में जन्म [६।६३, ७४, १२।९, ३९-५२], या ब्रह्मप्राप्ति [४।१४९; ६।८१; १२।११६, १२५]। इससे भी यही स्पष्ट है कि मनु के मत में नरक नाम की कोई पृथक् योनि या स्थान नहीं है।

(३) मनु ने १२।९, ३९ से ५२ श्लोकों में मृत्यु के बाद जीव को उसके कर्मों के अनुसार प्राप्त होने वाली योनियों की गणना की है। इस गणना में नरकयोनि का उल्लेख न होना भी यह सिद्ध करता है कि मनु 'नरक' को नहीं मानते। १२।५२, ७४, ८१, श्लोकों में तो मनु ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में अपना मत व्यक्त किया है कि व्यक्ति कर्मों के अनुसार पूर्वोक्त योनियों में ही शरीर-धारण करके इसी संसार में सुख-दु:ख भोगता है। अत: नरकों की कल्पना मनुविरुद्ध है।

८. प्रेतशुद्धि आदि का आडम्बर मनुविहित नहीं —

प्रेतशुद्धि, सूतकशुद्धि के नाम पर कुछ लोगों ने एक आडम्बर खड़ा कर दिया है। अशुद्धि को दूर करने का सीधा-सा मतलब इतना ही है कि प्रेत, सूतक या किसी भी अन्य अशुद्धि से सम्पर्क होने पर जल आदि से शरीर की शुद्धि होती है और मन की अशान्ति रूपी अशुद्धि, जप आदि से दूर होती है [५।१०५, १०७, १०९]। बिना सम्पर्क के, दूर बैठे अशुद्धि मानना, कोरा आडम्बर और अयुक्तियुक्त है। प्रेत शुद्धि और सूतकशुद्धि आदि के आडंबर का विधान करने वाला प्रसंग ५।५८-१०४ तक है। यह प्रसंग विभिन्न आधारों के अनुसार, विषय, प्रसंग और शैली के विपरीत तथा मनुविहित सिद्ध न होकर प्रक्षिप्त सिद्ध होता है। उसके विश्लेषण से ये निष्कर्ष सामने आते हैं —

(१) प्रस्तुत विषय के प्रारम्भ का संकेत देने वाला श्लोक ५।५७ वां है, और समाप्ति का संकेत देने वाला श्लोक ५।११० वां है। इन श्लोकों में दिये गये "**देहशुद्धिम् .... प्रवक्ष्यामि**" "**एष शौचस्य व: प्रोक्त: शारीरस्य विनिर्णय:**" संकेतों के अनुसार यह स्पष्ट होता है कि यह "शरीर और शरीर से सम्बन्धित मन, बुद्धि, आत्मा आदि की शुद्धि" को कहने का विषय है [इसकी पुष्टि के लिए ५।५७ की समीक्षा भी पढ़िये]।

इस आधार पर इस विषय में वही श्लोक मौलिक माने जा सकते हैं, जो इस विषयसंकेत से सम्बद्ध हों। अपने संकेत के अनुसार ही मनु ने १०५-१०६ श्लोकों में पहले भूमिका रूप में शुद्धिकारक पदार्थों की गणना की है, फिर १०९ में अशुद्ध शरीर की '**अद्भिः गात्राणि शुद्ध्यन्ति**' कहकर शुद्धि होनी कही है। क्रोध, लालच, अधर्माचरण आदि से मनुष्य के मन, बुद्धि आत्मा आदि भी अशुद्ध हो जाते हैं; संकेतानुरूप, शरीरसम्बन्धी इन अवयवों की शुद्धि भी कह दी है। इस प्रकार १०५ से ११० श्लोक विषयानुरूप हैं। इस बीच में ५८ से १०४ तक जितने श्लोक हैं, इनमें शरीर की शुद्धि का वर्णन न होकर आशौच मनाने की अवधि, सपिण्ड एवं असपिण्डों के आशौच की विधि, सूतक-अशुद्धि, परदेश में रहने वालों की अशुद्धि आदि का वर्णन है, जो विषयविरुद्ध है।

(२) उपर्युक्त विषय का संकेत देने वाले श्लोकों के आधार पर मनु की एक मान्यता भी बन जाती है कि वे 'अशुद्धि के सम्पर्क से शरीरादि की अशुद्धि होना' ही मानते है और उसकी शुद्धि का उपाय है — "**अद्भिः गात्राणि शुद्ध्यन्ति**" [१०९] अर्थात् 'शरीर की शुद्धि जलों से होती है' आदि। ५८ से १०४ श्लोकों में जो भी कुछ वर्णित है, वह मनु की इस मान्यता के विरुद्ध है, और न इससे तालमेल खाता है — (क) ... [illegible] ... के भेद से प्रेतशुद्धि

और अशुद्धि मानने की १-१० दिन तक ही चार अवधि दर्शाकर उसको एक 'धार्मिककृत्य' के रूप में वर्णित किया है, वे मनु की उक्त मान्यता के विरुद्ध हैं । क्योंकि,मनु केवल शरीर की अशुद्धि मानते हैं, और यह सपिण्ड और असपिण्ड सबकी समान रूप से होती है तथा उसकी अनेक दिनों की अवधि नहीं होती । शरीर अशुद्ध हुआ तो जल से धोने से वह शुद्ध हो गया । इस प्रकार इन श्लोकों की व्यवस्था मनु सम्मत ही सिद्ध नहीं होती, अत : ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं । शेष श्लोक इन पर आधारित हैं, अत : आधारभूत श्लोकों के प्रक्षिप्त सिद्ध हो जाने पर वे स्वत : प्रक्षिप्त कहलायेंगे । (ख) ७४, से ८४ श्लोकों में परदेश में रहने वालों की शुद्धि कहना भी मनुविरुद्ध है । जब किसी अशुद्धि का सम्पर्क ही नहीं हुआ,तो फिर उनके शरीर की अशुद्धि ही कहां हुई ? (ग) ८५-८७, १०३ श्लोकों में शूद्र को अस्पृश्य अर्थात अपवित्र माना है । मनु ऐसा नहीं मानते । वे शूद्र को 'शुचि :' अर्थात 'पवित्र' मानते हैं [९।३३५] । अत : इन श्लोकों की मान्यता मनुविरुद्ध है ।

(३) ५८ से १०४ श्लोकों की मान्यता है — 'सपिण्ड, असपिण्ड के भेद से चार अवधियों के [५८-६०] अनुसार 'शुद्धि मनाना' । यह अयुक्तियुक्त वर्णन है, क्योंकि मृतक के सम्पर्क से यदि शरीर की अशुद्धि मानी गयी है तो वह सपिण्ड-असपिण्डों की समान होगी और उसकी शुद्धि जल से हो जायेगी । इसके लिए न तो अवधि की कोई सार्थकता है,और न सपिण्ड-असपिण्ड का भेद ही बनता है । यदि मानसिक अशुद्धि अर्थात् मन का शोक मानने की बात है,तो मन के शोक के लिए कोई अवधि निश्चित नहीं हो सकती और न ही इस अवधि में सबकी वह दूर हो सकती है । अत : यह व्यवस्था ही अयुक्तियुक्त है । मनु की व्यवस्थाएं युक्ति-युक्त होती हैं । इस विरोध के आधार पर भी ये श्लोक मनुसम्मत नहीं माने जा सकते ।

(४) प्रसंगविरोध के आधार पर यदि इन श्लोकों को परखें तो ये सभी प्रसंगविरुद्ध सिद्ध होते हैं । ५७ वें और ११० वें श्लोक में 'शरीर और शरीर-सम्बन्धी अवयवों की अशुद्धि की शुद्धि' कथन करने का संकेत है । उनके अनुसार इस प्रसंग का क्रम इस प्रकार बनता है —

(क) शरीर एवं शरीर-सम्बन्धी अवयवों की अशुद्धि की शुद्धि कहने के विषय का संकेत [५७] —

(ख) फिर १०५ में भूमिका रूप में शुद्धिकारक पदार्थों का परिगणन —

(ग) फिर शरीर एवं शरीर-सम्बन्धी शुद्धियों का वर्णन [१०६-१०९], जो कि सर्व-सामान्य विधि के रूप में भावगाम्भीर्य से युक्त संक्षिप्त वर्णन है । इसमें शरीर-सम्बन्धी आत्मा, मन, बुद्धि, चरित्र की शुद्धि का उल्लेख है ।

इस प्रकार मनु की मान्यता एवं विषय-संकेत [५७ तथा ११०] के अनुसार यह एक संगत क्रम बनता है । ५८ से १०४ श्लोकों ने उस क्रम को ही भंग कर दिया है,और शरीरादि की शुद्धि से भिन्न अशुद्धि को 'धार्मिककृत्य' के रूप में मनाने की पूर्वापर प्रसंग से भिन्न एक पृथक् ही व्यवस्था विहित की है । शुद्धि की बात कहने के लिए पहले शुद्धिकारक पदार्थों का उल्लेख ही प्रासंगिक बनता है । इस आधार पर ५७ के बाद १०५ वां श्लोक प्रसंग की दृष्टि से सम्बद्ध सिद्ध होता है । शेष बीच के सभी श्लोक प्रसंग-विरुद्ध, प्रसंगभञ्जक होने के कारण प्रक्षिप्त हैं ।

समान पहनने की अवस्था में (निवीती) 'निवीती' (उच्यते) कहलाता है ॥ ३८ ॥

मेखलादि की पुनर्ग्रहण-विधि—

मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम् ।
अप्सु प्रास्य विनष्टानि गृह्णीतान्यानि मन्त्रवत् ॥३९॥ [२। ६४] (३६)

(मेखलाम्+अजिनं दण्डम्+उपवीतं कमण्डलुम) मेखला, मृगचर्म, दण्ड, यज्ञोपवीत, कमण्डलु (विनष्टानि) इनके बेकार होने पर (अप्सु प्रास्य) इन्हें बहते जल में फेंककर (अन्यानि) दूसरे नयों को (मन्त्रवत् गृह्णीत) मन्त्रपूर्वक धारण करे ॥ ३९ ॥

अनुशीलन : नष्ट उपवीत, दण्ड आदि का जल में प्रक्षेपण क्यों— इस श्लोक में वर्णित पदार्थों को मनु ने जल में डालने का जो विधान किया है उससे 'बहते जल' से अभिप्राय है। क्योंकि स्थिर जल में किसी पदार्थ को डालने से गन्दगी बढ़ती है। स्थिर जल गन्दा भी होता है। इसी लिए मनु ने स्नान आदि सभी प्रयोगों के लिए बहते जल के प्रयोग का ही विधान किया है (द्रष्टव्य ४। २०३ श्लोक)।

केशान्त-संस्कार : कर्म—

केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते ।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः ॥४०॥ [२६५] (३७)

(ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण के (षोडशे) सोलहवें (राजन्यबन्धोः द्वाविंशे) क्षत्रिय के बाईसवें (वैश्यस्य) वैश्य के (ततः द्व्यधिके) [उससे दो वर्ष अधिक] अर्थात् चौबीसवें (वर्षे) वर्ष में (केशान्तः विधीयते) केशान्त कर्म=क्षौर मुंडन हो जाना चाहिए।

अर्थात् इस विधि के पश्चात् केवल शिखा को रखके अन्य डाढ़ी मूंछ और शिर के बाल सदा मुंडवाते रहना चाहिए अर्थात् पुनः कभी न रखना और जो शीतप्रधान देश हो तो कामचार है, चाहे जितना केश रखे। और जो अति उष्ण देश हो तो सब शिखा सहित छेदन करा देना चाहिये, क्योंकि शिर में बाल रखने से उष्णता अधिक होती है और उससे बुद्धि कम हो जाती है। डाढ़ी मूंछ रखने से भोजन पान अच्छे प्रकार नहीं होता और उच्छिष्ट भी बालों में रह जाता है। ॥ ४० ॥ (स० प्र० २५८)

उपनयन विधि की समाप्ति एवं ब्रह्मचारी के कर्मों का कथन—

एष प्रोक्तो द्विजातीनामौपनायनिको विधिः ।
उत्पत्तिव्यञ्जकः पुण्यः, कर्मयोगं निबोधत ॥४३॥ [२।६८] (३८)

(एषः) यह [२। ११—४२] (द्विजातीनाम् उत्पत्तिव्यञ्जकः) द्विजा-

तियों के द्वितीय जन्म को प्रकट करने वाली अर्थात् मनुष्यों को द्विज=ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बनाने वाली (पुण्यः) कल्याण-कारक (औपनायनिकः विधि) उपनयन संस्कार की विधि (प्रोक्तः) कही, (कर्मयोगं निबोधत) [अब उपनयन में दीक्षित होने वाले द्विज ब्रह्मचारियों के] कर्त्तव्यों को सुनो—॥ ४३ ॥

अनुशीलन : 'उत्पत्तिव्यंजकः' के अधिक स्पष्टीकरण एवं पुष्टि के लिए द्रष्टव्य हैं २।१२१—१२५ (१४६—१५०) श्लोक और उनकी समीक्षाएं।

(ब्रह्मचारियों के कर्त्तव्य)
२।३६ से २।१६४ तक

उपनयन के पश्चात् ब्रह्मचारी को शिक्षा—

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः ।
आचारमग्निकार्यं च सन्ध्योपासनमेव च ॥४४॥ [२।६६] (३६)

(गुरुः) गुरु (शिष्यम् उपनीय) शिष्य का यज्ञोपवीत संस्कार करके (आदितः) पहले (शौचम्) शुद्धि=स्वच्छता से रहने की विधि (आचारम्) सदाचरण और सद्व्यवहार (अग्निकार्यम्) अग्निहोत्र की विधि (संध्योपासनम्+एव) और सन्ध्या-उपासना की विधि (शिक्षयेत्) सिखाये ॥ ४४ ॥

"सन्ध्यायन्ति सन्ध्यायते वा परब्रह्म यस्यां सा सन्ध्या" अर्थात् भलीभांति जिसमें परमेश्वर का ध्यान करते हैं अथवा जिसमें परमेश्वर का ध्यान किया जाये, वह 'सन्ध्या' है।

इस प्रकार गायत्री मन्त्र का उपदेश करके संध्योपासन को जो स्नान, आचमन, प्राणायाम आदि क्रिया हैं, सिखलावें। प्रथम स्नान, इसलिए है कि जिससे शरीर के बाह्य अवयवों की शुद्धि और आरोग्य आदि होते हैं।"

(स० प्र० ३६)

वेदाध्ययन से पहले गुरु को अभिवादन—

ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा ।
संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः ॥४६॥ [२।७१] (४०)

(ब्रह्मारम्भे च अवसाने) वेद पढ़ने के आरम्भ और समाप्ति पर (सदा गुरोः पादौ ग्राह्यौ) सदैव गुरु के दोनों चरणों को छूकर नमस्कार करे [२।४७] (हस्तौ संहत्य अध्येयम्) दोनों हाथ जोड़कर अभिवादन करने के बाद [गुरु से] पढ़ना चाहिये; (सः हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः) इसी [हाथ जोड़ने] को 'ब्रह्माञ्जलि' कहा जाता है ॥४६ ॥

अनध्यापन, अध्याय-अनध्याय का वर्णन विषयविरुद्ध है । यह द्वितीय अध्याय में ही संगत कहा जा सकता था ।

३. वेदविरोध — ९९, १०८ श्लोकों की शूद्र के पास वेद न पढ़ने की मान्यता स्वयं वेदविरुद्ध है । वेद में शूद्र को यज्ञ करने और मन्त्रश्रवण का विधान है । प्रमाणार्थ द्रष्टव्य २ । ४२ और ९ । ३३५ की 'वेदविरोध' शीर्षक समीक्षाएँ और इसी अध्याय में मान्यता संख्या ६ भी ।

४. शैलीगत आधार — (१) इस प्रसंग के १०३ वे श्लोक में 'मनुरब्रवीत्' पद से स्पष्टत: यह मनुभिन्न व्यक्ति द्वारा प्रोक्त सिद्ध होता है । (२) इस प्रसंग के १०१ से १२७ श्लोकों की शैली रूढ़ि पर आधारित है । ११४ व १२४ की शैली अयुक्तियुक्त है ।

१०. प्रायश्चित्त का अर्थ, उद्देश्य एवं फल —

'प्रायश्चित्त' शब्द प्राक्-चित्त पदों के समास में **'पारस्कर प्रभृतीनि च संज्ञायाम्'** (अष्टा. ६ । १ । १५७) से सुट् आगम के योग से सिद्ध हुआ है । **तपादि साधनपूर्वकं किल्विषनिवारणार्थं चित्तम्=निश्चयम्, प्रायश्चित्तम्'** । 'जब व्यक्ति किसी निन्दनीय या अकर्त्तव्य कार्य को करके मन में उसके प्रति खिन्नता अनुभव करता है, तब उसके दण्ड-रूप में स्वयं तप = कष्टसहन करता हुआ यह निश्चय करता है कि पुन: मैं यह पाप नहीं करूंगा ।' यह प्रायश्चित्त कहलाता है । ऐसा करने से मन में खिन्नता का भार नहीं रहता । जैसे कोई व्यक्ति किसी को अचानक गलत बात कह जाये और कहने के बाद उसे दु:ख अनुभव हो, तो वह खेद प्रकट करता है । इससे उसके मन में खिन्नता नहीं रहती, और आगे वैसा न करने के लिए सावधान हो जाता है । इसी प्रकार प्रायश्चित्त से पाप क्षीण नहीं होता, अपितु पाप-भावना क्षीण होती है।प्रायश्चित्त क ने वाला व्यक्ति किये हुए पाप-कर्म पर पश्चात्ताप का अनुभव करता है, उसके दण्ड के रूप में तपश्चरण करता है । वह उस पाप को न करने के लिए निश्चय करता है और सावधान रहता है [११ । २२९ –२३०] । इस प्रकार प्रायश्चित्त से मनुष्य की पापवृद्धि रुक जाती है और वह धर्म की ओर उन्मुख होता जाता है ।

यही मान्यता प्रायश्चित्त की परिभाषा वाले ११ । २३० और ११ । २३२ श्लोकों से सिद्ध होती है । और, दूसरा मनु का प्रमाण यह है कि मनु किये हुए अधर्म के फल को किसी अवस्था में निष्फल नहीं मानते —

''**न त्वेव कृतो ऽधर्म : कर्त्तुर्भवति निष्फल :** ।'' [४ । १७३ ।।]

इन प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रचलित टीकाओं में जहां जिस श्लोक पर 'पाप से छूट जाना' आदि मान्यता वाले अर्थ किये हैं, वे मनुसम्मत नहीं हैं ।

११. दायभाग का वितरण —

मनु ने दायभाग में पुत्र, पुत्री, पिता, माता सभी का अधिकार माना है । माता-पिता के जीवित **रहते सारी सम्पत्ति उन्हीं की रहती है । पुत्र उसे बंटा नहीं सकते [९ । १०४] । हाँ, यदि पिता** चाहे तो अपने जीते जी अपनी सम्पत्ति को सन्तानों में बांट सकता है । मातापिता की मृत्यु के उपरान्त दायभाग के बंटवारे के कई विकल्प विहित हैं । **सभी पुत्र मिलकर** जिस प्रकार सहमत हों, उसी

विधि को अपना सकते हैं। यथा —

१. सभी भाई मिलकर पैतृक सम्पत्ति को बराबर-बराबर बांट लें [९ । १०४]।

२. अथवा, इकट्ठे रहना चाहें तो ज्येष्ठ पुत्र सम्पूर्ण पैतृक सम्पत्ति को ग्रहण कर ले। वह छोटे भाइयों के साथ माता-पिता के समान कर्त्तव्यों को निभाकर उनका पालन-पोषण करे। छोटे भी उसको माता-पिता के समान आदर दें [९ । १०५]। कर्त्तव्य न निभाने पर बड़ा भाई दण्डनीय होता है [९ । २१३], और बड़े के स्थान पर आदरणीय नहीं होता [९ । ११०]।

३. बड़े भाई की छत्रछाया में रहकर यदि बाद में भाई अलग होना चाहें, तो पैतृक धन का विभाजन इस प्रकार होगा — कुल धन में से बड़े को धन का बीसवां भाग अतिरिक्त मिलेगा, मध्यम को उससे आधा, छोटे को चौथाई। यह उद्धारभाग कहलाता है [९ । ११२]।

समझने के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत है — मान लिया कि पैतृक सम्पत्ति ९६० रुपये है। उसमें बड़े भाई का बीसवां भाग (९६० ÷ २० = ४८) ४८ रु. 'उद्धार' निकलेगा, मझले भाई का चालीसवां भाग (९६० ÷ ४० = २४) २४ रु. होगा, छोटे भाई का अस्सीवां भाग (९६० ÷ ८० = १२) १२ रु. 'उद्धार' होगा। 'उद्धार' का 'धन' बंटने के बाद शेष को सभी भाई बराबर बांट लेंगे, यथा —४८ + २४ + १२ = ८४, ९६० — ८४ = ८७६, ८७६ ÷ ३ = २९२, इस प्रकार २९२—२९२ रु. प्रत्येक के हिस्से में आये। इस विधि से बड़े भाई को २९२ + ४८ = ३४० रु., उसमें मझले भाई को २९२ + २४ = ३१६ रु., छोटे भाई को २९२ + १२ = ३०४ रु. प्राप्त हुए। यह उद्धारभाग बड़ों को तभी मिलेगा जब वे अपने छोटे भाइयों का पितृवत् पालन करेंगे।

उद्धार-भाग का विधान क्यों ? —९ । १०४ में पैतृक सम्पत्ति का समान विभाजन बतलाया है। इस श्लोक में उद्धार अंश के विभाजन के बाद समान-भाग का विभाजन है। यह विरोध प्रतीत होता है, किन्तु विरोध है नहीं। यह वर्णन विभाजन के द्वितीय विकल्प [१०५] के प्रसंगान्तर्गत है। यह तभी प्राप्त होता है, जब बड़े भाई अपने से छोटों का पालन-पोषण करें। सम्मिलित रहते हुए पिता के समान छोटों के निर्माण में श्रम करें। इसी श्रम के परिणामस्वरूप बड़े को अलग होते समय यह अधिक भाग मिलता है, क्योंकि उसने छोटों की अपेक्षा अधिक कष्ट उठाये होते हैं।

इस उद्धारभाग को निकालने के बाद शेष बचे धन को बराबर-बराबर बांट लिया जाता है। [९ । ११६]

४. अथवा, उद्धार भाग न निकालें तो बड़ा भाई दो भाग सम्पत्ति ले, मध्यम डेढ़ और छोटा एक भाग ग्रहण करे। [९ । ११७]।

५. सभी भाई, बहनों को अपने-अपने भाग में से चतुर्थांश दायभाग प्रदान करें [९ । ११८]। माता का जो निजी धन होता है, उस पर कुमारी लड़कियों का ही अधिकार होता है। [९ । १३१]। माता की मृत्यु पर माता के अधिकार में स्थित धन को सभी पुत्र और विवाहित पुत्रियाँ बराबर बांट लें [९ । १९२] यह धन छह प्रकार का होता है।स्त्रीधन का विवरण मनु ने ९ । १९४—१९७ में दिया है— (१) **अध्यग्नि** = विवाह संस्कार के अवसर पर दिया गया धन, (२) **अधि-आवाहनिकम्** = पति के घर आते हुए पिता के घर से कन्या को प्राप्त धन, (३) प्रीतिकर्म में प्राप्त धन = प्रसन्नता आदि के अवसर पर पति द्वारा प्रदत्त धन, (४) कन्या को भाई से प्राप्त धन, (५) पिता से प्राप्त धन, (६) माता से प्राप्त धन।

६. अपुत्रवान् पिता-माता की दायभागीय सम्पूर्ण सम्पत्ति की अधिकारिणी उसकी कन्या ही होगी।

वह सम्पत्ति अन्य किसी को नहीं दी जा सकती [९ । १३०]

७. अपुत्रवान् रहने पर पुत्री के पुत्र अर्थात् धेवते को गोद लेकर उसे भी सम्पूर्ण दायभाग दिया जा सकता है । यदि इसके बाद किसी दम्पती को पुत्र प्राप्त हो जाता है,तो धेवते और पुत्र को समान भाग मिल जायेगा [९ । १३१, १३४] ।

८. नपुंसक, जन्म से अंधे, बहरे, पागल, वज्रमूर्ख और गूंगे, किसी इन्द्रिय से पूर्ण विकलांग होने के कारण असमर्थ पुत्र, ये धन के भागी नहीं होते । अन्य भाई इनके धन का संरक्षण करते हुए इनका पूर्ण पालन-पोषण करें । हां, यदि ये विवाह करलें,तो इनके पुत्र अपने पिता के उस धन के अधिकारी हैं [९ । २०१ –२०३] ।

९. जूआ, चोरी, डाका, आदि दुष्कर्मों में प्रवृत्त व्यक्ति दायभाग से वंचित हो जाते हैं [९ । २१४] ।

१२. मनुस्मृति में विवाह की आयु—

कुछ लोग मनुस्मृति के निम्न श्लोक के आधार पर मनुस्मृति में बालविवाह या अल्पायुविवाह की मान्यता को स्वीकार करते हैं । वस्तुत: यह उस समय का परवर्ती श्लोक है, जब युद्धों, अराजकता आदि कारणों से कन्याओं की सुरक्षा चिन्ताजनक बन गयी थी । उस भय या चिन्ता को दूर करने के लिए शास्त्रों में इस प्रकार के विधान ही कर दिये गये —

त्रिंशद्वर्षोद्वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् ।
त्र्यष्टवर्षो ऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वर: ।। [९ । ९४]

अर्थ — गृहस्थ धर्म का लोप न चाहता हुआ तीस वर्ष का पुरुष,शीघ्र ही १२ वर्ष की मनोहारिणी कन्या से और २४ वर्ष का पुरुष आठ वर्ष की कन्या से विवाह करे ।

इसका निराकरण मनु द्वारा विहित समावर्तन ३ । १ –३, विवाह ३ । ४ –६२ तथा स्त्रीधर्म ५ । १४७ –१६६, ९ ।१ –१०२ वर्णनों स हो जाता है । उन प्रसंगों के अध्ययन से इस विषयक निम्न निष्कर्ष सामने आते हैं –

(१) मनुस्मृति में स्त्री-पुरुषों के विवाह की आयु — अत्यन्त प्रसिद्धि के कारण मनु ने यहां विवाह की आयु का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु अन्यत्र इसका स्पष्ट उल्लेख है । प्रसंगवश उस पर यहां विस्तृत विवेचन किया जाता है ।

वेदों में तथा अन्य शास्त्रों में मनुष्य की औसत आयु एक सौ वर्ष मानी गई है । इसी आधार पर वेदों में सौ वर्षों से अधिक स्वस्थेन्द्रियों से युक्त जीवन-प्राप्ति की प्रार्थना की गयी है —'**तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरद: शतं जीवेम शरद: शतं श्रृणुयाम शरद: शतं प्रब्रवाम शरद: शतम् अदीना: स्याम शरद: शतं भूयश्च शरद: शतात् ।।**' [यजु. ३६ । २४]

(क) इस औसत आयु के आधार पर मनु ने मनुष्य-जीवन को चार अवस्थाओं में विभाजित करके उसकी अवधि निर्धारित की है —

चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाद्यं गुरौ द्विज: ।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ।।
[४ । १ ।। ५ । १६९ ।]

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुष: ।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगानपरिव्रजेत ।। [६ । ३३ ।]

सौ वर्ष की आयु के इस प्रकार २५-२५ वर्ष के चार भाग होते हैं । आयु के प्रथमभाग में अर्थात् २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्यपालन करना चाहिए । द्वितीय भाग में अर्थात् २५ के पश्चात् गृहस्थ बनकर रहे । पुत्र का पुत्र होने पर अथवा त्वचा, केश पक जाने पर [६ । २] गृहस्थ से वानप्रस्थ बनकर तृतीयभाग में अर्थात् ७५ वर्ष तक वनस्थ रहे।उसके पश्चात् चतुर्थ भाग में संन्यासी बन जाये ।

इन विधानों से मनु ने यह स्पष्ट संकेत दिया है कि पुरुष की विवाह की आयु कम से कम २५ वर्ष है । उससे पूर्व विवाह नहीं होना चाहिए ।

(ख) स्त्री के विवाह की आयु — इसका संकेत मनु ने ९ । ९० श्लोक में दिया है — "**त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमतीसती । ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम्** ।"

अर्थात्-मासिक धर्म प्रारम्भ होने के पश्चात् तीन वर्ष पर्यन्त प्रतीक्षा करने के उपरान्त कन्या स्वयंवर कर सकती है ।

कन्याओं को मासिक धर्म सामान्यत: १३-१५ वर्ष की अवस्था में प्रारम्भ होता है । तीन वर्ष के अनन्तर यह काल १६-१८ की आयु का होता है । अत: कन्या के विवाह की कम से कम आयु १६ वर्ष है । २५ वर्ष का पुरुष १६ वर्ष की कन्या से विवाह करे । इससे अधिक आयु में इतने ही अनुपात से विवाह होना चाहिए । क्योंकि प्रजनन सामर्थ्य एवं शरीर-रचना की दृष्टि से १६ वर्ष की कन्या २५ वर्ष के पुरुष के तुल्य होती है ।

(ग) मनु ने विवाहोपरान्त स्त्री के कर्त्तव्यों का जो वर्णन किया है, जैसे — गृहकार्यों में दक्ष होना, घर की साज-सज्जा, शुद्धि आदि में चतुर होना, आय-व्यय की संभाल रखना [५ । १५०], गृह-स्वामिनी होना, सभी वस्तुओं की संभाल, धार्मिक अनुष्ठानों का संयोजन [९ । ११, २६-२८, ९६, १०१], इनसे भी यह ज्ञात होता है कि ये किसी अल्पायु के लिए नहीं, अपितु समझदार युवती के लिए विहित कर्त्तव्य हैं । इससे भी यह सिद्ध होता है कि कन्या की विवाह योग्य आयु १६-१७ वर्ष या इससे ऊपर ही है ।

(२) आयुर्वेद के अनुसार विवाह की आयु — इस विषय में वैद्यक ग्रन्थ सर्वोत्तम प्रमाण हैं, क्योंकि उनमें शरीर के आधार पर उचित-अनुचित का विवेचन होता है । आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सुश्रुत' में शरीर की वृद्धि और क्षीणता के आधार पर चार अवस्थाएं प्रदर्शित की हैं और तदनुसार विवाह की आयु निर्धारित की है —

"**चतस्रो अवस्था: शरीरस्य, वृद्धि:, यौवनम्, संपूर्णता, किंचित् परिहाणि: चेति । आषोडशात् वृद्धि:, आपञ्चविंशते: यौवनम्, आचत्वारिंशत: संपूर्णता, तत: किञ्चित् परिहाणि: चेति ।**" [सुश्रुत सूत्रस्थान ३५ । २५ ।।] = शरीर की चार अवस्थाएं हैं, सोलहवें वर्ष से चौबीस तक वृद्धि = बढ़ोतरी की अवस्था, पच्चीसवें वर्ष से यौवन का प्रारम्भ होता है,और चालीसवें में यौवन की परिपक्वता होती है । उसके पश्चात् शरीर की धातुओं में कुछ-कुछ क्षीणता आने लगती है ।

यह युवावस्था ही विवाह की अवस्था होती है । इससे पूर्व शरीर की धातुओं में अपरिपक्वता होती है । बालविवाह से जहां शरीर की धातुओं का विकास रुक जाता है, वहां गर्भ और सन्तान सम्बन्धी अनेक आशंकाएं हो जाती है ; जैसे —गर्भ का न रहना, गर्भस्राव, गर्भपात, दुर्बल सन्तान का जन्म जन्म के बाद शीघ्र मृत्यु, सन्तान का अस्वस्थ रहना आदि । इसी कारण सुश्रुतकार ने २५ वर्ष से पूर्व

पुरुष का, १६ वर्ष से पूर्व कन्या के विवाह का निषेध किया है। कुशल वैद्य २५ वर्ष के पुरुष और १६ वर्ष की कन्या को प्रजनन में समसामर्थ्य वाले बताते हैं। निम्न प्रमाणों में ये मान्यताएं द्रष्टव्य हैं —

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान्नारी तु षोडशे।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक्॥
[सुश्रुत सूत्र. ३५।१०॥]

ऊनषोडश वर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते॥
जातो वा न चिरं जीवेत् जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्।'
[सुश्रुत श. १०।४७-४८॥]

(३) वेद में विवाह की आयु — वेद में ब्रह्मचारिणी कन्या द्वारा युवक पुरुष को वरण करने का कथन है। उपर्युक्त प्रमाणों में युवावस्था २५ वर्ष के अनन्तर बतलायी गयी है। इस प्रकार वेदों में २५ वर्ष के अनन्तर ही विवाह की आयु मानी गयी है। मन्त्र निम्न है —

''ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्॥''
[अथर्ववेद ११।५।५॥]

अर्थात् — ''जैसे लड़के पूर्ण ब्रह्मचर्य और पूर्ण विद्या पढ़ पूर्ण जवान होके अपने सदृश कन्या से विवाह करें, वैसे कन्या भी अखण्ड ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़ युवति हो, अपने तुल्य पूर्ण युवावस्था वाले पति को प्राप्त होवे।'' (सं. वि. वेदारम्भप्रकरण)

१३. मनुस्मृति में मनुष्यों के ऋषि, पितर, देव आदि विभिन्न वर्ग —

मनु द्वारा २।११५-१३१ श्लोकों में वर्णित विभिन्न अध्यापयिता विद्वान् ही स्तर के अनुसार ऋषि, देव और पितर हैं। इनमें किसी विद्या के साक्षात् द्रष्टा, विशेषज्ञ, 'ऋषि' कहलाते हैं। दिव्य-गुण-आचरण की प्रधानता वाले विद्वान् 'देव', और पालक गुण कीप्रधानता वाले वयोवृद्ध व्यक्ति एवं माता-पिता आदि गुरुजन 'पितर' होते हैं। कुछ वर्ग,स्वभाव एवं प्रवृत्ति के आधार भी बनते हैं। देवों का नाम दिव्य स्वभाव की प्रधानता के कारण भी है। इसी प्रकार असुर, गन्धर्व, राक्षस, पिशाच भी स्वभाव,संस्कार और प्रवृत्ति के कारण प्रसिद्ध होते हैं। मनुस्मृति में इनकी यत्र-तत्र चर्चा आती है। सभी वर्णनों के साररूप में, इनके विषय में मनु की मान्यता प्रदर्शित की जाती है —

(क) ऋषि कौन ?

'ऋषी गतौ' धातु से 'इन' प्रत्यय और **'इगुपधात् कित्'** के योग से 'ऋषि' शब्द की सिद्धि होती है। गति के ज्ञान, गमन और प्राप्ति, ये तीन अर्थ हैं। ऋषि सबसे उच्चस्तर का विद्वान् व्यक्ति होता है। वेदमन्त्रों के अर्थों का द्रष्टा, धर्म और ईश्वर का साक्षात्कार करने वाला आप्तपुरुष,ऋषि कहलाता है। वेद, वेदार्थों और विद्याओं के गूढ़ ज्ञान को प्रत्यक्ष कराने की योग्यता उसमें होती है। वही धर्मोपदेष्टा होता है।

(क) निरुक्तकार ने ऋषि की निरुक्ति की है —"**ऋषि : दर्शनात् । स्तोमान् ददर्श इत्यौपमन्यव : ।**" [निरु. २ । ११] अर्थात् ऋषि वेदार्थों और विद्याओं के रहस्यों को प्रत्यक्ष करने-कराने वाला होता है । औपमन्यव आचार्य का मत है कि मन्त्रद्रष्टा होने से ऋषि होता है । इसी प्रकार "**साक्षात्कृतधर्माण : ऋषयो : बभूवु : ।**" अर्थात् ऋषि धर्म और ईश्वर के साक्षात्कर्त्ता होते हैं । [निरु. १ । २०] ।

(ख) ब्राह्मणों में भी ऋषि की यही विशेषताएं वर्णित की हैं —

(अ) "**यो वै ज्ञातोऽनूचान : स ऋषिरार्षेय : ।**"
[श. ४ । ३ । ४ । १९]

(आ) "**एते वै विप्रा यदृषय : ।।**
[श. १ । ४ । २ । ७]

(ग) महर्षि मनु ने भी ऋषिचर्चा के प्रसंग में इन्हीं विशेषताओं का उल्लेख किया है —

(इ) **न हायनैर्नपलितै : न वित्तेन न च बन्धुभि : ।**
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचान : स नो महान् ।।
[२ । १२९ ।।]

(ई) **ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वात् दीर्घमायुरवाप्नुयु :।**
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च ।। [४ ।९४]

(उ) **आर्षं धर्मोपदेशम् च ।। [१२ । १०६ ।।]**

(ऊ) "**अथ यदेवानुब्रवीत् । तेनर्षिभ्यं ऋणं जायते, तद्धयेभ्य एतत् करोत्यृषीणां निधिगोप इति ह्यनूचानमाहु : ।।**"
[शत. १ । ७ । ५ । ३]

"**अथार्षेयं प्रवृणीते । ऋषिभ्यश्चैवेनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयत्यं महावीर्यो यो यज्ञं प्रापदिति तस्मादार्षेयं प्रवृणीते ।।**" [शत. १ ।४ ।५ ।३]

"**अर्थ** — सब विद्याओं को पढ़के जो पढ़ाना है 'ऋषिकर्म' कहाता है, उस पढ़ने और पढ़ाने से ऋषियों का ऋण अर्थात् उनको उत्तम-उत्तम पदार्थ देने से निवृत्त होता है और जो इन ऋषियों की सेवा करता है,वह उनको सुख देने वाला होता है । यही व्यवहार अर्थात् विद्याकोश की रक्षा करने वाला होता है । जो सब विद्याओं को जानके सबको पढ़ाता है; उसको ऋषि कहते हैं ।

जो पढ़के पढ़ाने के लिये विद्यार्थी का स्वीकार करना है,सो आर्षेय अर्थात् ऋषियों का कर्म कहाता है । उसे उस कर्म को करता हुआ उन ऋषियों और देवों के लिए प्रसन्न करने वाले पदार्थों का निवेदन तथा सेवा करता है, वह विद्वान् अति पराक्रमी होके विशेष ज्ञान को प्राप्त होता है । जो विद्वान् और विद्या को ग्रहण करने वाला है उसका 'ऋषि' नाम होता है ।"
[द. ल. ग्र. सं. २४५-२५५]

(ख) देव कौन ?

'**दिवु = क्रीड़ा-विजिगीषा-व्यवहार-द्युति-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति-गतिषु**' (दिवादि) धातु से '**पचाद्यच्**' से '**अच्**' प्रत्यय अथवा 'दिवु-मर्दने' (चुरादि) या 'दिवुपरिकूजने' (चुरादि) धातु से 'अच' प्रत्यय के भाग से 'देव' शब्द निष्पन्न होता है । देव जड़ और चेतन दो प्रकार के होते हैं (विस्तृत विवरण १ । ६७ की समीक्षा में देखिए) । इस श्लोक में देव शब्द से चेतन देव अभीष्ट हैं । शतपथ में आता है —

(अ) "द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति सत्यं चैवानृतं च । सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्या: 'इदमहमनृतात् सत्यमुपैमीति' तन्मनुष्येभ्य देवानुपैति ।

[शतपथ १ । १ । १ । ४-५]

"दो लक्षणों से मनुष्यों की दो संज्ञाएं होती हैं अर्थात् देव और मनुष्य । वहां सत्य और झूठ दो कारण हैं । जो सत्य बोलने, सत्य मानने और सत्य कर्म करने वाले हैं,वे 'देव' और वैसे ही झूठ मानने और झूठ कर्म करने वाले 'मनुष्य' कहाते हैं । जो झूठ से अलग होके सत्य को प्राप्त होवें वे देवजाति में गिने जाते हैं ।।" [द. ल. ग्र. सं. २४५ –२५५]

(आ) विद्वांसो हि देवा: ।। [शत. ३ । ७ । ६ । १०]

(इ) ये ब्राह्मणा: शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते, मनुष्यदेवा: ।। [शत. २।४।३।१४ ।।]

(ई) सत्यसंहिता वै देवा: ।। [ऐ. ब्रा. १ । १६]

अर्थात्,विद्वान मनुष्यों को देव कहते हैं । निरुक्त में देव शब्द की निरुक्ति करते हुए लिखा है — 'देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा । यो देव: स देवता" [निरु. ७ । १५] अर्थात्,दान देने से, प्रकाश करने से,प्रकाशित होने से, द्युस्थानीय होने से 'देव' कहाते हैं । देव को ही देवता कहा जाता है । इस प्रकार विद्याओं से प्रकाशित और विद्याओं का दान देने वाले, दिव्यगुण एवं उत्तम आचरण वाले विद्वानों को 'देव' कहा जाता है । यथा — "मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव ।" [प्रपा. ७ । ११] ।

मनुस्मृति में ऐसे ही विद्वानों को देव कहा है । निम्न श्लोक द्रष्टव्य हैं —

(उ) ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यव: ।
देवाश्चैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं व: शिशुरुक्तवान् ।।२।१३१ ।।

(ऊ) न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिर: ।
यो वै युवाऽप्यधीयानस्तं देवा: स्थविरं विदु: ।।२।१२७ ।।

२. 'देवता-अभ्यर्चन' से अभिप्राय —

निरुक्त में कहा गया है कि "यो देव:,सा देवता" [७।४।१५] देव को ही देवता कहा जाता है । देव शब्द से तल् और टाप् प्रत्यय के प्रयोग से देवता शब्द सिद्ध हुआ है । चेतन देवों के सन्दर्भ में देव शब्द का सबसे प्रमुख अर्थ 'परमात्मा' होता है । क्योंकि परमात्मदेव ही सब देवताओं का देवता है । जड़ देव उपयोग के योग्य होते हैं, चेतन देव (विद्वान, माता, पिता आदि) सत्कार और सेवा के द्वारा प्रसन्न करने योग्य । लेकिन उपासना के योग्य केवल एक परमात्मा ही होता है, अन्य नहीं । अत: यहां 'देवताऽभ्यर्चनम' से अभिप्राय परमात्मदेव की उपासना करने से है । यदि कहीं अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि नामों से देवताओं की स्तुति का वर्णन मिलता है,तो वह भी उनके माध्यम से परमात्मा की ही स्तुति अभिप्रेत है । क्योंकि ये परमात्मा की ही दिव्यशक्तियाँ या गुण हैं, उसी के प्रत्यंग हैं । भिन्न-भिन्न देवों की स्तुति से अभिप्राय होता है परमात्मा के उस-उस गुण की स्तुति करना । इस प्रकार सभी देव एक परमात्मा में ही समाहित होते हैं । निरुक्तकार ने इसको इस प्रकार स्पष्ट किया है —

(अ) 'महाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते ।
एकस्यात्मनोऽन्ये देवा: प्रत्यङ्गानि भवन्ति ।

कर्मजन्मान : आत्मजन्मान : आत्मैवैषां रथो भवति ।।
आत्माश्व : आत्मायुधम्, आत्मेषव : सर्वं देवस्य देवस्य ।''
[निरुक्त ७।१।४]

अर्थात् — एक परमात्मा देव ही मुख्य देव है । सर्वशक्तिमत्त्वादि अनेक-विध ऐश्वर्यों से युक्त होने के कारण अनेक नामों-गुणों से उसकी स्तुति की जाती है, अन्य सभी देव इस महादेव परमात्मा के प्रत्यंगरूप हैं । उनका इसी में समाहार हो जाता है । उस एक अद्वितीय परमेश्वर के ही प्रकाश, धारण, उत्पादन करने से वे **सब व्यवहार के देव प्रकाशित हो रहे हैं,इनका जन्म और कर्म ईश्वर** के सामर्थ्य से होता है । इनका रथ अर्थात् जो रमण का स्थान, अश्व अर्थात् शीघ्र सुखप्राप्ति का कारण, गमनहेतु , आयुध = शत्रुओं का नाश करके विजय प्राप्त कराने हारा , इषु = बाण के समान सब दुष्टगुणों और दु :खों का छेदन करने वाला शस्त्र, वही परमात्मा है । परमात्मा ने जितना-जितना जिस-जिस में दिव्यगुण रखा है उतना-उतना ही उन द्रव्यों में देवपन है,अधिक नहीं । इस प्रकार अन्य सब देवता परमेश्वरवाची ही हैं ।

इसमें वेदों के प्रमाण हैं —

(आ) **इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य : सुपर्णो गुरुत्मान् ।**
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहु : ।।
[ऋ. १०।१६४।४६]

(इ) **तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमा : ।**
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आप : स प्रजापति : ।।
[यजु. ३२।१ ।।]

स्वयं मनुस्मृति के प्रमाण देखिए —

(ई) **आत्मैव देवता : सर्वा सर्वमात्मन्यवस्थितम् ।**
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ।।
[१२।११९ ।।]

(उ) **एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।**
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ।।
[१२।१२३ ।।]

(ऊ) मनु ने अनेक स्थानों पर उपास्य के रूप में केवल परमात्मा को ही स्वीकार किया है । प्रमाणरूप में द्रष्टव्य हैं — २।७६-७८ [२।१०१-१०३], ४।९२-९३, १२।११८, ११९, १२२, १२५ ।।

इस सम्पूर्ण विवेचन और प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि मनुस्मृति में २ । १५१ [१७६] आदि श्लोकों में '**देवता-अभ्यर्चनम** ' का अर्थ परमात्मदेव की उपासना अर्थात् संध्या करने से है । अन्य अर्थ भ्रान्तिपूर्ण हैं । इस श्लोक में शिव, विष्णु की प्रतिमाओं के पूजन की कल्पना मनगढ़न्त है और अप्रामाणिक है ।

इस प्रकार—देव, सात्त्विक, प्रवृत्ति के [१२ । ४०] विद्वानों को कहते हैं, और अग्निहोत्र को भी देवयज्ञ के नाम से अभिहित किया जाता है । यज्ञ का विशेष अनुष्ठान और उसमें यज्ञ कर्म करने वाले विद्वान व्यक्ति को कन्यादान करना, ये दोनों बातें 'दैव' इस संज्ञा के अनुरूप ही हैं । यह विधि देवों = विद्वानों के कर्मानुरूप और सम्मत है, अत : ३ । [illegible]

कहा है ।

जड़ देवता—

चेतन देवों के अतिरिक्त, सूर्य, अग्नि, वायु, पृथिवी,अन्तरिक्ष, द्युलोक, चन्द्रमा, नक्षत्र, दशप्राण = प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय, बारह मास—ये जड़ देवता कहलाते हैं । निरुक्त में 'देव' शब्द की निरुक्ति इस प्रकार दी है—''**देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा ।**'' [७ । ४ । १५] अर्थात्—'दान देने वाले, प्रकाशित करने वाले, प्रकाशित होने वाले या द्युस्थानीय को देवता कहते हैं ।' सूर्य द्युस्थानीय है और अपने प्रकाश से सब मूर्तिमान् द्रव्यों को प्रकाशित करता है, अत: देव या देवता है ।

शतपथ ब्राह्मण में देवताओं पर प्रकाश डालते हुए जड़ और चेतन-रूप में ३३ देवता परिगणित किये हैं—

''**स होवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवा इति । कतमे ते त्रयत्रिंशत् इति ? अष्टौ वसव:, एकादश रुद्रा:, द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशत्' इन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति ।**

कतमे वसव इति ? अग्निश्च, पृथिवी च, वायुश्च, अन्तरिक्षं च, आदित्यश्च, द्यौश्च, चन्द्रमाश्च, नक्षत्राणि च, एते वसव: ।

कतमे रुद्रा इति ? दशेमे पुरुषे प्राणा: (प्राण:, अपान:, व्यान:, समान:, उदान:, नाग:, कूर्म: कृकल:, देवदत्त:, धनञ्जयश्च) आत्मा-एकादशस्ते ।

कतम आदित्या इति ? द्वादश मासा: संवत्सरस्य एते आदित्या: ।

(३) कतम इन्द्र, कतम: प्रजापतिरिति । स्तनयित्नुरेवेन्द्रो, यज्ञ: प्रजापतिरिति । तदाहु: । यदयमेक इव पवते । कतम एको देव इति ? स ब्रह्मेत्यदित्याचक्षते । [शत. कां. १४ । प्रपा. १६]

(ग) पितर कौन ?

पान्ति पालयन्ति रक्षन्ति अन्न-विद्या-सुशिक्षा-आदिदानै: ते पितर: ''=जो अन्न विद्या, सुशिक्षा आदि से पालन-पोषण और रक्षण करते हैं,वे 'पितर' कहलाते हैं । इसमें ब्राह्मणों के प्रमाण द्रष्टव्य हैं—

(अ) ''देवा वा एते पितर:'' [गो. उ. १ । २४]

(आ) ''स्विष्टकृतो वै पितर:'' [गो. उ. १ । २५]

अर्थात् सुखसुविधाओं द्वारा पालन-पोषण करने वाले और हितसम्पादन करने वाले विद्वान् व्यक्ति 'पितर' कहलाते हैं ।

(इ) ''मर्त्या: पितर:'' [श. २ । १ । ३ । ४]

जीवित मनुष्य ही 'पितर हैं अर्थात् मृत नहीं ।

इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि मृत पितरों की मान्यता मात्र कल्पना और भ्रान्ति है । माता पिता-पितामह-आचार्य आदि ही 'पितर' कहलाते हैं ।

मनुस्मृति में स्थान-स्थान पर इन्हीं व्यक्तियों को पितर कहा है । ४ । २५७ में उनके ऋण से उऋण होने के लिए कहा है—''**महर्षि-पितृ-देवानां गत्वानृण्यं यथाविधि**'' । यह जीवितों के साथ ही सम्भव हो सकता है । मनुस्मृति के अन्य प्रमाण भी द्रष्टव्य हैं

(ई) अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः ।
पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ।। २ । १२६ ।।

(उ) पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गतिः ।। १२ । ४९ ।।

(ऊ) पितृदेवमनुष्याणां वेदचक्षुः सनातनम् ।। १२ । ९४ ।।

(ए) दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह ।। ९ । २८ ।।

(ऐ) ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा ।
आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता ।। ३ । ८० ।।

मनु ने ४ । ३०—३१ में जीवित, धार्मिक, वेदवित् विद्वानों को ही हव्य-कव्य देने का विधान किया है । ये श्लोक मनु की इस मान्यता को सिद्ध करते हैं कि हव्य-कव्य जीवित व्यक्तियों को ही दिये जाते हैं । यही श्राद्ध है । हव्य-कव्य आदि श्राद्ध-सम्बन्धी बातों का मृतक पितृश्राद्ध से कोई सम्बन्ध नहीं ।

(ओ) पितरों में वेद का प्रमाण—

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम् ।
स्वधास्थ तर्पयत मे पितॄन् ।।
[यजु. २ । ३४]

''**अर्थ**—पिता वा स्वामी अपने पौत्र, स्त्री, नौकरों को सब दिन के लिए आज्ञा देके कहे कि—(तर्पयत से पितॄन्) जो मेरे पिता पितामह आदि, माता, मातामह आदि तथा आचार्य और इनसे भिन्न भी विद्वान् लोग अवस्था अथवा ज्ञान से वृद्ध, मान्य करने योग्य हों, उन सबकी आत्माओं को यथायोग्य सेवा से प्रसन्न किया करो । सेवा करने के पदार्थ ये हैं—(ऊर्जं वहन्ती) जो उत्तम-उत्तम जल (अमृतम्) अनेक विध रस (घृतम्) घी (पयः) दूध (कीलालम्) अनेक संस्कारों से सिद्ध किये रोगनाश करने वाले उत्तम-उत्तम अन्न (परिस्रुतम्) सब प्रकार के उत्तम-उत्तम फल हैं, इन सब पदार्थों से उनकी सेवा सदा करते रहो (स्वधास्थ) हे पूर्वोक्त पितृलोगो ! तुम सब हमारे अमृतरूप पदार्थों के भागों से सदा सुखी रहो ।'' [द. ल. ग्र. सं. २४५—२५५]

(अं) पितरों की गणना और उनका अभिप्राय—

''जिनकी पितृसंज्ञा है और जो सेवा के योग्य हैं वे निम्न हैं—

१—सोमसदः । २—अग्निष्वात्ताः । ३ —बर्हिषदः । ४—सोमपाः । ५—हविर्भुजः
६—आज्यपाः ७—सुकालिनः । ८—यमराजाः । ९—पितृपितामहप्रपितामहाः ।
१०—मातृपितामहीप्रपितामह्यः । ११—सगोत्राः । १२—आचार्यादिसम्बन्धिनः ।

१ — **सोमसदः**—'**सोमे ईश्वरे सोमयोगे वा सीदन्ति ये सोमगुणाश्च**' ते '**सोमसदः**' = जो ईश्वर और सोमयज्ञ में निपुण और शान्ति आदि गुण सहित हैं, वे 'सोमसद' कहाते हैं

२ — **अग्निष्वात्ताः**—'**अग्निरीश्वरः, सुष्ठुतया आत्तो गृहीतो यैस्ते यद्वा अग्नेर्गुणज्ञानात् पृथिवी = जल-व्योम-यान-यन्त्ररचनादिका पदार्थविद्या सुष्ठुतया आत्ता गृहीता यैः ते 'अग्निष्वात्ताः'** = अग्नि जो परमेश्वर वा भौतिक अग्नि, उनके गुणज्ञान करके जिन्होंने अच्छे प्रकार अग्निविद्या सिद्ध की है, उनको 'अग्निष्वात्त' कहते हैं ।

३ — **बर्हिषद :— 'बर्हिषि सर्वोत्कृष्टे ब्रह्मणि शम-दमादियुत्तमेषु गुणेषु वा सीदन्ति' ते 'बर्हिषद :'** = जो सबसे उत्तम परब्रह्म में स्थिर होके शम, दम, सत्य, विद्या आदि उत्तम गुणों में वर्तमान हैं, उनको 'बर्हिषद्' कहते हैं।

४ — **सोमपा :— 'यज्ञेन उत्तमौषधिरसं पिबन्ति पाययन्ति वा' ते 'सोमपा :'** = जो यज्ञ करके सोमलता आदि उत्तम औषधियों के रस के पान करने और कराने वाले हैं, तथा जो सोमविद्या को जानते हैं, उनको 'सोमपा' कहते हैं।

५ — **हविर्भुज :— 'हविर्हुतमेव यज्ञेन शोधितवृष्टिजलादिकं भोक्तुं भोजयितुं वा शीलमेषां' ते 'हविर्भुज :'** = जो अग्निहोत्र आदि यज्ञ करके वायु और वृष्टिजल की शुद्धि द्वारा सब जगत् का उपकार करते और जो यज्ञ से अन्नजलादि की शुद्धि करके खाने पीने वाले हैं, उनको 'हविर्भुज' कहते हैं।

६ — **आज्यपा — 'आज्यं घृतम्, यद्वा 'अंज् गतिक्षेपणयो :' धात्वर्थात् आज्यं विज्ञानम् दक्षानेन पान्ति रक्षन्ति पालयन्ति रक्षयन्ति ये विद्वांस :' ते 'आज्यपा :'** = घृत, स्निग्धपदार्थ और विज्ञान को कहते हैं। जो उनके दान से रक्षा करने वाले हैं, उसको 'आज्यप' कहते हैं।

७ — **सुकालिन :— 'ईश्वरविद्योपदेशकरणस्य ग्रहणस्य च शोभन : कालो येषां ते। यद्वा ईश्वरज्ञानप्राप्त्या सुखरूप : सदैव कालो येषां' ते 'सुकालिन :'** = मनुष्य-शरीर को प्राप्त होकर ईश्वर और सत्यविद्या के उपदेश का जिनका श्रेष्ठ समय और जो सदा उपदेश में ही वर्तमान हैं, उनको सुकालिन' कहते हैं।

८ — **यमराजा :— 'ये पक्षपातं विहाय न्यायव्यवस्थाकर्त्तार : सन्ति' ते 'यमराजा :'** = जो पक्षपात को छोड़कर सदा सत्य न्यायव्यवस्था ही करने में रहते हैं, उनको 'यमराज' कहते हैं।

९ — **पितृ-पितामह-प्रपितामहा :—(पितृ) 'ये सुष्ठुतया श्रेष्ठान् विदुषोगुणान् वासयन्त : तत्र वसन्तश्च, अनन्तधना : स्वान् जनान् धारयन्त : पोषयन्तश्च, चतुर्विंशतिवर्षपर्यन्तेन ब्रह्मचर्येण विद्याभ्यासकारिण : स्वे जनकाश्च सन्ति, ते पितर : 'वसव :' विज्ञेया ईश्वरोऽपि'** = जो वीर्य के निषेकादि कर्मों को करके उत्पत्ति और पालन करे और चौबीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम से विद्या को पढ़े, उसका नाम 'पिता' अथवा 'वसु' है। (पितामह) **'ये पक्षपातरहिता दुष्टान् रोदयन्त : चतुश्चत्वारिंशत् वर्षपर्यन्तेन ब्रह्मचर्यसेवनेन कृतविद्याभ्यासा : ते 'रुद्रा :' स्वे पितामहाश्च ग्राह्या : तथा रुद्र ईश्वरोऽपि'** = जो पिता का पिता हो और चवालीस वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य से विद्याभ्यास कर पक्षपातरहित होकर दुष्टों को रुलाने वाला है, उसका नाम 'पितामह' और 'रुद्र' है। **(प्रपितामह) 'आदित्यवत् उत्तमगुण प्रकाशका: विद्वांसोऽष्टचत्वारिंशत् वर्षेणब्रह्मचर्येण सर्व-विद्यासम्पन्ना : सूर्यवत् विद्याप्रकाशका : त आदित्या : स्वे प्रपितामहाश्च ग्राह्या : तथा आदित्यो विनाशीश्वरो वात्र गृह्यते'** = जो पितामह का पिता और आदित्य के समान उत्तम गुणों का प्रकाशक अड़तालीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम से विद्या पढ़के सब जगत् का उपकार करता हो, उसको 'प्रपितामह' अथवा 'आदित्य' कहते हैं। तथा जो पित्रादिकों के तुल्य पुरुष हैं उनकी भी पित्रादिकों के तुल्य सेवा करनी चाहिये।

१० — **मातृ-पितामही-प्रपितामह्य :— पित्रादिसदृश्यो मात्रादय : सेव्या :** =

पित्रादिकों के समान विद्या स्वभाव वाली स्त्रियों की भी अत्यन्त सेवा करनी चाहिये । माता, दादी परदादी आदि ।

११ — **सगोत्रा :— 'स्वसमीपं पुत्रादयस्ते श्रद्धया पालनीया :'** = जो सपीपवर्ती ज्ञाति के पुरुष हैं, वे भी सेवा करने के योग्य हैं ।

१२ — **आचार्यादिसम्बन्धिन :— 'ये गुर्वादिसत्कृयन्ता : सन्ति ते हि सर्वदा सेवनीया :'** = जो पूर्णविद्या के पढ़ने वाले और श्वसुरादि सम्बन्धी तथा उनकी स्त्री हैं, उनकी यथायोग्य सेवा करनी चाहिए'' । [द. ल. ग्रं. २४५-२५५]

इस प्रकार उपर्युक्त गुण वाले जीवित व्यक्तियों को ही 'पितर' कहा जाता है, उनकी सेवा करना ही पितृयज्ञ है । मृतपितरों की कल्पना, भ्रान्ति एवं अज्ञानता है ।

प्रजापति, प्रजा अर्थात् सन्तान के पालन में तत्पर माता-पिता आदि गृहस्थ विद्वानों को ही कहते हैं । उन्हें 'पितर' भी कहा जाता है । इसमें ब्राह्मणों और निरुक्त के प्रमाण हैं — ''**प्रजा अपत्यनाम**'' निघ. २।२ ।। **प्रजापति : पाता वा पालयिता वा**'' निरु. १०।४१ ।। ''**पितर : प्रजापति :**'' गो. उ. ६।१५ ।। ''**पुरुष : प्रजापति :**'' शत. ६।२।१।२३ ।। प्रजाओं को उत्पन्न करके उनका पालन करने के कारण पुरुष प्रजापति होता है । पितर अर्थात् माता-पिता आदि प्रजापति होते हैं । सन्तानों का पालन करने वाले माता-पिता आदि गृहस्थ विद्वानों द्वारा अनुमोदित, सम्मत और उनके आचरणानुरूप होने से ३।३० में वर्णित इस प्रकार के विवाह का नाम 'प्राजापत्य विवाह' है ।

(घ) असुर कौन ?

'न सुरा-असुरा :' अर्थात् जो देवताओं के समान नहीं हैं । जो देवताओं के समान नि :स्वार्थ, निर्वैर, परहित, परोपकार, त्याग, तप, सहिष्णुता आदि भावनाओं वाले नहीं हैं । जो अपने देह और प्राणों के ही पोषण में, अपने ही स्वार्थ, सुख-सुविधा, धन और हितसाधनमें तत्पर रहते हैं; उसकी पूर्ति के लिए तरह-तरह के छल-प्रपंच माया-जाल आदि रचते हैं, ऐसे व्यक्ति 'असुर' कहलाते हैं । इनमें निरुक्त और ब्राह्मणों के प्रमाण उल्लेखनीय हैं — ''**असुरता : स्थानेष्वस्ता, स्थानेभ्य इति वा, असुरिति प्राणानामास्त : शरीरे भवति, तेन तद्वन्त :** ।'' निरु. ३।७ ।। ''**(असुरा :) स्वेष्वेवास्येषु जुह्वतश्चेरु :**'' शत. ११।१।८।१ ।। **मायात्येसुरा : (उपासते)**'' शत. १०।५।२।१० ।। **असु क्षेपणे (अदादि) धातु से 'असेरुरन्'** (उणादि १।४२) से 'उरन्' प्रत्यय से 'असुर' शब्द बना । 'असुर से 'सम्बन्ध रखने वाला' अर्थ में अण् प्रत्यय लगाकर 'आसुर' बनता है । इस प्रकार दूसरे की भावनाओं की उपेक्षा करके धन और स्वार्थ-साधन में तत्पर व्यक्तियों द्वारा अनुमोदित, सम्मत अथवा उनके आचरणानुरूप होने से ३।३१ में उस विवाह का नाम 'आसुर विवाह' है ।

(ड.) गन्धर्व कौन ?

गन्धर्व की व्युत्पत्ति है ''**गाम् = वाचम् धरतीति गन्धर्व :**'' अर्थात् गाने की उत्तम वाणी को धारण करने वाला । संगीत अर्थात् गाने, बजाने, नाचने की कला में प्रवीण लोगों को, जो विलासी आमोद-प्रमोद में व्यस्त, श्रृंगारप्रिय और कामुकप्रवृत्ति-प्रधान हैं, 'गन्धर्व' कहते हैं । ब्राह्मणों के निम्न प्रमाणों में इस पर प्रकाश डाला गया है — ''**रूपमिति गन्धर्वा : (उपासते)** शत. १०।५।२।२० ।। ''**योषित् कामा वै गन्धर्वा:**'' शत. ३।२।४।३ ।। ''**स्त्रीकामा वै गन्धर्वा :**'' ऐत. १।२७७ ।। कौ. १२।३ ।। **गन्धो मे, मोदो मे प्रमोदो मे । तन्मे युष्मासु**

(गन्धर्वेषु) जै. उ. ३।२५।४ ।। ऐसे व्यक्तियों से अनुमोदित, सम्मत या उनके आचरणानुरूप होने से ३।३२ में वर्णित उस विवाह का नाम 'गान्धर्व विवाह' है ।

(च) राक्षस कौन ?

रक्ष-पालने धातु से **'सर्वधातुभ्योऽसुन्'** [उणादि ४।१८९] सूत्र से 'असुन्' प्रत्यय और **'इदम्'** अर्थ में अण् प्रत्यय के योग से राक्षस शब्द सिद्ध होता है । निरुक्त ४।१८ में राक्षस की निरुक्ति देते हुए कहा है — **''रक्ष : रक्षितव्यमस्माद्, रहसि क्षणोतीति वा, रात्रौ नक्षते इति वा ।''** अर्थात् जिससे धन-सम्पत्ति, प्राण आदि की रक्षा करनी पड़े, जो एकान्त अवसर पाकर हानि पहुंचाते और जो रात्रि में लूट-पाट, चोरी-व्यभिचार आदि दुष्ट कर्मों में सक्रिय हो जाते हैं, वे राक्षस हैं । इस प्रकार अपने स्वार्थ-साधन के लिए दूसरों की हानि करने वाले, दूसरों को सताने और पीड़ित करने वाले, अत्याचारी, अन्यायी, बलात्कारी स्वभावी और मांस-मदिराभोजी तमोगुणी [१२।४४] व्यक्ति 'राक्षस' कहलाते हैं । ऐसे व्यक्तियों के आचरणानुरूप, उनसे अनुमोदित या सम्मत होने से ३।३३ में विहित उस विवाह का नाम 'राक्षस विवाह' है ।

(छ) पिशाच कौन ?

पिश-अवयवे (तुदादि) धातु से 'क' प्रत्यय होने से 'पिशम्' पद बना । 'पिश्' उपपद से आङ्-पूर्वक 'चमु-अदने' धातु से 'ड :' प्रत्ययपूर्वक 'पैशाच' शब्द बनता है । अथवा 'पिशित' पूर्वपद से 'अक्ष' धातु से अण्, 'इत्' का लोप, शकार को चकार होकर पैशाच बनता है । **'ये पिशितम् = अवयवीभूतं, पेशितं वा मांसं रुधिरादिकम् आचमन्ति भक्षयन्ति ते 'पैशाचा :'।** प्राणियों का कच्चा मांस, रक्त तक खाने वाले, हिंसक, दुराचारी, अनाचारी, मलिन संस्कारों वाले, अत्यन्त तमोगुणी [१२।४४], अत्यन्त निम्न और घृणित स्वभाव के व्यक्ति 'पिशाच' कहलाते हैं । ऐसे व्यक्तियों के आचरणानुरूप या उनसे अनुमोदित, सम्मत होने से ३।३४ में वर्णित उस विवाह का नाम 'पिशाच विवाह' है ।

(ज) दस्यु कौन ?

वेदों में और प्राचीन संस्कृत-साहित्य में 'दस्यु' शब्द का पर्याप्त प्रयोग आता है । यहाँ मनु ने स्पष्ट किया है कि दस्यु कौन है । वेदों में मनुष्यों के दो वर्ग उक्त हैं —'आर्य' = श्रेष्ठ और 'दस्यु' = अश्रेष्ठ । मनु ने यहां बताया है कि आर्यों के चार वर्णों से बाहय अर्थात् वर्णाश्रम धर्मों में अदीक्षित [१०।५७],धर्म का पालन न करके अधर्माचरण करने वाले चारों वर्णों से अवशिष्ट सभी लोग दस्यु हैं । दस्यु शब्द का अर्थ और व्युत्पत्ति भी इनके इसी आचरण पर प्रकाश डालते हैं — 'दसु-उपक्षये' धातु से **'यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच्'** [उणादि ३।२०] से युच् प्रत्यय के योग से 'दस्यु' शब्द बनता है । निरुक्त ७।२३ में इसकी व्युत्पत्ति है — **''दस्यु दस्यते : क्षयार्थात् . . . उपदासयति कर्माणि''** = दस्यु वह है जो शुभकर्मों से क्षीण है या शुभकर्मों में बाधा डालता है । मनु का श्लोक निम्न है —

मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहि : ।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाच : सर्वे ते दस्यव : स्मृता : ।।(१०।४५ ।।)

(लोके) लोक में (मुख-बाहु + उरु-पत्-जानाम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों से (बहि :) श्रेष्ठ कर्त्तव्यपालन न करने के कारण बहिष्कृत या इनमें अदीक्षित (या जातय :) जो जातियां हैं (म्लेच्छवाच : च आर्यवाच :) चाहे वे म्लेच्छभाषाएं बोलती हैं या आर्यभाषाएं (ते सर्वे) वे सब

(दस्यव : स्मृता :) 'दस्यु' कहलाती हैं ।

(क) आर्य और अनार्य —

चारों वर्णों में किसी एक वर्ण में दीक्षित, श्रेष्ठ संस्कारों, स्वभाव एवं आचरण वाला व्यक्ति आर्य कहलाता है । इसके विपरीत अनार्य होता है । मनु ने निम्न श्लोक में अनार्य के लक्षण दिखाये हैं —

वर्णापेतमविज्ञातं नरं कलुषयोनिजम् ।
आर्यरूपमिवानार्यं कर्मभि : स्वैर्विभावयेत् ।। १०।५७ ।।

(वर्ण-अपेतम्) वर्णों की दीक्षा से रहित अथवा वर्णों से बहिष्कृत (आर्यरूपम् + इव + अनार्यम्) श्रेष्ठ रहन-सहन और स्वभाव का दिखावा करने वाले किन्तु वास्तव में श्रेष्ठलक्षणों से रहित अनार्य (कलुषयोनिजम्) [कलुषयोनौ = दुष्टयोनौ जायते इति कलुषयोनिज :, तम्] दुष्टसंस्कारों वाले व्यक्ति से उत्पन्न दुष्टसंस्कारी या दुष्टप्रवृत्ति वाले (स्वै : कर्मभि : विभावयेत्) उसके अपने कर्मों से पहचान ले अर्थात् जो श्रेष्ठ कर्मों को न करता हो और अश्रेष्ठ कर्मों को करता हो, वह अनार्य है ।

(१) मनु ने प्रत्येक व्यक्ति को किसी-न-किसी वर्ण की दीक्षा ग्रहण कर उत्तम धर्मानुकूल आचरण का पालन करने का कथन किया है । कुछ व्यक्ति इतने दुष्टसंस्कारों के होते हैं कि उनकी धर्माचरण में रुचि नहीं बनती । वे किसी भी वर्ण की दीक्षा को स्वीकार नहीं करते ['**वर्णापेतम्**'], उनमें स्वभावगत अश्रेष्ठता, कठोरता, निर्दयता होती है और धार्मिक क्रियाओं के प्रति उपेक्षा भावना रहती है । ऐसे व्यक्ति ही अनार्य या दस्यु हैं । दुष्टसंस्कारयुक्त व्यक्तियों से उत्पन्न होने वाले दुष्टसंस्कारी व्यक्तियों = कलुषयोनिजों या दस्युओं में ये संस्कार इतने प्रबल हो जाते हैं कि वे किसी-न-किसी रूप में प्रकट होकर उनकी पहचान करा देते हैं । ४।४१-४२ में मनु ने दुष्ट कर्मों से दुष्टसंस्कारी सन्तानों की उत्पत्ति की ओर संकेत किया है । वही कलुषयोनिज या दस्यु होते हैं —

इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिन : ।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विष : सुता : ।।
... **भवति प्रजा निन्दितैर्निन्दिता नृणाम्** ।।'

(२) इस श्लोक में उच्च-निम्न जातिपरक अर्थ करना मनुसम्मत नहीं है । यहां स्पष्टत : सभी ऐसे व्यक्तियों का उल्लेख है जो आर्यरूप में अनार्य होते हैं, दुष्टोत्पन्न होने से दुष्ट गुण-कर्म स्वभाव वाले होते हैं । चाहे वे किसी भी वर्ण में हों 'कलुषयोनिज' ही कहलायेंगे ।

१४. मनु और वेद —

मनु ने वेदों को अपौरुषेय मानते हुए उनको अपनी स्मृति का और धर्म का मूलस्रोत माना है । उन्हें पढ़ने का मानवमात्र को अधिकार है और प्रत्येक स्थिति में वे पठनीय है (इस विषयक विस्तृत विवेचन द्वितीय अध्याय में 'वेद विरोध' शीर्षकान्तर्गत देखिए) ।

चतुर्थ अध्याय

[मनुस्मृति में अध्यायविभाजन, प्रकरण एवं वर्णाश्रमधर्मवर्णन पद्धति]

१. मनुस्मृति में अध्याय-विभाजन मौलिक नहीं —

मनुस्मृति में अध्यायों का विभाजन मौलिक अर्थात् मनुकृत नहीं है अपितु परवर्तीकाल में किसी ने किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि मनुस्मृति-परम्परा के ही किसी व्यक्ति ने सुविधा की दृष्टि से मनुस्मृति को अपने ढंग से व्यवस्थापित किया और उसमें कुछ परिवर्तन-परिवर्धन भी किये। आजकल प्राप्त होने वाली सभी प्रतियां अध्यायों में विभक्त मिलती हैं। यह मनुस्मृति का वास्तविक रूप नहीं है। इससे यह स्पष्ट होता है कि मनुस्मृति का यह विभाजन भी काफी पहले हो चुका था। अत्यन्त प्राचीन होने के कारण ही मनुस्मृति की प्रति अध्याय रहित रूप अर्थात् मौलिक स्वरूप में नहीं मिलती। अध्याय-विभाजन करने वाले व्यक्ति से मनुस्मृति के अध्याय-विभाजन में दो स्थानों पर भूल हुई है। अध्याय-विभाजन पूर्णतः निर्भ्रान्त या उचित नहीं है। आश्चर्य तो यह है कि आज तक किसी भी विद्वान् का ध्यान इस त्रुटि की ओर नहीं गया, वही गलत अध्याय-विभाजन प्रचलित रहता रहा है। इन त्रुटियों का विवेचन करने से पूर्व अध्याय-विभाजन की अमौलिकता पर चर्चा कर लेना उपयोगी होगा।

मनुस्मृति की रचना-शैली ही यह सिद्ध करती है कि उसमें अध्याय-विभाजन की गुंजाइश नहीं है। मनुस्मृति की प्रवचन-शैली है, और ये सभी प्रवचन श्रृंखला की कड़ियों के समान जुड़े हुए हैं। मूलतः इस शैली में न तो अध्याय-विभाजन हो सकता है और न उसकी आवश्यकता सिद्ध होती है। अध्याय विभाजन इसलिए भी नहीं हो पाता कि मनु जिस किसी भी विषय या प्रसंग को प्रारम्भ करते हैं, उसके प्रारंभ, अन्त अथवा दोनों स्थलों पर उस विषय का संकेत देते हैं। अधिकांश संकेत-स्थलों पर ऐसा है कि उसी श्लोक की एक पंक्ति में पूर्व विषय की समाप्ति का संकेत है और दूसरी में ही अगले विषय के प्रारंभ होने का संकेत। कुछ स्थानों पर तो श्लोक के एक पाद में एक विषय के आरम्भ या समापन का संकेत है और शेष तीन पादों में दूसरे विषय के आरम्भ या समापन का संकेत, यथा —

(अ) तृतीय अध्याय का अन्तिम २८६वां श्लोक है —

> एतद्वोऽभिहितं सर्वं विधानं पाञ्चयज्ञिकम्।
> द्विजातिमुख्यवृत्तीनां विधानं श्रूयतामिति ॥ [३।२८६॥]

अर्थ — यह पांच महायज्ञों का समस्त विधान आपको बताया और अब द्विजातियों की मुख्य आजीविकाओं का विधान सुनिए।

यहां पहली पंक्ति में 'पञ्चयज्ञविधान' विषय की समाप्ति का संकेत है और दूसरी ही पंक्ति में द्विजातियों की वृत्तियों के विषय को प्रारम्भ करने का संकेत किया है।

(आ) इसी प्रकार निम्न श्लोक की प्रथम पंक्ति में राजधर्म विषय की समाप्ति का संकेत है और द्वितीय में वैश्य-शूद्रों के कर्त्तव्यों को प्रारम्भ करने का —

> एषोऽखिलः कर्मविधिरुक्तो राज्ञः सनातनः।
> इमं कर्मविधिं विद्यात् क्रमशो वैश्य शूद्रयोः ॥ [७।३२४॥]

अर्थ — यह राजा की सनातन और सम्पूर्ण कार्य करने की विधि कही । अब वैश्यों और शूद्रों की कर्मविधि को आगे वर्णित रूप में जानें ।

(इ) निम्न श्लोक में पूर्व के तीन पादों में पूर्व कहे चतुर्विध-कर्म के विषय की समाप्ति का संकेत है और अन्तिम एक पाद में अगले विषय को प्रारम्भ करने का --

एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विध: ।
पुण्योऽक्षयफल: प्रेत्य राज्ञां धर्मं निबोधत ।। [६।९७।।]

अर्थ — यह चार प्रकार का आश्रम-धर्म आप से कहा । इस धर्म के पालन करने से पुण्य तथा मरकर मोक्ष पद की प्राप्ति होती है । अब इसके आगे राजाओं के कर्त्तव्य-कर्मों को सुनिए ।

इससे यह स्पष्ट होता है कि इस शैली में अध्याय-विभाजन अभीष्ट नहीं है,और जब पूर्वापर विषय का साथ-साथ संकेत होता रहता है तो अध्यायानुसार बांटने की आवश्यकता भी नहीं रहती । मनुस्मृति की रचना-शैली अखण्ड है । यदि हम अध्याय-विभाजन करते हैं तो या तो श्लोक को तोड़ना पड़ेगा या दूसरे विषय की संकेतिक पंक्ति पहले अध्याय में ही रखनी पड़ेगी जैसे कि प्रचलित संस्करणों में रखी हुई है । एक विषय,पूर्व विषय के साथ,जो श्रृंखला की कड़ी के समान जुड़ा हुआ है यही यह सिद्ध करता है कि रचयिता को मूलत: अध्याय-विभाजन अभीष्ट नहीं था । अत: यह माना जाना चाहिये कि मनुस्मृति की आरंभिक प्रतियां उस अखण्ड शैली में ही रही होंगी । अध्याय-विभाजन हो जाने पर वह परम्परा बंद हो गई और अध्यायों में विभाजित रूप चल पड़ा ।

अध्यायों का विभाजन सुविधा के लिए किया गया और इसमें सुविधा है भी, अत: उसे हम भी परिवर्तित नहीं करना चाहते । किन्तु, उसमें प्रथम और नवम अध्याय के विभाजन में त्रुटि हुई है और अष्टम अध्याय के विभाजन में भ्रान्ति, इनका निवारण करना आवश्यक है । नवम अध्याय में भी कुछ परिवर्तन किया गया है ।

(क) प्रथम और द्वितीय अध्यायों के विभाजन में परिवर्तन —

अध्याय-विभाजनकर्त्ता ने मुख्य विषयों के अनुसार अध्यायों का विभाजन किया प्रतीत होता है । प्रत्येक अध्याय में एक-दो मुख्य विषय हैं, जैसे प्रथम अध्याय में — सृष्ट्युत्पत्ति एवं धर्मोत्पत्ति द्वितीय अध्याय में — संस्कार एवं ब्रहमचर्याश्रम, तृतीय में — विवाह एवं पञ्चयज्ञविधान, आदि । किन्तु प्रथम अध्याय का विभाजन गलत हुआ है, वह द्वितीय अध्याय के पच्चीसवें श्लोक के पश्चात होना चाहिये । यतोहि —

(अ) मनुस्मृति के प्रथम अध्याय के मुख्य दो विषय हैं — सृष्ट्युत्पत्ति और धर्मोत्पत्ति । दोनों की पारस्परिक सम्बद्धता के कारण मनु ने इन दोनों विषयों को एक ही मानकर वर्णित किया है । १ । २ में महर्षियों ने मनु से वर्ण एवं आश्रमों के धर्मों का कथन करने की प्रार्थना की थी । धर्मों का कथन करने से पूर्व धर्म-सम्बन्धी अन्य आवश्यक जानकारी का भी भूमिका के रूप में कथन करना आवश्यक था । १ । ४-५ से मनु ने सृष्टि-उत्पत्ति का विषय प्रारम्भ किया और फिर १ । १०८ से तथा २ । १ धर्म का प्रसंग प्रारंभ किया । यह क्रम इसलिए अपनाया क्योंकि धर्मोत्पत्ति जगदाश्रित है । इस दृष्टि से मनु ने पहले सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन किया । २ । २५ में यह संयुक्त विषय समाप्त होता है । वहां मनु स्वयं संकेत देते हैं —

एषा धर्मस्य वो योनि: समासेन प्रकीर्तिता ।
संभवश्चास्य सर्वस्य वर्णधर्मान्निबोधत ।।

अर्थ — यह धर्म जानने के समस्त कारणों को संक्षेप में वर्णन कर दिया और इस जगत् की उत्पत्ति का भी वर्णन किया। अब वर्णों के धर्मों को सुनिए।

जब मनु ने इस विषय का समापन एक साथ किया है, तो स्पष्ट है कि इस विषय को खण्डित करना गलत है। इस विषय की समाप्ति के बाद ही प्रथम अध्याय की समाप्ति होनी चाहिए। वर्तमान संस्करणों में १ । ११९ वें श्लोक पर ही अध्याय समाप्त करना, उक्त संकेतक श्लोक के विरुद्ध है।

(आ) परम्परागत अध्याय-विभाजन में एक और त्रुटि यह है कि इसमें धर्म के प्रसंग को भी भंग कर रखा है। १ । ८७-९१ श्लोकों में वर्णों के कर्मविभाजन के साथ ही सृष्ट्युत्पत्ति का प्रसंग पूर्ण हो जाता है, और फिर १ । १०८-११० श्लोकों में धर्म की चर्चा भूमिका के रूप में की गई है, फिर २ । १ में **'यो धर्मस्तं निबोधत'** कहकर धर्मोत्पत्ति का प्रसंग प्रारम्भ किया गया है। अध्याय-विभाजनकर्त्ता ने धर्म की भूमिका के १ । १०८-११० श्लोकों को तो प्रथम अध्याय में रख दिया और धर्मोत्पत्ति विषय द्वितीय अध्याय में आ गया। इस प्रकार प्रंसगभंग हो गया और विभाजित भी हो गया।

(इ) धर्म का विषय द्वितीय अध्याय में परिगणित होने से, मुख्यविषयों के अनुसार, अध्याय-विभाजन का वैज्ञानिक आधार भी नहीं बनता। इस प्रकार द्वित[illegible] अध्याय में खण्डित विषय धर्मोत्पत्ति संस्कार और ब्रहमचर्याश्रम ये कई विषय हो जाते [illegible]।

इन त्रुटियों को देखते हुए प्रथम अध्याय का विभाजन २ । २५ के पश्चात् ही होना चाहिए। इसमें प्रथम अध्याय का एक मुख्य और पूर्ण विषय होगा — सृष्ट्युत्पत्ति एवं धर्मोत्पत्ति; तथा द्वितीय अध्याय का विषय रहेगा — संस्कार एवं ब्रहमचर्याश्रम। इस प्रकार करने से धर्म का प्रसंग तथा मुख्य विषय खण्डित नहीं होंगे और मनुस्मृति की संकेत शैली के अनुरूप अध्याय का विभाजन होगा।

इसीलिए हमने मनुसम्मत विधि के अनुसार २ । २५ वें के पश्चात् ही प्रथम अध्याय का विभाजन किया है। इन २५ श्लोकों को प्रथम अध्याय में ही परिगणित कर लिया है। इस प्रकार प्रथम अध्याय के श्लोक बढ़कर १४४ हो गये हैं और द्वितीय अध्याय से २५ घट गये हैं। इस संस्करण में श्लोकों की संख्या इसी ढंग से दी गई है।

(ख) अष्टम अध्याय के विभाजन में भ्रान्ति —

अष्टम अध्याय के विभाजन में जो त्रुटियां एवं भ्रान्तियां हुई हैं, वे ये हैं —

(अ) अष्टम अध्याय का विषय है — राजधर्म के अन्तर्गत 'अठारह प्रकार के व्यवहारों (मुकद्दमों) का निर्णय'। ८ । ४-७ श्लोकों में इनको एक-एक करके गिनाया भी है। ८ । १-३ श्लोकों में इस विषय को प्रारम्भ करने का संकेत है और ९ । २५० में इस विषय को संकेतपूर्वक समाप्त किया है —

उदितोऽयं विस्तरशो मिथो विवदमानयोः ।
अष्टादशसु मार्गेषु व्यवहारस्य निर्णयः ।।

अर्थ — यह परस्पर विवाद करने वालों के १८ प्रकार के मुकद्दमों के निर्णय का विस्तृत वर्णन किया गया।

लेकिन अध्याय-विभाजनकर्त्ता ने अष्टम अध्याय का विभाजन करते समय इस एक विषय को खण्डित कर दिया है। अठारह व्यवहारों में से पन्द्रह व्यवहार (स्त्री-संग्रहण तक) तो आठवें अध्याय

में चले गये। इस प्रकार इन अध्यायों का विभाजन मनु की विषय-संकेत-शैली के विरुद्ध है।

(आ) अध्याय-विभाजन करने वाले अथवा किसी परवर्ती व्यक्ति को, ८।४१९ पर अध्याय-विभाजन करते समय यह भ्रान्ति हो गई है कि यहाँ व्यवहार-निर्णय का विषय समाप्त हो गया है। और उसने देखा कि यहां विषय-समाप्ति-सूचक कोई श्लोक भी नहीं है,इसलिए उसने अपनी ओर से यह श्लोक रचकर मिला दिया —

एवं सर्वानिमान् राजा व्यवहारान्समापयन्।
व्यपोह्य किल्विषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम्॥ [८।४२०॥]

अर्थ — इस प्रकार राजा इन पूर्वोक्त समस्त विवादों को समाप्त कराकर सब प्रकार के दोषों को दूर कर देता है और उत्तम गति को प्राप्त करता है।

प्रक्षेपक को यहां भ्रान्ति हुई है, यहां व्यवहार समाप्त नहीं हुए हैं,अपितु अभी तीन व्यवहार नवम अध्याय में शेष हैं। जब वे पूर्ण हो गये, तब मनु ने अपना समाप्ति—सूचक ९।२५० श्लोक भी दिया है। उक्त श्लोक मनु की शैली के अनुसार भी उपयुक्त सिद्ध नहीं होता। सभी संस्करणों में इसी प्रकार विषय—समाप्ति की जा रही है। आश्चर्य है कि इस भ्रान्ति की ओर अभी तक विद्वानों का ध्यान नहीं गया है।

इस भ्रान्ति की पुष्टि एक और भ्रान्ति से भी होती है —

(इ) यह है विषय-सूची बनाने वाले की। विषय-सूची चाहे अध्यायविभाजनकर्त्ता ने बनायी है अथवा किसी अन्य परवर्ती ने; उसे मुख्य और गौण विषयों का सम्यक् ज्ञान नहीं था। 'व्यवहार-निर्णय' राजधर्म के अन्तर्गत एक मुख्य और विस्तृत विषय है, फिर उसके अठारह गौण विषय हैं। किन्तु विषयसूची के श्लोकों को देखकर लगता है कि विषयसूची के निर्माता को 'व्यवहार-निर्णय' एक भिन्न विषय लगा है, जो आठवें में पूर्ण हुआ मान लिया,और नवम अध्याय में शेष तीन व्यवहारों को स्वतन्त्र विषय मानकर पृथक्-पृथक् विषय के रूप में वर्णित कर दिया —

राज्ञश्च धर्ममखिलं कार्याणां च विनिर्णयम्॥ [१।११४॥]
साक्षिप्रश्नविधानं च धर्मं स्त्रीपुंसयोरपि।
विभागधर्मं द्यूतं च कण्टकानां च शोधनम्॥ [११५॥]

अर्थ — (आठवें अध्याय में) साक्षियों के प्रश्नों का विधान, (नवम अध्याय में) पति-पत्नी के धर्म, विभागधर्म, जुए सम्बन्धी, और कण्टकभूत दोषों के दूरीकरण सम्बन्धी बातों का वर्णन है। (सातवें अध्याग में) राजा के सब धर्म तथा (८ वें अध्याय में) सब कार्यों (मुकदमों) का निर्णय कहा है।

'साक्षिप्रश्नविधान' 'स्त्रीपुरुषधर्म' 'विभागधर्म' और 'द्यूत' विषय व्यवहार-निर्णय के अन्तर्गत ही आने वाले विषय हैं, पृथक् नहीं। शायद बीच में खण्डित हो जाने के कारण यह भ्रान्ति हुई है। वस्तुतः सप्तम, अष्टम और नवम अध्यायों में राजधर्म ही वर्णित हैं, और ये ७।१ से प्रारम्भ होकर ९।३२५ में समाप्त हैं। उसके पश्चात् वैश्य और शूद्र के कुछ कर्मों का वर्णन है।

(ग) नवम अध्याय के विभाजन पर विचार —

वर्तमान में उपलब्ध मनुस्मृतियों में नवम अध्याय में ३३६ श्लोक उपलब्ध होते हैं। सप्तम, अष्टम और नवम अध्याय के ३२५ श्लोक तक राजनीति का विषय है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि मनुस्मृति का अध्याय-विभाजन भी प्रकरणानुसार हुआ है, किन्तु कुछ अध्यायों के विभाजन

में विभाजनकर्त्ता द्वारा भूलें हुई हैं । प्रकरण को समझे बिना अध्याय-विभाजन कर दिया है । इसी प्रकार इस अध्याय में भी भूल हुई है । विषय के साथ ९ । ३२६ से ९ । ३३६ श्लोक जिनमें वैश्य-शूद्रों के कर्त्तव्यों का वर्णन है, जोड़ दिये हैं । इनके साथ ही चातुर्वर्ण्यधर्म [२ १४४ (२ । २५) से ९ । ३३६ तक] समाप्त हो जाते हैं और फिर दशम अध्याय में चातुर्वर्ण्यधर्म का उपसंहार है । क्योंकि वैश्य-शूद्र-धर्मवर्णन के ग्यारह श्लोकों के प्रकरण का कोई एक अध्याय उपयुक्त नहीं जंचता, अत : हमने इन श्लोकों को दशम अध्याय में उपसंहार-वर्णन के साथ सम्मिलित कर दिया है । ९ । ३२५ श्लोक के कथनानुसार यहीं इस राजधर्मात्मक अध्याय को समाप्त कर दिया है ।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या इसके अध्यायों का विभाजन नये सिरे से किया जाये अथवा प्रक्षिप्त श्लोकों के संशोधन के साथ इसे प्रचलित रूप में स्वीकार कर लिया जाये ? इस के उत्तर में यही विचार किया गया है कि प्रधानत : प्रचलित को ही रखलिया जाये । क्योंकि, इसके परिवर्तन से कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ेगा और आठवाँ अध्याय अत्यन्त विस्तृत हो जायेगा, उसमें लगभग सात-सौ श्लोक हो जायेंगे,जबकि नवम में १०-११ ही रह जायेंगे । अत : इन भ्रान्तियों की ओर ध्यान दिलाकर इस विभाजन को यथावत् रख लिया गया है । सही बात तो यह है कि मनुस्मृति की शैली के अनुसार अथवा विषयों के अनुसार संतुलित अध्यायों में विभाजन नहीं हो सकता,क्योंकि विषयानुसार अध्याय बांटने में किसी अध्याय में तो ६०० –७०० श्लोक होंगे और किसी में ५० –६०, और अध्यायों की संख्या भी बढ़ जायगी । इसलिए प्रथम और नवम अध्याय को छोड़कर शेष प्रचलित विभाजन को ही स्वीकार कर लिया; जिससे प्रचलित संस्करणों से बहुत अधिक अन्तर न पड़े और श्लोकों को मिलाने में असुविधा का सामना न करना पड़े । यतोहि, वर्तमान में सभी ग्रन्थ और उद्धरण प्रचलित संस्करणों की संख्या के अनुसार ही हैं ।

२. मनुस्मृति के प्रकरण और उनकी सीमा का निर्धारण —

मनुस्मृति को उसकी संकेत-शैली के अनुसार कुछ मुख्य विषयों में अवश्य बांटा जा सकता है । यद्यपि इस प्रकार करने से भी संकेतक श्लोक मुख्यविषय के अनुसार विभाजित होंगे, लेकिन उससे विषय या प्रसंग का ज्ञान होता जायेगा । वैसे छोटे-छोटे प्रसंग भी मनुस्मृति में अनेक हैं, उनकी गणना की जाये तो पूरी विषयसूची तैयार हो जायेगी, इसलिए यहां उनका उल्लेख करना विस्तारभय से संभव नहीं है । मुख्य या स्वतन्त्र विषयों का विभाजन निम्न प्रकार किया जा सकता है —

मुख्यविषय का नामकरण	श्लोक सीमा
१. भूमिका	१ । १ से १ । ४ तक
२. सृष्ट्युत्पत्ति एवं धर्मोत्पत्ति	१ ।५ से २ । २५ तक (इस प्रकाशन में १ । ५ से १४४ तक)
३. संस्कार	२ । २६ से २ । ६८ तक (इसमें २ । १ से २ । ४२)
४. ब्रह्मचर्याश्रम	२ । ६९ से २ । २४९ तक (इसमें २ । ४५ से २ । २२४ तक)
५. गृहस्थान्तर्गत विवाह	३ । १ से ३ । ६६ तक
६. गृहस्थान्तर्गत पञ्चयज्ञविधान	३ । ६७ से ३ । २८६ तक
७. गृहस्थान्तर्गत वृत्तियां	४ । १ से ४ । १३ तक

८.	गृहस्थान्तर्गत स्नातकों के व्रत	४ । १४ से ४ । २६० तक
९.	गृहस्थान्तर्गत भक्ष्याभक्ष्य	५ । १ से ५ । ५६ तक
१०.	गृहस्थान्तर्गत शुद्धिविषय	५ । ५७ से ५ । १४६ तक
११.	गृहस्थान्तर्गत स्त्रीधर्म	५ । १४७ से ५ । १६९ तक
१२.	वानप्रस्थाश्रम	६ । १ से ६ । ३२ तक
१३.	संन्यासाश्रम	६ । ३३ से ६ । ९७ तक
१४.	राजधर्मान्तर्गत राजा की सिद्धि और कर्त्तव्य	७ । १ से ७ । २२६ तक
१५.	राजधर्मान्तर्गत १८ प्रकार के व्यवहारों=मुकद्दमों का निर्णय	८ । १-३ से ९ । २५० तक
१६.	राजधर्मान्तर्गत लोककण्टकों का निवारण	९ । २५१-२५२ से ९ । ३२५ तक
१७.	वैश्य-शूद्रों के कर्त्तव्य	९ । ३२६ से ९३६ तक (१०।१ से १०।८)
१८.	उपसंहार	१० । १ से १० । १३१ तक
१९.	प्रायश्चित्त-विधान	११ । ४४ से ११ । २६५ तक
२०.	कर्मफलविधान	१२ । १ से १२ । ८२ तक
२१.	कर्मफलविधानान्तर्गत निःश्रेयस्कर कर्मों का वर्णन	१२ । ८३ से १२ । ११६ तक

हमने प्रचलित अध्यायों के विभाजन को रखते हुए,इन मुख्य विषयों के शीर्षक तथा विषय की अवधि भी साथ-साथ दिखा दी है । इसके अतिरिक्त मनु के संकेतानुसार अवान्तर विषयों के भी शीर्षक दे दिये हैं । इससे विषय या प्रसंग के परिज्ञान में सरलता होगी ।

३. मनुस्मृति में वर्णों और आश्रम धर्मों के वर्णन की पद्धति —

मनुस्मृति में वर्णों और आश्रमों के धर्मों का छठे अध्याय की समाप्ति तक साथ-साथ वर्णन चलता है । विषयसंकेतक श्लोक के '**वर्णधर्मान्निबोधत** [१ । १४४ (२ । २५)] और उपसंहारात्मक ''**एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः**'' [६ । ९७] पदों को पढ़कर यह जिज्ञासा होती है कि मनु से प्रश्न वर्णों और आश्रमों [१ । २] दोनों का किया था,फिर विषय-संकेतक श्लोकों में केवल वर्णधर्म की ही बात क्यों कही ? इसका समाधान मनु-शैली और अन्य श्लोकों से हो जाता है । उसे इस प्रकार समझना चाहिए —

(१) मनुस्मृति की यह शैली है कि उसमें आश्रमों के धर्म,वर्णों के साथ-साथ चलते हैं । वर्णों के सुदीर्घ विषय के अन्तर्गत ही आकर वे छठे अध्याय में ब्राह्मण वर्ण के धर्मों के साथ-साथ ही समाप्त हो जाते हैं । और छठे अध्याय में आश्रमधर्मों की पूर्णता के साथ-साथ ब्राह्मण वर्ण के धर्म और व्यावहारिक कर्त्तव्य भी पूर्ण हो जाते हैं । छठे अध्याय तक के चारों आश्रमों के धर्म और व्यावहारिक कर्त्तव्य सभी द्विजों के लिए एक सदृश पालनीय हैं । जो विधान इन अध्यायों में कहे हैं, ब्राह्मण के वही धर्म-कर्म हैं [१ । ८८] ।

उसके पश्चात् शेष वर्णों के व्यावहारिक कर्त्तव्यों का कथन —'क्षत्रियों' के लिए सप्तम, अष्टम अध्याय और नवम के ३२५ वें श्लोक तक पूर्ण होता है । वैश्यों का ९ । ३२६ से ३३३ [इस

संस्करण में १० । १ से १० । ८ तक] तथा शूद्र के कर्त्तव्यों का कथन ९ । ३३४-३३५ [इस संस्करण में १० । ९-१० तक] पूर्ण हो जाता है ।

(२) इस मध्य, द्वितीय अध्याय में ब्रह्मचर्याश्रम, तृतीय से पञ्चम अध्यायों में गृहस्थाश्रम, षष्ठ में वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम का वर्णन है । आश्रमधर्मों को वर्णधर्मविषय के अन्तर्गत मानकर उन-उन विषयों के प्रसंगसंकेतक श्लोकों तथा उपसंहारात्मक श्लोकों से उसका कथन भी किया है [२ । ४३ (२ । ६८), २ । २२४ (२ । २४९), ३ । २, ६७, २८६, ४ । १, २५९, ५ । १६९, ६ ।१ ३३, ८७-९०] आदि ।

(३) इसी प्रकार इन अध्यायों में 'द्विज,' 'विप्र', 'ब्राह्मण' शब्दों का स्थान-स्थान पर पर्यायवाचीरूप में प्रयोग है

(४) मनु ने संभवत : इसी शैली के अनुरूप १ । २ और १ । १३७ [२ । १८] में आश्रम के लिए पर्यायवाची रूप में 'अन्तरप्रभव' और 'सान्तराल' शब्दों का प्रयोग किया है, इसका अर्थ बनता है — '**वर्णानाम् अन्तरे प्रभव :=उत्पत्ति :=स्थिति : येषां ते अन्तरप्रभवा : = आश्रमा :** ।' इसी शैली के अनुरूप आश्रमों का वर्णधर्मों के अन्तर्गत ही कथन है । यही मनु की शैली है ।

पंचम अध्याय

[महर्षि दयानन्द और मनुस्मृति तथा उनके द्वारा प्रक्षेपनिर्देशन]

१. महर्षि दयानन्द द्वारा मनुस्मृति का गौरव बढ़ाना —

यद्यपि मनुस्मृति को अपने रचना-काल से ही सर्वोत्कृष्ट और प्रामाणिक धर्मशास्त्र के रूप में मान्यता प्राप्त है ; किन्तु आधुनिक काल में मनुस्मृति की न तो पूर्वसदृश प्रतिष्ठा ही रह गयी है और न पूर्ववत् अकाट्य प्रामाणिकता । प्रक्षेपों से विकृत और गदली हो जाने के कारण मनुस्मृति का गौरव विनष्ट हो रहा था । महर्षि-दयानन्द ने उस गौरव की रक्षा की और उसे बढ़ाया । सर्वप्रथम, मनुस्मृति के प्रक्षेपों से विकृत स्वरूप की ओर संकेत करके लोगों का यह दृष्टिकोण बदला कि 'उपलब्ध गदला रूप मनुस्मृति का वास्तविक रूप है', और यह भी बताया कि इसमें अनेक प्रक्षेप हुए हैं ; प्रक्षेपों से रहित मनुस्मृति ही मान्य और अनुकरणीय है । फिर उसे आर्ष और प्रामाणिक घोषित किया तथा उसकी वेदानुकूलता की पुष्टि की । काशी-शास्त्रार्थ में महर्षि-दयानन्द ने कहा था —

''**मनुस्मृत्यादीन्यपि वेदमूलानि सन्ति, तस्मात्तेषामपि प्रामाण्यमस्ति न तु वेदविरुद्धानां वेदाप्रसिद्धानां चेति ।**''

अर्थात् — मनुस्मृति आदि भी वेदमूलक हैं, इससे इनका भी प्रमाण है । क्योंकि जो-जो वेदविरुद्ध और वेदों से असिद्ध हैं, उनका प्रमाण नहीं होता ।

(द. शा. सं. पृ. २१)

महर्षि-दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में मनुस्मृति के ५१४ श्लोकों या श्लोक-खण्डों को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है; एवं बहुत सारे श्लोकों के भावों को ग्रहण किया है । इससे ही यह सिद्ध होता है कि महर्षि-दयानन्द की मनुस्मृति के प्रति गहरी निष्ठा थी और वे उसे प्रामाणिक आर्ष ग्रन्थ मानते थे । इतने अधिक प्रमाण उद्धृत करके उन्होंने यह संकेत कर दिया कि धर्मप्रमाण में मनुस्मृति का महत्त्वपूर्ण स्थान है और उसे छोड़ा नहीं जा सकता । महर्षि ने वेदों के बाद यदि किसी शास्त्र के सर्वाधिक प्रमाण दिए हैं, तो वह मनुस्मृति ही है । महर्षि ने अपनी समस्त वैदिक मान्यताओं की व्याख्या मनुस्मृति के श्लोकों से की है । मनुस्मृति के सम्बन्ध में जो मिथ्या भ्रान्तियाँ फैल चुकी थीं, महर्षि ने उन सबका उत्तर वेद के प्रमाणों से दिया और मनुस्मृति का परिमार्जित तथा उज्ज्वल स्वरूप हमारे समक्ष रखा । इस शास्त्र से महर्षि की तथा महर्षि से इस शास्त्र की प्रतिष्ठा चहुँ ओर फैल गई । असंख्य मत-मतान्तरों के प्रबल झंझावात के घोर अन्धकार तथा वेग के सामने अविचल तथा निर्भय रहने का महर्षि को जहां अदम्य साहस परमेश्वर की उपासना से, ज्ञान की ज्योति वेद-ज्ञान से, तथा तर्कशक्ति दर्शनों के गहन अध्ययन से मिली थी, वहां महर्षि के मनोबल को बढ़ाने वाला यह धर्मशास्त्र ही था । महर्षि जो वैदिक-वाङ्मय का मन्थन कर सके, तदर्थ कुशाग्रबुद्धि तथा तर्कणा शक्ति को देने वाला यही परमोपयोगी धर्मोपदेश था । अन्य मतों की धज्जियाँ उड़ाने तथा अन्धविश्वास का समूल उन्मूलन करने का धैर्य '**यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मो वेद नेतरः**' [मनु. १२ । १०६] इत्यादि मनु के सत्य-वचनों ही से प्राप्त हुआ था । महर्षि ने 'जो ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्य के विषय में 'वेदानुकूल को प्रामाणिक तथा वेद-प्रतिकूल को अप्रामाणिक' मानने की मान्यता प्रस्तुत की है; इसका भी मूलाधार मनुस्मृति ही है । महर्षि ने काशी शास्त्रार्थ में सत्य ही कहा था — ''जो-जो मनु ने कहा है, सो-सो औषधों का औषध है ।''

महर्षि-दयानन्द द्वारा अत्यधिक प्रमाणों को उद्धृत–गृहीत किये जाने पर, धर्म-निर्णय के सन्दर्भ में मनुस्मृति की चर्चा पुन: बढ़ी और सभी वर्गों के लोगों का ध्यान इसकी ओर आकृष्ट हुआ। इस प्रकार महर्षि-दयानन्द ने आधुनिक युग में मनुस्मृति के गौरव को पुनरुज्जीवित किया है।

महर्षि दयानन्द ने मनुस्मृति की वैदिक मान्यताओं को ही नहीं स्वीकार किया, प्रत्युत मनु की वर्णन-शैली को भी उपादेय समझकर ग्रहण किया है। मनु की यह शैली है कि वे किसी भी विषय का वर्णन करने से पूर्व तथा अन्त में भी निर्देश अवश्य करते हैं। महर्षि ने भी सत्यार्थप्रकाशादि में इस शैली को अपनाकर आदि तथा अन्त में विषयों का निर्देश किया है। इसी प्रकार, जैसे मनु ने प्रथम ब्रह्मचर्य, गृहस्थादि के धर्मों का वर्णन क्रमश: किया है, वैसे ही महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश में प्रथम ब्रह्मचर्यआश्रम के नियमों, शिक्षणविधि तथा पठन-पाठन, गृहस्थ आदि का वर्णन किया है।

२. महर्षि के अर्थ एवं भावों का ग्रहण —

महर्षि ने वेदानुकूल मान्यताओं को परखा और उन्हें प्रस्तुत किया। उनकी पुष्टि के लिए उन्होंने अपने ग्रन्थों में मनुस्मृति के लगभग ५१४ श्लोकों या श्लोकखण्डों को उद्धृत किया है। अनेक श्लोकों के केवल भाव ग्रहण किये हैं। अपने ग्रन्थों में महर्षि ने मनुस्मृति के जिस-जिस श्लोक का भाष्य किया है, उस श्लोक पर महर्षि का भाष्य देदिया गया है, शेष श्लोकों पर मेरा भाष्य है। जहां महर्षि का भाव मिला, वहां मैंने अपने भाष्य के नीचे उनका भाव भी दे दिया है, ताकि एक ऋषि की मान्यता को ऋषि के भाव से, अधिक गाम्भीर्य पूर्वक समझा जा सके। एक ऋषिकृत ग्रन्थ पर ऋषि का भाष्य हो जाने से 'सोने में सुगन्ध' वाली कहावत चरितार्थ हो जाती है, और उसका महत्त्व भी कई गुणा बढ़ जाता है।

महर्षि के श्लोकों के अर्थ में वैशिष्ट्य है, और गाम्भीर्य है। उन्होंने मनु की मूल भावना को समझा है। इस प्रसंग में एक प्रमाण देना पर्याप्त होगा। मनु का निम्न श्लोक जितना प्रसिद्ध है उसका अर्थ उतना ही अव्यावहारिक रूप में प्रसिद्ध है —

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला: क्रिया:।। [३।५६]

यहां सभी टीकाकारों ने यह अर्थ किया है — 'जहां नारियों की पूजा होती है, वहां देवता रमण करते हैं।' इस प्रकार अदृश्य देवताओं की कल्पना की गयी है। इस कल्पना से इसका अर्थ अविश्वसनीय, अव्यावहारिक, असंगत एवं हास्यास्पद बन गया। किन्तु महर्षि ने 'देवता:' का निरुक्त शास्त्र के आधार पर अर्थ ग्रहण करते हुए कहा है कि **'जिस घर में नारियों की पूजा अर्थात् सत्कार होता है, वहां देवता अर्थात् दिव्यगुण, दिव्यलाभ, दिव्यसन्तानें, दिव्यभोग आदि प्राप्त होते हैं।'** यह प्रत्यक्ष देखा भी जाता है कि जिस घर में नारियाँ सत्कृत और प्रसन्न रहती हैं, उस घर का वातावरण अनेक सुखों से भरा-पूरा होता है। कितना व्यावहारिक और प्रासंगिक अर्थ है! (विस्तृत विवेचन भाष्य में यथास्थान देखिए)।

इस भाष्य में, श्लोकों पर महर्षि दयानन्द के ३४२ अर्थ उद्धृत किये हैं और ८० श्लोकों पर केवल भाव उद्धृत किया है। इस प्रकार ४२२ श्लोकों पर ऋषि के अर्थ और भाव हैं। महर्षि के जो अर्थ या भाव अक्षरश: उद्धृत किये हैं, उन पर उद्धरणचिह्न अंकित हैं। अर्थों में श्लोकों के मूल पद महर्षि के नहीं हैं, अपितु पदार्थ सुविधा और भाष्य की एकरूपता के लिए लेखक की ओर से संयुक्त किये

हैं । महर्षि के अर्थ या भाव में यदि कोई बृहत्कोष्ठक में शब्द है तो वह भी लेखक की ओर से ही रखा गया है, महर्षि का नहीं है ।

महर्षि के अर्थों की अक्षुण्णता बनी रहे, इसका भी ध्यान रखा गया है । अपने ग्रन्थों में श्लोकों का अर्थ या भाव देते समय यदि महर्षि ने किसी पद को छोड़ा हुआ है, तो इस भाष्य में उस स्थान पर टिप्पणी के चिह्न देकर उनके अर्थ के ठीक बाद वह पद देकर मैंने उसका अर्थ कर दिया है । पाठक भाष्य पढ़ते समय उसे उस स्थान पर संयुक्त करके अर्थ को समझ लें ।

३. सर्वप्रथम प्रक्षेप-निर्देशक —

यह श्रेय भी सर्वप्रथम महर्षि-दयानन्द को ही जाता है कि उन्होंने प्राचीन ग्रन्थों में हुए प्रक्षेपों को पहचाना और उनका संकेत दिया । यों तो मेधातिथि, कुल्लूकभट्ट आदि ने भी पाठभेद के रूप में प्राप्त श्लोकों को प्रक्षिप्तरूप में दर्शाया है, किन्तु निहित स्वार्थी प्रवृत्तियों से हुए प्रक्षेपों की ओर सबसे पहले महर्षि-दयानन्द ने ही ध्यान आकृष्ट किया और इस दृष्टि से कुछ प्रक्षिप्त श्लोकों को पृथक उद्धृत भी किया तथा प्रक्षिप्त श्लोकों को निकालने की प्रेरणा भी दी । मनुस्मृति में हुए प्रक्षेपों के बारे में उन्होंने अपने उपदेशों व ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर उल्लेख किये हैं, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं —

(क) "अब मनु जी का धर्मशास्त्र कौन-सी स्थिति में है, इसका विचार करना चाहिए । जैसे ग्वाले लोग दूध में पानी डालकर उस दूध को बढ़ाते हैं और मोल लेने वालों को फंसाते हैं, उसी प्रकार मानवधर्मशास्त्र की अवस्था हुई है । उसमें बहुत-से दुष्ट क्षेपक श्लोक हैं, वे वस्तुतः भगवान् मनु के नहीं हैं ।"

(पू. प्र. पृ. ९१)

(ख) "एक दिन स्वामी जी यह उपदेश दे रहे थे कि वर्णभेद गुण पर निर्भर है, न कि जन्म पर; और अपने कथन की पुष्टि में मनुस्मृति के कुछ श्लोक पढ़ रहे थे, इस पर एक मनुष्य ने कहा कि मनुस्मृति में अन्य श्लोक इसके विरुद्ध भी हैं । स्वामी जी ने उत्तर दिया कि वे प्रक्षिप्त हैं ।"

(द. जी. दे. पृ. ३५७)

कुछ प्रक्षिप्त श्लोकों का स्वग्रन्थों में निर्देश —

(ग) सत्यार्थप्रकाश में निम्न श्लोकों की प्रक्षिप्त रूप में समीक्षा की है —

१. प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसम् . . . . ।। [५ । २७ ।।]

अर्थ — यज्ञ में प्रोक्षण से शुद्ध किए मांस को खावे ।।

२. न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ।। [५ । ५६ ।।]

(पृ. २८३, एकादश समु.)

अर्थ — मांस के खाने, शराब-पीने और शास्त्रविरुद्ध मैथुन (व्यभिचार) में कोई दोष नहीं है । ये सब प्राणियों की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं । इनसे निवृत्त होना अत्यन्त लाभप्रद है ।

३. पुराणानि खिलानि च ।। ३ । २३२ ।। [स. प्र. पृ. ३

(घ) "ब्राह्मण लोगों में विद्या की कमी होती गई और अभिमान बढ़ता गया । . . . . जब देखा कि हमारा मन्त्र चल गया और सब लोग हमारी आज्ञा को मानते हैं; तब उन्होंने अनेक प्रकार के व्रत, उपवास, उद्यापन, श्राद्ध और मूर्तिपूजन आदि वेदविरुद्ध कर्मों में लोगों को चलाना प्रारम्भ कर दिया, जिससे अनायास अपनी आजीविका चल सके । सर्वसाधारण, ब्राह्मणों से विमुख न हो जावें, इसलिए ऐसे-ऐसे श्लोक गढ़े गए —

अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणां दैवतं महत् ।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत् ।।[९ । ३१७ ।।]

अर्थ — ब्राह्मण चाहे विद्वान् हो अथवा मूर्ख, बड़ा देवता है । जैसे अग्नि हवन के लिए हो अथवा न हो, फिर भी बड़ा देवता है ।

श्मशाने चापि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति ।
हूयमानश्च यज्ञेषु भूय एवाभिवर्धते ।।[९ । ३१८ ।।]

अर्थ —तेजस्वी अग्नि का तेज श्मशानों में भी नष्ट नहीं होता है और यज्ञों में हवि को प्राप्त करके तो वह अग्नि अधिक बढ़ जाता है ।

अग्नि के दृष्टान्त से प्रकट किया है कि ब्राह्मण चाहे विद्वान् हो या मूर्ख, वह साक्षात् देवता है । प्राचीन ग्रंथों में इस प्रकार के बनावटी श्लोक डालकर और नवीन रचनाएं करके ब्राह्मणों ने अपनी शक्ति बढ़ाई और मन्वादि स्मृतियों में भी अपने महत्त्व के वाक्य मिला दिए । यथा —

एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्त्तन्ते सर्वकर्मसु ।
सर्वथा ब्राह्मणा : पूज्या : परमं दैवतं हि तत् ।।[९ । ३१९ ।।]

[पू. प्र पृ. १३४]

अर्थ —इस प्रकार चाहे ब्राह्मण कैसे भी अनिष्ट कर्मों मे रत रहें, फिर भी वे सब प्रकार से पूज्य हैं । क्योंकि वह बड़ा देवता है ।

(ङ) ''मनुस्मृति के प्रक्षिप्त श्लोक और उससे पृथक स्मृति ग्रन्थ (अपठनीय हैं)'' ।

(ऋ. भू. ग्रन्थप्रामाण्य.)

उपर्युक्त घोषणा, विद्वान्, आर्षभक्त तथा मत-मतान्तरों के जाल से विमुक्त, स्वार्थहीन, निष्पक्ष, महर्षि-दयानन्द ही कर सके हैं, जिन्होंने वेद-ज्ञान के सूर्यसम प्रकाश में सत्यासत्य का निर्णय कर लिया था । और सत्यासत्य के निर्णय का माप -दण्ड भी हमारे लिए स्पष्ट किया । महर्षि दयानन्द ने प्राचीन शास्त्रों के प्रमाणों के आधार पर बहुत ही स्पष्ट लिखा है कि —

तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्य : ।।[न्यायदर्शन २ । ५७ ।।]

अर्थात् —वह प्रमाण के योग्य नहीं होता, जिसमें मिथ्या बातों का वर्णन, परस्पर विरोधी तथा पुनरुक्त बातों का वर्णन हो ।

ये उद्धरण इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि महर्षि-दयानन्द ने मनुस्मृति के बिगड़े हुए रूप को पहचाना था और उसके सुधार के लिए सर्वप्रथम प्रयास किये थे । इस प्रकार साहित्य के अन्दर होने वाले प्रक्षेपों का निर्देश देने वाले सर्वप्रथम व्यक्ति महर्षि-दयानन्द थे । उनकी इस अभूतपूर्व महत्त्वपूर्ण देन के लिए साहित्य-क्षेत्र के सभी व्यक्तियों को कृतज्ञता अनुभव करनी चाहिए ।

४. महर्षि-दयानन्द द्वारा उद्धृत श्लोकों का प्रक्षेपान्तर्गमन —

महर्षि-दयानन्द द्वारा स्वग्रन्थों में की गई प्रेरणाओं से प्रेरित होकर ही मनुस्मृति के प्रक्षेपों को दूर करने का यह प्रयास किया जा रहा है । यह कहना चाहिए कि महर्षि-दयानन्द के उद्देश्य की पूर्ति करना ही इस कार्य का लक्ष्य है । इससे पूर्व भी आर्यसमाज के कुछ विद्वानों ने मनुस्मृति के प्रक्षेप निकालने के प्रयास किये हैं, किन्तु उनमें कुछ सुनिश्चित आधार न अपनाने के कारण भ्रान्तियाँ एवं दोष रह गये हैं । कुछ एक ने तो महर्षि-दयानन्द द्वारा उद्धृत सम्पूर्ण प्रसंगों को ही प्रक्षिप्त घोषित कर दिया है । बिना किसी आधार के इस प्रकार करना दुस्साहस मात्र कहा जायेगा । कुछ विद्वानों ने

प्रक्षिप्त कोटि में आने वाले विभिन्न श्लोकों को भी मौलिक मानलिया है, जिन्हें हमने सप्रमाण प्रक्षिप्त सिद्ध किया है। हमने जो आधार अपनाये हैं, प्रसंगानुसार उनकी एक बार पुन: चर्चा कर देना उपयुक्त रहेगा। वे ये हैं —

१. विषय-विरोध
. प्रसंग-विरोध
३ अन्तर्विरोध
४. पुनरुक्तियाँ
५. ैली-विरोध
६. अवान्तर-विरोध
७. वेद-विरोध

इस कार्य को करते हुए हमारे सामने भी एक विवशता उत्पन्न हो आई है। उसे स्पष्ट कर देना हम स्वयं आवश्यक समझते हैं। वह यह कि प्रक्षेपों को निकालने को लिए जो 'आधार' हमने निर्धारित किये हैं, उनमें महर्षि दयानन्द द्वारा उद्धृत कुछ श्लोक भी आ गये हैं। महर्षि दयानन्द द्वारा उद्धृत श्लोक कैसे प्रक्षेपान्तर्गत आये हैं, अथवा उन्हें प्रक्षिप्त क्यों स्वीकार किया जा रहा है तथा उन्हें मान लेने पर क्या उलझन पैदा हो जायेगी, इन बातों का स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है —

१ — मनुस्मृति के प्रक्षेपों को निकालने के इस उलझनपूर्ण और महाकठिन कार्य को पूर्ण करने के लिए हमने जो उपर्युक्त 'आधार' या 'मानदण्ड' निर्धारित किये हैं, वे विशुद्ध रूप से कृतित्व पर आधारित हैं, और वे सर्वमान्य हैं। इस अनुसन्धान कार्य को करते हुए किसी प्रकार का पूर्वाग्रह नहीं अपनाया है। यह प्रयत्न किया गया कि कृति की शैली के अनुसार ही उसका वास्तविक रूप प्रकाश में आये,और यह कार्य सभी वर्ग के व्यक्तियों में समानरूप से मान्य हो सके। यदि ऐसा नहीं हो पाया तो इस कार्य की न तो कोई विशेष उपयोगिता ही सिद्ध होगी और न ही यह न्यायोचित ही होगा। इसलिए पक्षपातरहित होकर हमें यह कार्य करना पड़ा। महर्षि दयानन्द ने भी पक्षपातरहित को ही धर्म माना है। हमने उनकी इस बात को मानते हुए पक्षपातरहितता दिखाई है। उपर्युक्त आधारों की सीमा में आने वाले महर्षि दयानन्द द्वारा उद्धृत कुछ श्लोकों को हमने इस कारण प्रक्षिप्त कोटि में रखा है कि यदि कुछ श्लोकों को इन नियमों से मुक्त कर दिया जाये तो फिर ये 'आधार' ही व्यर्थ सिद्ध होंगें और आधाररहित रूप में किया गया कार्य कभी प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता।

२ —महर्षि दयानन्द द्वारा उद्धृत जितने श्लोक प्रक्षेपान्तर्गत आये हैं, उनका मनुस्मृति की किसी मान्यता से विरोध नहीं है.अपितु वे प्रकरणविरोध के आधार पर प्रक्षिप्त कोटि में आते हैं। इसे महर्षि की त्रुटि नहीं कहा जा सकता और न ही इस बात पर कोई आपत्ति की जा सकती है; क्योंकि, एक तो महर्षि ने स्वतन्त्ररूप से मनुस्मृति के प्रक्षेप निकालने का कार्य नहीं किया और दूसरी बात यह है कि मनुस्मृति के उद्धरण लेते समय,प्रकरण,इस दृष्टि से उनके विचार का विषय नहीं रहा। महर्षि स्वयं मनुस्मृति में अनेक प्रक्षेपों का होना मानते हैं। इसी अध्याय में इस विषय में उनकी सम्मतियां उद्धृत की जा चुकी हैं। इसी कारण उन्होंने अपने ग्रन्थों में मनुस्मृति केश्लोकों के साथ यह शैली अपनायी है कि —उद्धृत श्लोकों के साथ अध्याय और संख्या का उल्लेख नहीं किया। इस प्रकार हमारा यह कार्य उनके विरुद्ध नहीं जाता।

३ — प्रक्षेपों के अन्तर्गत आने वाले महर्षि के कुछ श्लोक ऐसे हैं,जो प्रंसग की दृष्टि से अपने पूर्व श्लोकों से सम्बद्ध हैं और,वे पूर्व के आधारभूत श्लोक प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं, अत: उनके साथ सम्बद्ध

होने के कारण महर्षि द्वारा उद्धृत श्लोक भी प्रक्षेपान्तर्गत आ जाते हैं।

महर्षि दयानन्द द्वारा उद्धृत जो श्लोक प्रक्षेपान्तर्गत आये हैं, वे श्लोक तथा उनके प्रक्षेपान्तर्गमन के कारण या आधार निम्न हैं —

१. आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥ [१ । १० ।]

(उद्धृत — स. प्र. पृ. १९)

अर्थ — 'अप्' तत्त्व का नाम नारा है, और अप् तत्त्व परमात्मा से उत्पन्न होते हैं । वे अप् तत्त्व परमात्मा के अयन = निवासस्थान हैं अर्थात् परमात्मा उनमें व्यापक है, अतः परमात्मा का नाम 'नारायण' है ॥

आधार — महर्षि द्वारा उद्धृत इस श्लोक का स्वतन्त्र रूप से किसी मान्यता से विरोध नहीं है, किन्तु जिस पूर्वापर प्रसंग से यह सम्बद्ध है, वह प्रसंग अनेक 'आधारों' के आधार पर प्रक्षिप्त सिद्ध होता है, अतः, उससे जुड़ा होने के कारण यह श्लोक भी प्रक्षेपान्तर्गत आ जाता है । वह प्रसंग निम्न प्रकार प्रक्षिप्त है — (१) मनुस्मृति में जगत् की उत्पत्ति 'महत्' आदि तत्त्वों के द्वारा सूक्ष्म से स्थूल स्थूलतर और स्थूलतम के क्रम से मानी है [१ । १४-२४] । ७-१३ श्लोकों के इस प्रसंग में अपने शरीर से प्रजाओं की सृष्टि करने की इच्छा से 'अपः' की सृष्टि, उनसे अण्डे का निर्माण [८-९], अण्डे से ब्रह्मा की उत्पत्ति [९, ११], फिर अण्डे के दो टुकड़े करके द्युलोक, भूमिलोक आदि का निर्माण [१२-१३] आदि जगदुत्पत्ति की प्रक्रिया उक्त मान्यता के विरुद्ध है । (२) ७–१३ श्लोकों का यह प्रसंग प्रसंगविरुद्ध भी है, यतो हि १४-१८ श्लोकों में अभी सूक्ष्मतत्त्वों की उत्पत्ति कही जा रही है । उनकी उत्पत्ति के पश्चात् ही स्थूल सृष्टि की उत्पत्ति संभव है । किन्तु इस प्रसंग में सूक्ष्मतत्त्वों की उत्पत्ति कहने से पूर्व ही स्थूलसृष्टि – समुद्र, द्युलोक, पृथिवीलोक [१३] और अण्डाकाररूप ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति प्रदर्शित कर दी । यह क्रमविरुद्ध वर्णन इसे प्रसंगविरोधी प्रक्षेप सिद्ध करता है । (३) यह प्रसंग इस प्रकार भी प्रसंगविरुद्ध सिद्ध होता है कि इस प्रसंग के १३ वें श्लोक की १४ वें से संगति नहीं जुड़ती । १३ वें में लोकों की रचना का वर्णन है, जबकि १४ से प्रकृति से 'महत्' आदि की उत्पत्ति का वर्णन प्रारम्भ किया है । १४ वें के भाषा-प्रयोग को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह श्लोक छठे से सम्बद्ध है । क्योंकि छठे श्लोक में जगदुत्पत्ति के रूप में ही परमात्मा की प्रकटता दिखलाते हुए **'तमोनुदः' 'महाभूतादि वृत्तौजाः'** विशेषण पठित है । इससे यह संकेत मिलता है कि इसके बाद प्रकृति से 'महत्' 'पञ्चभूत' आदि महाभूतों की उत्पत्ति प्रदर्शित करना ही रचयिता को अभीष्ट है। अण्डे आदि की उत्पत्ति दर्शाना अभीष्ट नहीं है (जैसा कि ९–१३ श्लोकों में वर्णित है), और वह उत्पत्ति १४ वें श्लोक से प्रदर्शित है, अतः छठे से १४वां श्लोक सम्बद्ध है । इस प्रकार बीच का यह ७–१३ श्लोकों का प्रसंग प्रसंगविरोधी सिद्ध होता है ।

प्रकरण-विरोध — इस श्लोक का प्रकरणविरोध सिद्ध होता है, यतो हि इसमें **'नारायण'** शब्द की व्युत्पत्ति दर्शायी गई है । यहां पूर्वापर प्रसंग में 'नारायण' शब्द की कोई चर्चा नहीं है । यहां पूर्वापर प्रसंग सृष्टि-तत्त्वों की उत्पत्ति का है। उसके बीच में किसी नाम की व्युत्पत्ति दर्शाना प्रासंगिक प्रतीत नहीं होता । यदि यह कहा जाये कि ८ वें श्लोक में **'अपः'** शब्द आया था, उसके प्रसंग से नारायण शब्द की उत्पत्ति दर्शा दी, तो इसका स्पष्ट-सा उत्तर यह है कि मनु की इस प्रकार की शैली नहीं है । यदि ऐसी शैली होती तो वे श्लोक में पठित **'स्वयंभूः' 'भगवान्'** आदि नामों और विशेषणों की व्युत्पत्ति भी दर्शाते ।

२. मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।
प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च ।।[१ । ३५ ।।]

३. एते मनूंस्तु सप्तान्यानसृजन्भूरितेजसः ।
देवान्देवनिकायांश्च महर्षींश्चामितौजसः ।।[१ । ३६ ।।]

(उद्धृत —पूनाप्रवचन पृ. ९४)

अर्थ — मनु ने जिन दश प्रजापति महर्षियों को उत्पन्न किया, उनके नाम इस प्रकार हैं —मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेतस, वसिष्ठ, भृगु और नारद । (१ । ३५) ।। इन महर्षियों ने सात दूसरे बहुत तेजस्वी मनुओं को उत्पन्न किया और देव, देवसमूह तथा अपरिमित शक्तिसम्पन्न महर्षियों को उत्पन्न किया । [१ । ३६]

प्रकरण-विरोध — (१) सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन १४ —२२ श्लोकों में वर्णित हो चुका । उसके पश्चात २५ —३० श्लोकों में उत्पन्न प्रजाओं के कर्मों की व्यवस्था का भी वर्णन किया जा चुका है । इससे यह स्पष्ट होता है कि सृष्टि-उत्पत्ति का प्रसंग १४ —२२ श्लोकों में ही पूर्ण हो चुका । प्रसंग के पूर्ण होने के बाद पुन : भिन्न पद्धति से उसी सृष्टि-उत्पत्ति के प्रसंग को प्रारम्भ करना प्रसंगविरुद्ध है । ३२-४१ श्लोकों में पुन : सृष्टिरचना का वर्णन है, ये श्लोक भी उसके अन्तर्गत हैं और उन्हीं से सम्बद्ध हैं, अत : प्रक्षेपान्तर्गत कहे जायेंगे ।

ये श्लोक इस प्रकार भी प्रक्षेपान्तर्गत आते हैं कि ये ३३ —३४ श्लोकों से सम्बद्ध हैं । (१) ३३ —३४ श्लोकों में ब्रह्मा के आधे शरीर से पुरुष की उत्पत्ति, आधे से स्त्री की, और उसमें विराट् की उत्पत्ति, विराट् से मनु और मनु से अन्य मनुओं की उत्पत्ति प्रदर्शित है । ये श्लोक १ । १६, १९, २३, २६ —३१ के विरुद्ध हैं, इन श्लोकों में एक साथ अनेक प्राणियों की उत्पत्ति का होना प्रदर्शित है, ब्रह्मा के वंश से नहीं । (२) और फिर जब उक्त श्लोकों में सभी प्राणियों की उत्पत्ति दिखा ही दी है,तो यहां फिर प्राणियों की उत्पत्ति दर्शाना स्वत : प्रसंगविरुद्ध है । (३) ३२-४१ श्लोकों के इस प्रसंग में महर्षियों से चर-अचर, स्थावर-जंगम जगत् की उत्पत्ति कहना प्रकृतिविरुद्ध भी है । इस प्रकार इन श्लोकों का यह प्रसंग प्रक्षिप्त है और ये श्लोक पूर्वापर रूप से इस प्रसंग से सम्बद्ध हैं, ये भी प्रक्षेपान्तर्गत आ जाते हैं ।

४. **निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः ।।[२ । १६]**

(सं. वि. पृ. २३)

महर्षि ने इस श्लोक की यह एक ही पंक्ति उद्धृत की है । अग्रिमपंक्ति में सिद्धान्त-विरोध आने से उन्हें वह ग्राह्य नहीं थी । यहां महर्षि को केवल यह दिखलाना ही अभीष्ट है कि संस्कार निषेक से अन्त्येष्टि पर्यन्त सोलह होते हैं । मनुस्मृति में यह श्लोक पूर्वापर धर्ममूलवर्णन के प्रसंग के विरुद्ध है । यहां शास्त्राधिकार का प्रसंग नहीं है और न सोलह संस्कारों का । इसमें मनुस्मृति को 'शास्त्र' संज्ञा से अभिहित करना भी इसे शैली की दृष्टि से परवर्ती सिद्ध करना है (द्र. शैलीगत आधार मनु. का पुन. द्वितीय अध्याय में) ।

५. वसून् वदन्ति तु पितॄन् रुद्रांश्चैव पितामहान् ।
प्रपितामहांस्तथादित्यांश्रुतिरेषा सनातनी ।।[३ । २८४ ।।]

(उद्धृत —पञ्चमहायज्ञविधि)

—वसुओं को पितर, रुद्रों को पितामह और आदित्यों को प्रपितामह कहते हैं । यह प्राचीनकाल से सुनते आए हैं ।

प्रकरण-विरुद्ध —(१) ११६ –११८ श्लोकों में गृहस्थी के लिए अतिथि को खिलाकर खाने का विधान है,या फिर यज्ञशेष अन्न खाने का विधान है । २८५ वें श्लोक में 'यज्ञशेष' अन्न का लक्षण वर्णित है । यह कहना चाहिए कि ११६-११७ श्लोकों के ११८ और २८५ श्लोक अर्थवादरूप हैं या दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि ११८ वें श्लोक की वाक्यपूर्ति २८५ वें में होती है । बीच के श्लोकों ने उस वाक्यक्रम को भंग कर दिया है, अत: ये श्लोक प्रसंगविरुद्ध हैं ।

(२) इस श्लोक में मनु से विरुद्ध कोई मान्यता नहीं है, किन्तु यह श्लोक जिस पूर्व वर्णन से प्रसंग की दृष्टि से सम्बद्ध है,वह १२२ से २८३ श्लोकों का वर्णन मृतकश्राद्ध का विधायक है । यह प्रसंग अनेक 'आधारों' के आधार पर प्रक्षिप्त सिद्ध होता है । उस प्रकरण से जुड़ा होने के कारण यह श्लोक भी प्रक्षेपान्तर्गत आ जाता है ।

६. **दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वज: ।**
दशध्वजसमो वेशो दशवेशसमो नृप: ।। [४ । ८५ ।।]

(उद्‌धृत — सं. वि. १५१)

अर्थ —दस कसाइयों के समान एक तेली, दस तेलियों के समान एक कलार, दस कलारों के समान एक वेश्याजीवी और दस वेश्याजीवियों के समान एक राजा होता है ।

आधार — यह श्लोक प्रसंग की दृष्टि से ८४ वें श्लोक से सम्बद्ध है । ८४ वें श्लोक में यह अक्षत्रिय से उत्पन्न राजा, कसाई, तेली, कलार एवं भेष बदलकर जीविका करने वाला, इनसे दान न लेने का विधान है । ८५ वें में उनकी तुलनात्मक शैली में निन्दा है । ८४ वें श्लोक में जन्मना वर्ण-व्यवस्था की मान्यता प्रदर्शित की है,जो मनु की कर्मणा वर्णव्यवस्था [१ । ८७ –९१ ; २ । ६८ (४३), १२६ (१०१), १४६ –१४८ (१२१ –१२३) ; ४ । २४५] की मान्यता के विरुद्ध है । ८४ वां श्लोक इस आधार पर प्रक्षिप्त है । उसके साथ जुड़ा होने के कारण ८५ वां श्लोक भी प्रक्षिप्त कहा जायेगा ।

७. **गुरो: प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन् ।**
प्रेतहारै: समं तत्र दशरात्रेण शुद्‌ध्यति ।। [५ । ६५ ।।]

(उद्धृत —स. प्र. ३० पत्रविज्ञा. १०१)

अर्थ — मृत गुरु के पितृमेध (अन्त्येष्टि) को करने वाला शिष्य मृतशरीर को उठाने वालों के साथ दश रात-दिन में शुद्ध होता है ।।

प्रकरणविरुद्ध —५ । ५७ वें श्लोक में मनु ने देहशुद्धि और द्रव्यों की शुद्धि के विषय को कहने का कथन किया है । भूमिका रूप में शुद्धिकारक पदार्थों का वर्णन १०५ –१०७ श्लोकों में वर्णित है उसके बाद १०९ वें में शरीर-शुद्धि का उपाय विहित है । इस प्रकार प्रसंगक्रम की दृष्टि से ५७ के बाद उसकी भूमिकारूप १०५ –१०७ श्लोक होने चाहियें । बीच के ५८ से १०४ श्लोकों ने उस क्रम को भंग करके सपिण्ड-असपिण्ड भेदों से मृतकशुद्धि तथा सूतकशुद्धि का वर्णन किया है । शुद्धिकारक पदार्थों के कथन से पूर्व ही शुद्धि के उपायों का वर्णन करना प्रसंगक्रम की दृष्टि से असंगत है, अत: बीच के ये सभी श्लोक प्रक्षिप्त हैं । इनके अन्तर्गत आने से यह श्लोक भी प्रक्षिप्त कहलायेगा ।

८. **उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम् ।**
चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च ।। [८ । १२५ ।।]

(स. प्र. १८१ पृ. स उद्धृत)

अर्थ — मनु ने दण्ड के दस स्थान बताये हैं — जननेन्द्रिय, पेट, जीभ, दोनों हाथ, दोनों पैर, आंख, नाक, दोनों कान, धन और शरीर ।

प्रकरणविरुद्ध —(१) यहां पूर्वापर प्रसंग ८ । १२२ और १२६–१३१ श्लोकों में अर्थदण्ड का चल रहा है । बीच में शरीरदण्डों का कथन करना पूर्वापर प्रसंगविरुद्ध है । (२) १२४ वां श्लोक वर्णन-शैली के आधार पर प्रक्षिप्त सिद्ध होता है । उसमें प्रयोग — "**दश स्थानानि दण्डस्य मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्**" । स्पष्ट है कि इस श्लोक का प्रवक्ता स्वयं मनु नहीं है, कोई अन्य व्यक्ति है । अत: इस आधार पर यह श्लोक भी प्रक्षिप्त है । १२५ वां श्लोक प्रसंग की दृष्टि से १२४ वें से सम्बद्ध है । उसका अर्थवाद है । अत: उसके प्रक्षिप्त होने पर १२५ वां स्वत: प्रक्षिप्त कहलायेगा ।

९. **अहन्यहन्यवेक्षेत कर्मान्तान्वाहनानि च ।**
आयव्ययौ च नियतावाकरान्कोशमेव च ।। [८ । ४१९ ।।]

१०. **एवं सर्वानिमान् राजा व्यवहारान् समापयन् ।**
व्यपोह्य किल्बिषं सर्वं प्राप्नोति परमांगतिम् ।। [८ । ४२० ।।]

(उद्धृत —स. प्र. पृ. १७५)

अर्थ — राजा प्रतिदिन राज-कार्यों, हाथी आदि सवारियों, आय-व्यय के लेखों, खानों और खजानों का निरीक्षण करे । [८ । ४१९]

इस प्रकार राजा इन सब विवादों को समाप्त कराता हुआ सब प्रकार के दोषों (पापों) को दूर कर देता है और उत्तम गति को प्राप्त करता है । [८ । ४२०]

प्रकरणविरुद्ध — ८ । ३ श्लोक से अठारह प्रकार के व्यवहारों (मुकदमों) का वर्णन शुरू हुआ था, जो ९ । २५० में समाप्त होता है । आठवें अध्याय के अन्त में केवल पन्द्रह व्यवहार ही समाप्त हो पाये हैं, और व्यवहारों के समाप्ति-सूचक ये श्लोक सभी व्यवहारों की समाप्ति का संकेत देकर उसका फलकथन कर रहें हैं । प्रसंग या विषय समाप्त होने से पूर्व ही उसकी समाप्ति का संकेत करना कभी मौलिक रूप से नहीं हो सकता, अत: ये प्रसंगविरुद्ध और असंगत है। अठारह व्यवहारों का समाप्तिसूचक मौलिक श्लोक ९ । २५० वां यथास्थान उपलब्ध है । ये अध्यायों की समाप्ति पर, समाप्ति या उपसंहार-सूचक श्लोकों की एकरूपता बनाये रखने के लिए प्रक्षेप किये प्रतीत होते हैं । यहां विषय समाप्त न होने के कारण अध्यायकार को कोई समाप्तिसूचक श्लोक नहीं दिखाई पड़ा, अत: उसने स्वयं इस प्रकार का श्लोक रचकर मिला दिया ।

इस प्रकार तटस्थ आधारों के अनुसार प्रक्षिप्त सिद्ध हुए प्रकरणों के बीच में आने के कारण महर्षि के ये श्लोक मनुस्मृति के सन्दर्भ में प्रक्षिप्तकोटि में आ जाते हैं ।

अथ विशुद्ध मनुस्मृतिः

अथ प्रथमोऽध्यायः

[हिन्दीभाष्य-'अनुशीलन'-समीक्षाभ्यां सहितः]

(सृष्टि-उत्पत्ति एवं धर्मोत्पत्ति विषय १।५ से १।१७८ तक)

मनुस्मृति-भूमिका
(१ । १ से १ । ४ तक)

महर्षियों का मनु के पास आगमन—

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः ।
प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन् ॥ १ ॥ (१)

(महर्षयः) महर्षि लोग (एकाग्रम्+आसीनम्) एकाग्रतापूर्वक बैठे हुए (मनुम्) मनु के (अभिगम्य) पास जाकर, और उनका (यथान्यायम्) यथोचित (प्रतिपूज्य) सत्कार करके (इदम्) यह (वचनम्) वचन (अब्रुवन्) बोले ॥ १ ॥

महर्षियों का मनु से वर्णाश्रम-धर्मों के विषय में प्रश्न—

भगवन्सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः ।
अन्तरप्रभवाणां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि ॥ २ ॥ (२)

(भगवन्) हे भगवन् ! आप (सर्ववर्णानाम्) सब वर्णों=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र (च) और (अन्तरप्रभवाणाम्) सभी वर्णों के अन्दर होने वाले अर्थात् आश्रमों=ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास के [वर्णानां अन्तरे प्रभवः-उत्पत्तिः, स्थितिः येषां ते अन्तरप्रभवाः=आश्रमाः] (धर्मान्) धर्मों-कर्त्तव्यों को (यथावत्) ठीक-ठीक रूप से (अनुपूर्वशः) और क्रमानुसार अर्थात् वर्णों को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के क्रम से तथा आश्रमों को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास के क्रम से (नः) हमें

(वक्तुम्) बतलाने में (अर्हसि) समर्थ हो ॥ २ ॥ (इस दूसरे श्लोक के प्रश्न की पूर्ति १।३ में होगी ।)+

अनुशीलन : मनुस्मृति एक धर्मशास्त्र है [धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः २। १० (१। १२६)]। तदनुसार इसमें धर्म का ही प्रतिपादन है। मनुस्मृति में धर्म के स्वरूप तथा इस श्लोक में आये आधारभूत शब्द 'अन्तरप्रभवाणाम्' पर यहां सप्रमाण विचार किया जाता है—

(१) **धर्म का स्वरूप**—(क) व्याकरण की दृष्टि से 'धृञ्-धारणे' धातु से 'अर्तिस्तुसुहुसृधृ०' [उणादि १।१४०] सूत्र से प्राप्त 'मन्' प्रत्यय के योग से 'धर्म' शब्द सिद्ध होता है। 'धारणात् धर्म इत्याहुः' '**ध्रियते अनेन लोकः**' आदि व्युत्पत्तियों के अनुसार 'जिसे आत्मोन्नति और उत्तम सुख के लिए धारण किया जाये' अथवा 'जिसके द्वारा लोक को धारण किया जाये अर्थात् व्यवस्था या मर्यादा में रखा जाये', उसे धर्म कहते हैं। इस प्रकार आत्मा की उन्नति करने वाला, मोक्ष या उत्तम व्यावहारिक सुख देने वाला सदाचरण, कर्त्तव्य अथवा श्रेष्ठ विधान (कानून), नियम, धर्म है।

(ख) मनुस्मृति में धर्म को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया गया है। स्थूल रूप से उसे दो अर्थों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

१. मुख्य अर्थ (आध्यात्मिक उद्देश्यसाधक)
२. गौण अर्थ (लौकिक व्यवहार-साधक)

१. आध्यात्मिक क्षेत्र में आत्मा के उपकारक, निःश्रेयससिद्धि अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति कराने वाले 'आचरण' को 'धर्म' कहते हैं। यह धर्म का मुख्य अर्थ है। यही धर्म सार्वभौमिक, सार्वकालिक एवं सार्वजनीन है, जो त्याज्य नहीं है। इसी का प्रतिपादन करना धर्मशास्त्रों का प्रमुख उद्देश्य है। मनु ने इस धर्म का वर्णन निम्न श्लोक में किया है—

वेदाभ्यासः, तपः, ज्ञानम्, इन्द्रियाणां च संयमः ।
धर्मक्रिया, आत्मचिन्ता च निःश्रेयसकरं परम् ॥ १२।८३॥

निम्न प्रमाणों से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है—

(अ) धर्मं शनैः संचिनुयात्'''परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥४।२३८॥

(आ) धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥ ४।२४२ ॥

(इ) धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ ६।९२ ॥

+[प्रचलित अर्थ—हे भगवन् ! सब वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) और 'अम्बष्ठादि' अनुलोमज, 'सूत' आदि प्रतिलोमज, तथा 'भूर्जकण्टक' आदि संकीर्ण जातियों के यथोचित धर्मों को क्रमशः कहने के लिये आप योग्य हैं (अतः उन्हें कहिए) ॥ २ ॥]

मनुस्मृति में धर्मपालन के परिणामस्वरूप जो फलप्राप्ति दिखायी है, वह भी इस अर्थ की मुख्यता की ओर संकेत करती है—

(ई) एतद्वो ऽभिहितं सर्वं निःश्रेयसकरं परम्।
अस्मादप्रच्युतो विप्रः प्राप्नोति परमां गतिम्॥ १२।११६॥

(उ) अनेन विप्रो वृत्तेन वर्तयन् वेदशास्त्रवित्।
व्यपेत कल्मषो नित्यं ब्रह्मलोके महीयते ॥४।२६०॥

इस अर्थ की सिद्धि में प्रमाणरूप में १। १२८, २।१३४ [२। १५६], २।२२४ [२४६], ४। १३८, १५६, १७५, २३८, २३६, २४२, २४३, २६०॥ ८।१६, १७, ८३ आदि श्लोक भी द्रष्टव्य हैं।

२. व्यावहारिक क्षेत्र में त्रिविध=आत्मिक, मानसिक, शारीरिक उन्नति कराने वाले, मानवत्व और देवत्व का विकास करने वाले, उत्तम सुखसाधक श्रेष्ठ व्यावहारिक कर्त्तव्य, मर्यादाएँ और विधान (कानून) धर्म कहलाते हैं। ये व्यावहारिक क्षेत्र के होने के कारण कर्म हैं. जिनमें देश-काल-परिस्थितिवश कुछ परिवर्तन भी आ जाते हैं। इसमें निम्न प्रमाण भी द्रष्टव्य हैं—

(अ) न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ॥४।१३८॥
(आ) योषितां धर्ममापदि ॥६।५६॥
(इ) एष धर्मः स्त्रीपुंसयोः ॥६।१०१, १०३॥
(ई) द्यूतधर्मं निबोधत ॥ ६।२२० ॥
(उ) दण्डं धर्मं विदुः बुधाः ॥७।१८॥
(ऊ) राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि ॥७।१॥
(ए) विवाह—'ब्राह्मो धर्मः', 'दैवं धर्मम्', 'आर्षः धर्मः', 'आसुरः धर्मः। ॥ ३। २७—३१। आदि-आदि ॥

दर्शनशास्त्रों में धर्म के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। उनके अनुसार धर्म की परिभाषा निम्न है—

(अ) "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः (वैशेषिक १। १। २)

अर्थात्—जिसके आचरण से (अभ्युदयः) मनुष्य की त्रिविध=आत्मिक, मानसिक व शारीरिक उन्नति और व्यावहारिक उत्तम सुख की प्राप्ति एवं वृद्धि हो तथा (निःश्रेयससिद्धिः) मोक्षसुख की सिद्धि हो (सः धर्मः) वह आचरण या कर्त्तव्य धर्म है।

(आ) "चोदनालक्षणो धर्मः" (पूर्वमीमांसा १। १। २)

अर्थात्—(चोदनालक्षणः) वेदों में मनुष्यों को करने के लिए जो कर्त्तव्य विहित किये हैं, वह (धर्मः) धर्म है।

(२) 'अन्तरप्रभवाणाम्' पद का मनु-सम्मत अर्थ—

इस श्लोक में मेधातिथि, कुल्लूकभट्ट और उनके अनुयायी सभी टीकाकारों ने 'अन्तरप्रभवाणाम्' पद का—"संकीर्ण जातियों या वर्णसङ्करों के" यह अर्थ अशुद्ध किया है। इस पद का अर्थ 'आश्रमों के' होना चाहिये। इसकी पुष्टि में निम्न युक्तियां हैं—

(क) २। १८ [इस संस्करण के अनुसार १। १३७] में 'अन्तरप्रभवाणाम्' के पर्यायवाची रूप में 'सान्तरालानाम्' शब्द का प्रयोग किया है। जैसे यहाँ वर्णों के साथ 'अन्तरप्रभवाणाम्' शब्द का प्रयोग है, वैसे ही उक्त श्लोक में भी वर्णों के कथन के साथ-साथ 'सान्तरालानाम्' शब्द का प्रयोग है। उस श्लोक में 'सान्तरालानाम्' शब्द का अर्थ 'आश्रम' है, अतः यहां भी उसके पर्यायवाची शब्द 'अन्तरप्रभवाणाम्' शब्द का अर्थ 'आश्रमों के' होना चाहिये। यद्यपि २। १८ [१। १३७] श्लोक में भी टीकाकारों ने 'सान्तरालानाम्' शब्द का अर्थ 'संकीर्ण जाति' या 'वर्णसङ्कर' किया है, किन्तु वह मनु की मान्यता के विरुद्ध है। यतो हि, उस श्लोक में धर्म के चार मूलाधारों में से एक आधार 'सदाचार' [२। ६, १२ या १। १२५, १३१] का लक्षण किया है और बताया है कि "ब्रह्मावर्त देश के निवासी वर्णों और आश्रमों का जो परम्परागत श्रेष्ठ आचरण है, वह 'सदाचार' कहलाता है"। इस श्लोक में 'सान्तराल' शब्द का 'वर्णसङ्कर' या 'संकीर्ण जाति' अर्थ इसलिए ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि वर्णसङ्करों का आचरण 'सदाचार' ही नहीं हो सकता और न ही उनके आचरण को उन श्लोकों में 'सदाचार' के रूप में माना है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि वर्णसङ्करों के धर्मवर्णन-प्रसङ्ग में अनेक स्थानों पर उनके आचरण को निन्दनीय और गर्हित कहा है। उस प्रसङ्ग में संकीर्ण जातियों के लिए प्रयुक्त विशेषणों में कुछ इस प्रकार हैं—"**मातृदोषविगर्हितान्**"= माता के दोष से निन्दित जन्म वाले [१०। ६], "**क्रूराचारविहारवान्**"=क्रूर आचार-व्यवहार वाले [१०। ९], "**अधमो नृणाम्**"=मनुष्यों में नीच [१०। १२], "**अव्रतांस्तु यान्**"=व्रतहीन [१०। २०], "**पापात्मा भूर्जकण्टकः**"=पापी आत्मा वाले भूर्जकण्टक [१०। २१], "**ततोऽप्यधिकदूषितान्**"=उनसे भी अधिक दूषित आचरण वाले [१०। २९] "**जनयन्ति विगर्हितान्**"=निन्दित सन्तानों को जन्म देते हैं [१०। २९]। इसी प्रकार संकीर्ण जातियों का 'अपसद' (नीच) 'अपध्वंसज' (पतितोत्पन्न) आदि शब्दों द्वारा नामकरण करना भी यह सिद्ध करता है कि रचयिता इन्हें निन्दित आचरण वाला मानता है। इनके अतिरिक्त उस प्रसंग में वर्णसंकरों के जो पशु-हिंसा आदि धर्म बतलाये हैं वे मनु के मत में धर्म न होकर दुष्कर्म हैं, जिनकी मनु ने स्थान-स्थान पर निन्दा की है। फिर उनके आचरण को 'सदाचार' कैसे कहा जा सकता है? और न उन्हें 'धर्म' कहा जा सकता है। इससे यह बोध होता है कि उक्त श्लोक में 'सान्तराल' शब्द का 'वर्णसंकर' अर्थ करना संगत नहीं है, और मनु के विरुद्ध भी है। अतः वहां उसका 'आश्रम' अर्थ होना चाहिए। उसके पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त होने से इस श्लोक में 'अन्तरप्रभव' का अर्थ भी 'आश्रम' ही समीचीन है।

(ख) मनुस्मृति में वर्णों के धर्मों के साथ-साथ विस्तृत और विशिष्ट रूप से आश्रमों के धर्मों का ही कथन है, वर्णसंकरों के धर्मों का नहीं। यह भी ध्यान देने की बात है कि इस श्लोक में जिस क्रम से वर्णों और आश्रमों के धर्मों को बतलाने की इच्छा व्यक्त की है, ठीक उसी क्रम से ही मनुस्मृति में उसका उल्लेख है। आश्रमों और वर्णों का क्रम साथ-साथ चलता है, जैसे—द्वितीय अध्याय में—ब्रह्मचर्याश्रम का वर्णन है, तृतीय से पञ्चम तक गृहस्थ का, षष्ठ में वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम का वर्णन है। साथ-साथ छठे अध्याय तक ब्राह्मण के कर्त्तव्य भी उक्त हो जाते हैं। फिर क्षत्रियों के शेष कर्त्तव्यों का वर्णन ७। १ से ९। ३२५ तक है। वैश्य के अतिरिक्त कर्त्तव्यों का कथन ९। ३२६ से ३३३ [इस संस्करण में १०। १—६] तक तथा शूद्रों के कर्त्तव्यों का वर्णन ९। ३३४-३३५ [इस संस्करण में १०। ७-८] में है। यदि 'अन्तरप्रभवाणाम्' का 'आश्रम' अर्थ न करके 'वर्णसंकर' अर्थ लिया जाये तो प्रश्न उठेगा कि जब प्रारम्भ में आश्रमों के धर्म पूछने का प्रश्न ही नहीं है तो इतने विस्तृत और प्रधान रूप से आश्रमों के धर्मों का विधान क्यों किया गया है? वर्णों और आश्रमों के धर्मों का साथ-साथ और प्रधानतापूर्वक वर्णन करने की मनु की यह शैली भी यह संकेत देती है कि इस श्लोक में वर्णों और आश्रमों के विषय में प्रश्न है, वर्णसंकरों के विषय में नहीं।

(ग) मनुस्मृति में सर्वत्र वर्णों के साथ आश्रमों का उल्लेख करने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है, वर्णसंकरों की नहीं। १२। ९७ में भी वर्णों के साथ आश्रमों का उल्लेख है—"**चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाः चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्**" इसी प्रकार ७। ३५ में भी राजा को वर्णों और आश्रमों के धर्मों का रक्षक कहा है, वर्णसंकरों का उल्लेख ही नहीं—

स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः।
वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता॥

इस प्रवृत्ति के अनुसार भी यहां वर्णों के साथ प्रयुक्त 'अन्तरप्रभव' शब्द का अर्थ 'आश्रम' ही सिद्ध होता है।

(घ) मनुस्मृति में दशम अध्याय को छोड़कर वर्णों के साथ अथवा स्वतन्त्र रूप से कहीं भी वर्णसंकरों की चर्चा या उल्लेख नहीं है। नामकरण संस्कार [२। २९-३५ या २। १-१०], विवाहविधि [३। २०] आदि प्रसङ्गों में जहां शूद्रों के लिए भी विधान किए हैं, वहां भी इनका उल्लेख नहीं है। दशम अध्याय में भी जो इनका वर्णन है, वह वस्तुतः मौलिक न होकर प्रक्षिप्त है (विस्तृत जानकारी के लिए दशम अध्याय के श्लोकों की समीक्षा देखिए)। यतो हि, वह विषय प्रसंगविरुद्ध रूप से वर्णित है। मनु की विषय-संकेत-शैली से भी दशम अध्याय का वर्णसंकरों का प्रसंग प्रक्षिप्त सिद्ध होता है। वर्णों के धर्म-कथन का विषय प्रारम्भ करते हुए वे कहते हैं—"**वर्णधर्मान्निबोधत**" १। १४४ [अन्य संस्करणों में २। २५]। इसी प्रकार इस विषय की समाप्ति का संकेत करते हुए कहा—"**एष धर्मविधिः कृत्स्नश्चातुर्वर्ण्यस्य कीर्तितः**" १०। १४३ [अन्य संस्करणों में १०। १३१]। दोनों ही स्थानों पर वर्णों के धर्मों के वर्णन का कथन

है, आपद्धर्म का नहीं। यहां बीच में वर्णसंकरों के वर्णन करने का न तो प्रसंग था और न ही अभीष्टता, किन्तु फिर भी किसी ने इस वर्णन को बलात् मिलाया है।

इसी प्रकार १०। १५ [अन्यत्र १०। ४] में स्पष्ट शब्दों में मनु ने उद्घोषित किया है कि आर्यों के समाज में केवल चार वर्ण हैं, पांचवां कोई वर्ण नहीं है। इनसे भिन्न सभी दस्यु हैं, चाहे वे आर्य भाषाएं बोलते हों अथवा म्लेच्छ भाषाएं [१०। ५६ (अन्यत्र १०। ४५)]। यहां वर्णसंकरों का कोई उल्लेख नहीं। इससे वर्णसंकरों का वर्णन [१०। ५–७३] मनुस्मृतिसम्मत या मौलिक सिद्ध नहीं होता। जब यह मनुस्मृतिसम्मत ही सिद्ध नहीं होता तो इस ग्रन्थ में किसी शब्द से 'वर्णसंकर' अर्थ ग्रहण करना ही अनुपयुक्त एवं विरुद्ध है। अतः यहां भी 'वर्णसंकर' अर्थ न होकर 'आश्रम' अर्थ ही मनुस्मृतिसम्मत है।

(ङ) मनु ने संक्षिप्त भूमिका के रूप में १। ८७–९१ श्लोकों में एक-एक वर्ण का नामोल्लेखन तथा उनका कर्मवर्णन किया है। उससे यह स्पष्ट संकेत मिल जाता है कि मनु मनुष्य-समाज में चार वर्णों के अतिरिक्त कोई वर्ण नहीं मानते। इन श्लोकों से यह भी संकेत मिलता है कि मनुस्मृति में मनु को केवल इन्हीं चार वर्णों के धर्मों का कथन करना अभीष्ट है, अन्य किसी वर्णसंकर आदि का नहीं। अतः यहां भी 'अन्तरप्रभव' का अर्थ वर्णसंकर आदि करना मनु की मौलिकता के विरुद्ध है, इसका 'आश्रम' अर्थ ही प्रकरणसंगत है।

(३) प्रतीत होता है कि जब वर्णसङ्करों के प्रसंग का प्रक्षेप हुआ तो उन लोगों ने तदनुसार ही 'अन्तरप्रभव' और 'सान्तराल' शब्दों के अर्थों को भी परिवर्तित करके 'वर्णसंकर' अर्थ प्रचलित कर दिया। यही नहीं, अपने आशय के अनुसार ऐसे लोगों ने पाठभेद करने का भी प्रयास किया। तीन-चार हस्तलिखित प्रतियों में 'अन्तर-प्रभवाणाम्' पद के स्थान पर 'संकरप्रभवाणाम्' पाठभेद भी मिलता है। यह पाठभेद वर्णसंकर सम्बन्धी प्रक्षिप्त श्लोकों को मौलिक सिद्ध करने का ही एक प्रयास था। यह पाठभेद तो प्रचलित नहीं हो पाया किन्तु इस पाठभेद के अनुसार अर्थ की भ्रान्ति अवश्य प्रचलित हो गई।

त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयम्भुवः।
अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो ॥ ३ ॥ (३)

(हि) क्योंकि (प्रभो) वेदज्ञ होने से धर्मोपदेश में समर्थ हे विद्वन्! (अस्य सर्वस्य) इस सब [१।५—१।१४४ (२।२५) में वर्णित] समस्त जगत् के, (अचिन्त्यस्य) जिनका चिन्तन से पार नहीं पाया जा सकता अथवा जिनमें असत्य कुछ भी नहीं है, और (अप्रमेयस्य) जिनमें अपरिमित सत्यविद्याओं का वर्णन है, उन (स्वयम्भुवः विधानस्य) स्वयम्भू [१।६] परमात्मा द्वारा रचित [१।२३] विधानरूप वेदों के (कार्य-तत्त्वार्थवित्) कार्य=कर्त्तव्य-रूप धर्मों या प्रतिपाद्य विषयों के तत्त्वार्थवित्=यथार्थरूप अथवा उनके

रहस्यों को, और [द्वितीयार्थ में] वेदार्थों को जानने वाले (एकः त्वम्) एक आप ही हैं [अर्थात् इस समय धर्मों के विशेषज्ञ विद्वान् आप ही दृष्टिगोचर हो रहे हैं, अतः आप ही उन्हें कहिये] ॥

अभिप्राय यह है कि वेद सब सत्यविद्याओं के विधायक ग्रन्थ हैं, इस प्रकार वे जगत् के विधान रूप अर्थात् संविधान हैं। महर्षि लोग प्रशंसा-पूर्वक मनु से कह रहे हैं कि उन विधानरूप वेदों में कौन-कौन से करने योग्य कार्य अर्थात् कर्त्तव्यरूप धर्म विहित हैं, उन्हें भलीभांति समझने वाले विशेषज्ञ विद्वान् आप हैं, अतः हमें वर्णों और आश्रमों के धर्मों को बत-लाइये। (यह श्लोक १।२ का पूरक वाक्य है। दूसरे श्लोक में वर्णाश्रम धर्मों का प्रश्न है, अतः इसमें उन्हीं का ज्ञाता बताकर मनु की प्रशंसा की है। यही मनुस्मृति का प्रतिपाद्य विषय है—'धर्मों का कथन')॥ ३ ॥ ❀

"स्वयम्भू जो सनातन वेद हैं, जिनमें असत्य कुछ भी नहीं और जिनमें सब सत्यविद्याओं का विधान है, उनके अर्थ को जानने वाले केवल आप ही हैं।" (ऋ० भू० ५८)

अनुशीलन : कुल्लूकभट्ट आदि प्रायः सभी टीकाकारों ने इस श्लोक का अपूर्ण या त्रुटिपूर्ण अर्थ किया है। उनके अर्थों में निम्न त्रुटियां हैं—

(१) 'अस्य सर्वस्य' सर्वनामों को वेद के साथ जोड़ दिया है।

(२) कुल्लूकभट्ट ने 'कार्य' का 'अग्निष्टोम आदि यज्ञकार्य' तथा—

(३) 'तत्त्वार्थवित्' का 'ब्रह्म के ज्ञाता' ये असंगत, सीमित और मनुस्मृति से असम्मत अर्थ किये हैं।

इनकी पुष्टि के लिए विस्तृत विचार करना आवश्यक है—

(१) **'अस्य सर्वस्य' पदों की सही संगति**—(क) यहां 'अस्य सर्वस्य' पदों का अर्थ 'इस सब जगत् के' होना उपयुक्त एवं प्रासंगिक है। 'अस्य' या 'इदम्' शब्दों का जब स्वतन्त्र रूप से प्रयोग होता है तो मुख्यरूप से उसके तीन अभिप्राय होते हैं—(१) उपस्थित या निकट की वस्तु की ओर संकेत, (२) निकट रूप से स्थित जगत्, (३) पूर्वापर विषय या वस्तु की ओर संकेत। इन तीनों ही अर्थों के आधार पर यदि इन पदों को परखा जाये तो इनका वेद के साथ सम्बन्ध न होकर 'जगत्' अर्थ ही व्यञ्जित होता है। यतो हि अगला वक्ष्यमाण विषय या अग्रिम प्रसंग जगत् का है, अतः वेद के साथ इन पदों को नहीं जोड़ा जा सकता। इन से 'जगत्' की ओर ही संकेत है। 'अस्य' 'इदम्' आदि पदों का प्रयोग स्वतन्त्ररूप से 'जगत्' के लिये करने की संस्कृत भाषा की सदैव प्रवृत्ति रही है। १।५ में "आसीत् इदम्" का प्रयोग भी 'जगत्' के लिए ही किया है।

❀ [प्रचलित अर्थ—क्योंकि हे प्रभो! एक आप ही इस सम्पूर्ण अपौरुषेय, अचिन्त्य तथा अप्रमेय वेद के अग्निष्टोमादि यज्ञकार्यों और [illegible] के जानने वाले हैं ॥३॥]

(ख) इसके अतिरिक्त सृष्टि-उत्पत्ति के इसी प्रसंग में दो अन्य स्थानों पर भी इन पदों का प्रयोग 'जगत्' अर्थ में ही किया है। यथा—सृष्टि-उत्पत्ति के पूर्ण होने पर—"**सर्वस्य अस्य तु सर्गस्य**" [१ । ८७], इस विषय को समाप्त भी इन्हीं पदों के स्वतन्त्र प्रयोग से किया है—"**संभवश्च अस्य सर्वस्य**" [इस सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति कही। २।२५, इस संस्करण में १।१४४]। (ग) शैली के आधार पर भी इन पदों का यहां 'जगत्' अर्थ सिद्ध होता है। १।५ से मनु ने जो सृष्टि-उत्पत्ति का विषय प्रारम्भ किया है, वह इन पदों के ही अनुसार है। इस श्लोक में कथन है कि 'इस जगत् के विधान = वेद के आप ज्ञाता हैं'। मनु ने इसी लिये धर्मों का कथन करने से पूर्व 'जगत्' के स्वरूप को बतलाना प्रारम्भ किया, जिससे धर्मोत्पत्ति, धर्म की आवश्यकता, महत्त्व एवं स्वरूप का परिज्ञान होकर उसके प्रति प्रेरित हो सकें। मनु ने यहां साङ्गोपाङ्ग शैली अपनायी है। 'अस्य सर्वस्य' पदों के द्वारा ही १।५ से प्रारम्भ होने वाले सृष्ट्युत्पत्ति-विषय का संकेत है और इन्हीं पदों के प्रयोगपूर्वक इस विषय को समाप्त किया है—"संभवश्च अस्य सर्वस्य" [२।२५ या १।१४४] (घ) इस श्लोक में 'विधान' शब्द का वेदों के लिये जो प्रयोग किया है वह भी साभिप्राय होने से सार्थक है, तथा निमित्त-निमित्ती भाव-द्योतनार्थ प्रयुक्त है। वेद 'विधान' हैं और विधान किसी निमित्त से विहित होता है, अतः 'अस्य सर्वस्य' पदों से संकेतित जगत् उनका निमित्ती है। 'वेद जगत् के लिये एक विधान है' यह भाव मनु ने अन्य स्थानों पर भी प्रकट किया। १२।९४ में वेदों को पितृ-दैव-मनुष्यों का सनातन 'चक्षुः' कहा है (**पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्**)। यहां वेद के लिये 'चक्षुः' शब्द का प्रयोग लगभग 'विधान' के समान अर्थ देने वाला है। जैसे 'चक्षु' कहने से यह बोध होता है कि यह इन्द्रिय प्राणियों को दिखाने के लिये है, उसी प्रकार 'विधान' कहने से भी यह बोध होता है कि यह किन्हीं के मार्गदर्शन के लिये है। इस प्रकार 'विधानस्य' के साथ प्रयुक्त 'अस्य सर्वस्य' पदों से 'जगत्' अर्थ का ही संकेत मिलता है।

(२—३) **'कार्यतत्त्वार्थवित्' का संगत अर्थ**—(क) 'कार्य' का 'अग्निष्टोम आदि यज्ञकार्य' अर्थ करना और 'तत्त्व' का अर्थ 'ब्रह्म' करना भी अप्रासंगिक और मनुस्मृति से असम्मत है। 'कार्य' से इस श्लोक में अभिप्राय 'कर्त्तव्यों, प्रतिपाद्य विषयों' या 'समस्त व्यावहारिक तत्त्वों' अर्थात् 'धर्मों से है। मनुस्मृति में [१ । २] जिज्ञासा और प्रश्न का विषय 'धर्म' है तो उसका प्रतिपाद्य या उत्तर का विषय भी 'धर्म' होगा। केवल यज्ञ या ब्रह्म का वर्णन करना मनुस्मृति का प्रतिपाद्य नहीं है, और न इनके बारे में स्वतन्त्र रूप से जिज्ञासा ही प्रकट की गयी है। यज्ञादि धर्म के अङ्ग हैं और स्वतः धर्मों के अन्तर्भूत हो जाते हैं। केवल यज्ञों और ब्रह्म को ही वेदों का कार्य या साध्य मान लेने से वेदों की उपयोगिता सीमित हो जाती है जबकि मनु की मान्यता इसके विपरीत है। मनु केवल यज्ञ या ब्रह्म के लिए ही वेदों की प्रकटता नहीं मानते अपितु संसार के समस्त व्यवहारों, धर्मों और ज्ञान-विज्ञान आदि का साधक मानते हैं। इसकी पुष्टि के लिए निम्न श्लोक प्रमाण रूप में द्रष्टव्य है—

(अ) १ । २१ में वेदों के द्वारा ही समस्त पदार्थों का नामकरण, उनके कर्मों का विधान, स्थितियों का विभाजन बताकर वेदों की बहुमुखी और व्यापक उपयोगिता को स्वीकार किया है—

"सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥

(आ) १२ । ९७ में चारों वर्णों, आश्रमों एवं तीनों कालों का ज्ञान वेदों से माना है ।

(इ) शब्द, स्पर्श आदि सूक्ष्म शक्तियों की वैज्ञानिक सिद्धि वेदों द्वारा ही मानी है (१२ । ९८) ।

(ई) १२ । ९९ में समस्त व्यवहारों का सर्वोपरि साधक-शास्त्र वेद को ही कहा है ।

(उ) राजनीति की शिक्षा देने वाला [७ । ४३, १२ । १००], धर्माधर्म का ज्ञान देने वाला [१२ । १०९—११३] जगत् के श्रेष्ठ व्यवहारों का साधक [१ । २३] शास्त्र वेद ही को कहा है ।

(ऊ) १२ । ९४ में वेदों को पितृ-देव-मनुष्यों का 'चक्षु' (धर्म-अधर्म, ज्ञान-विज्ञान आदि का दर्शाने वाला) कहा है ।

इनके अतिरिक्त और भी ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे जिनमें मनु ने वेदों के कार्य या उद्देश्य को व्यापक माना है । अतः कुल्लूकभट्ट द्वारा केवल यज्ञ या ब्रह्म को ही वेदों का कार्य कहना मनु की धारणा के प्रतिकूल है ।

(ख) मनुस्मृति उपनिषदों की भांति केवल आध्यात्मिक ग्रन्थ नहीं है, जिसमें केवल यज्ञ और ब्रह्म का ही दिग्दर्शन कराया गया हो; अपितु समाज का विधान या धर्मशास्त्र भी है । यही कारण है कि मनुस्मृति में इनका वर्णन अङ्गीरूप में न होकर अंगरूप में है । १ । १२५—१३४ [२ । ६—१५] श्लोकों में मनु ने धर्म का विकास वेद से माना है । मनु का प्रमुख वचन है—**'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'** १ । १२५ । यज्ञ और ब्रह्मप्राप्ति का इसके अन्दर स्वतः ही अन्तर्भाव हो जाता है क्योंकि ये भी मनुष्यों के धर्म हैं । इस प्रकार कुल्लूकभट्ट का अर्थ मनुस्मृति-प्रतिपाद्य के अनुरूप नहीं है ।

(ग) और यह अर्थ अप्रासंगिक भी है । १ । २ में मनु से वर्णों और आश्रमों के धर्मों का प्रश्न है । श्लोकों की संगति ध्यान देने योग्य है—'आप वर्णों और आश्रमों के सब धर्मों को बतलाने में समर्थ हैं [१ । २] तथा जगत् के विधानरूप वेदों के कर्त्तव्यरूप धर्मों को जानने वाले आप ही एकमात्र व्यक्ति हैं [१ । ३] । इस प्रकार जो यहां प्रश्न रूप में प्रष्टव्य है, उस के मनु वेदज्ञ होने से ज्ञाता हैं, और जिसके वे ज्ञाता हैं, वही उनसे प्रष्टव्य हो सकता है । वही मनुस्मृति में प्रतिपादित है । मनुस्मृति में धर्मों का प्रतिपादन है । उसी का प्रश्न है । उसी प्रश्न के उत्तर के मनु ज्ञाता हैं, इसी लिए उनसे वह प्रश्न किया गया है । मनु से प्रश्न तो धर्मों का किया है और साथ ही

उन्हें विशेषज्ञ विद्वान् बताया जा रहा है केवल यज्ञों और ब्रह्म का, और मनुस्मृति में प्रतिपादन है मुख्य रूप से धर्मों का। यह विसंगति पूछे गये प्रश्न और आगे प्रतिपादित विषय की एकरूपता से ही दूर हो सकती है। वस्तुतः यहाँ मनु को 'वेदों के अर्थों का ज्ञाता और वेद के प्रतिपाद्य या वेद में विहित धर्मों का समझने वाला' कहना ही अभिप्रेत है। इसकी पुष्टि बारहवें अध्याय के १०८–११४ श्लोकों से भी हो जाती है जिनमें वेदवेत्ता को ही धर्म का उपदेश करने का आदेश है, अन्य को नहीं। इसी योग्यता के कारण ही महर्षि लोग मनु के पास जिज्ञासा लेकर पहुंचे हैं। और उन्हीं धर्मों को समझने की योग्यता का वे वर्णन कर रहे हैं। इस प्रकार इस भाष्य में प्रस्तुत अर्थ अधिक संगत, युक्तियुक्त और मनुसम्मत है।

मनु का महर्षियों को उत्तर—

स तैः पृष्टस्तथा सम्यगमितौजा महात्मभिः।
प्रत्युवाचार्च्य तान्सर्वान्महर्षीञ्छ्रूयतामिति ॥ ४ ॥ (४)

(तैः) उन (महात्मभिः) महर्षि लोगों द्वारा (सम्यक्) भलीभांति श्रद्धासत्कार पूर्वक (तथा) उपर्युक्त प्रकार से (पृष्टः) पूछे जाने पर, (सः अमितौजाः) वह अत्यधिक ज्ञानसम्पन्न महर्षि मनु (तान् सर्वान् महर्षीन्) उन सब महर्षियों का (आर्च्य) यथाविधि सत्कार करके (श्रूयताम् इति) 'सुनिए' ऐसा (प्रत्युवाच) उत्तर में बोले ॥ ४ ॥

अनुशीलन : प्रथम चार श्लोकों की मौलिकता पर विचार— यद्यपि १–४ श्लोक मनुप्रोक्त श्लोकों की भांति मौलिक नहीं हैं तथापि ये शैली, घटना और प्रश्न के आधार पर मौलिक ही स्वीकार किये गये हैं, क्योंकि भूमिका के रूप में इनका उल्लेख है। (१) मनुस्मृति की शैली से यह विदित होता है कि मनु के भावों (जो प्रवचन के रूप में थे) का संकलन भृगु या किसी अन्य शिष्य ने किया है। संकलयिता ने इन श्लोकों के द्वारा मनु के पास महर्षियों के आने की घटना और उनके प्रश्न का भूमिका के रूप में उल्लेख किया है। (२) घटना मौलिक है। (३) प्रश्न भी मौलिक है, अतः संकलन-शैली के अनुसार ये श्लोक मौलिक ही माने जायेंगे। जैसा कि कुछ टीकाकारों ने पांचवें श्लोक से मौलिक मनुस्मृति का प्रारम्भ माना है, उनका यह विचार भ्रान्तिपूर्ण है। मनुस्मृति संकलित शैली का ग्रन्थ है, इस दृष्टि से ये चारों श्लोक मौलिक संकलितरूप में ही हैं।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना भी उपयोगी होगा कि इस शैली के आधार पर टीकाकारों ने उन सभी श्लोकों को मौलिक मान लिया है जिनमें मनु के नामपूर्वक वर्णन है (**'महर्षिर्मनुना भृगुः'** १।६०॥ **'उक्तवान् मनुः'** १।११८॥ **'मनुना परिकीर्तितः'** १।१२६॥ **मनुरब्रवीत्** ८।३३६॥ आदि)। उनका कहना है कि मनु के भावों के आधार पर भृगु ने मनुस्मृति को रचा है अतः इस प्रकार के श्लोक असंगत नहीं लगते। यह विचार भी भ्रान्तिपूर्ण है। क्योंकि, (१) मनुस्मृति मनु के भावों को लेकर रचा

ग्रन्थ नहीं है, अपितु मनु के भावों का यथावत् उसी शैली में संकलन है। (२) संकलन में मौलिक अंशों के बीच में संकलयिता की ओर से कोई बात नहीं कही जाती; अतः 'मनूक्तवान्' आदि पद वाले श्लोक संकलयिता की ओर से कहे होने के कारण प्रक्षिप्त हैं, मौलिक नहीं। (३) १।४ में 'श्रूयताम्' कहकर मनु उत्तर देना आरम्भ करते हैं। इस शैली से सिद्ध है कि इस श्लोक के बाद मनु के द्वारा कहे विचारों का उत्तमपुरुष की शैली के माध्यम से जो कथन है वही मौलिक संकलन है, अन्य द्वारा नामोल्लेख पूर्वक प्रदर्शित वर्णन प्रक्षिप्त है। अतः उन सभी श्लोकों को मूल संकलन से परवर्ती माना जाना चाहिए जो उत्तमपुरुष की शैली में नहीं हैं।

(जगदुत्पत्ति-विषय)

[१।५ से ५४, ७८]

उत्पत्ति से पूर्व जगत् की स्थिति—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥ ५॥ (५)

(इदम्) यह सब जगत् (तमोभूतम्) सृष्टि के पहले प्रलय में अन्धकार से आवृत=आच्छादित था।……उस समय (अविज्ञेयम्) न किसी के जानने (अप्रतर्क्यम्) न तर्क में लाने और (अलक्षणम् अप्रज्ञातम्) न प्रसिद्ध चिह्नों से युक्त इन्द्रियों से जानने योग्य था और न होगा। किन्तु वर्त्तमान में जाना जाता है और प्रसिद्ध चिह्नों से युक्त जानने के योग्य होता और यथावत् उपलब्ध है❀। (स० प्र० २१३)

❀(सर्वतः) सब ओर (प्रसुप्तम् इव) सोया हुआ-सा पड़ा था॥५॥

अनुशीलन : मनुस्मृति के प्रश्न और उत्तर की संगति—प्रायः सभी टीकाकारों ने यहाँ यह शंका उठायी है कि महर्षियों ने धर्मविषयक प्रश्न किया था। [१।२] किन्तु मनु ने सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन अप्रासंगिक रूप से क्यों किया? कुछ आलोचकों ने इस वर्णन को अप्रासंगिक के साथ-साथ विशृंखलित भी माना है और कुछ अनुसन्धाताओं ने इसे प्रक्षिप्त ही घोषित कर डाला। वस्तुतः यह वर्णन न तो अप्रासंगिक है, न विशृंखलित और न प्रक्षिप्त। आलोचकों ने इस वर्णन को उक्त आरोपों से मढ़कर भूल की है। मनुस्मृति की शैली को पहचानने के पश्चात् यह निश्चित हो जाता है कि यह वर्णन प्रासंगिक, शृङ्खलाबद्ध एवं मौलिक है। इसकी सिद्धि में निम्न युक्तियाँ एवं प्रमाण हैं—

(१) मनुस्मृति की शैली—मनुस्मृति कुछ प्रमुख विषयों में विभाजित है और [illegible] की शैली है कि जब कोई विषय आरम्भ होता है तो उसके आरम्भ, अन्त अथवा दोनों स्थानों पर उसका संकेत होता है। यहाँ भी **'अस्य सर्वस्य'** [१।३] पदों

से अगले [१।५] वक्ष्यमाण विषय के प्रारम्भ का संकेत किया और अन्त में १।१४४ [२।२५] में 'संभवश्चास्य सर्वस्य' कहकर इस विषय का समापन संकेत भी दिया है। उसी श्लोक में फिर साथ ही अगले विषय का संकेत भी है। इस प्रकार इस विषय का प्रारम्भ और समापन का संकेत मनु ने स्वयं ही दे दिया है और इस तरह यह विषय पृष्ट प्रश्न से और अगले विषय से शृङ्खलावत् जुड़ा हुआ है। इस स्थिति में इसे अप्रासंगिक या विशृङ्खलित नहीं कहा जा सकता। जिन आलोचकों ने इसे प्रक्षिप्त कहा है वे मनु की शैली को नहीं पकड़ पाये।

(२) शैली के आधार पर इस प्रसङ्ग के व्यवस्थित और प्रासंगिक सिद्ध हो जाने के पश्चात् अब यहाँ प्रश्न उठता है कि आलोचकों अथवा टीकाकारों को इस प्रसङ्ग को अप्रासंगिक, विशृङ्खलित एवं प्रक्षिप्त कह देने की भ्रान्ति कैसे हुई? और मनु ने ऋषियों द्वारा धर्मों की जिज्ञासा प्रस्तुत करने पर सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन क्यों प्रारम्भ किया? इसके उत्तर में निम्न स्पष्टीकरण दिये जा सकते हैं—

(क) मनु ने प्रश्न के अनुसार ही उत्तर के विषय को चुना है और यह वर्णन २-३ श्लोकों के प्रश्न में निहित अवान्तर जिज्ञासाओं के समाधान के लिए प्रारम्भ किया गया है, जो पूर्णत: व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध है। टीकाकारों द्वारा प्रश्न-वर्णन करने वाले २-३ श्लोकों का सही और संगत अर्थ न समझने के कारण ही यह भ्रान्ति और शङ्का उत्पन्न हुई है।

टीकाकारों ने द्वितीय श्लोक को तो एकमात्र स्वतन्त्र प्रश्न माना है और तृतीय श्लोक को स्वतन्त्र प्रशंसा-वाक्य। संगति की दृष्टि से दोनों को असम्बद्ध रखते हुए उन्होंने इनका अर्थ निम्न प्रकार किया है—

द्वितीय श्लोक—"हे भगवन्! ब्राह्मणादि चतुर्वर्णों और 'अम्बष्ठ' आदि अनुलोमज, 'सूत' आदि प्रतिलोमज तथा 'भूर्जकण्टक' आदि संकीर्ण जातियों के यथोचित धर्मों को क्रमश: कहने के लिये आप योग्य हैं (इसलिये उनको कहिये)।"

तृतीय श्लोक—"क्योंकि हे प्रभो! एक आप ही सम्पूर्ण अपौरुषेय, अचिन्त्य तथा अप्रमेय वेद के अग्निष्टोम आदि यज्ञकार्य के और ब्रह्म के जानने वाले हैं।"

टीकाकारों द्वारा ऊपर प्रदर्शित अर्थ करने से यहां विषय-वर्णन की सङ्गति का क्रम नहीं बन पाता। द्वितीय श्लोक में मनु से प्रश्न तो धर्मों के विषय में है और तृतीय श्लोक में उनकी प्रशंसा करते हुए उन्हें विद्वान् बताया जा रहा है—वेद में विहित अग्निष्टोम आदि यज्ञों का और ब्रह्म का। जबकि सङ्गत बात तो तभी मानी जा सकती है जब जिस विषय का प्रश्न किया हो उस समय उसी विषय में उसकी विद्वत्ता की प्रशंसा की जाये। यह क्या कि मनु से प्रश्न किसी अन्य विषय का किया जा रहा है और उनको विद्वान् किसी अन्य विषय का बताया जा रहा है।

(ख) इसी प्रकार एक त्रुटि यह हुई कि तृतीय श्लोक के 'अस्य सर्वस्य' सर्वनामों

को वेदों का विशेषण मानकर अर्थ किया है, जबकि ये 'जगत्' अर्थ के संकेत देने वाले हैं।

वस्तुतः ये दोनों ही श्लोक सम्बद्ध और एकवाक्यात्मक हैं। तृतीय श्लोक, द्वितीय श्लोक के वाक्य का पूरकवाक्य है। उनमें द्वितीय श्लोक में किये गये प्रश्न के सन्दर्भ में कारणपूर्वक मनु की प्रशंसा है कि 'हम आपके पास ही जिज्ञासा लेकर आये हैं।' तृतीय श्लोक में जाकर यह वाक्य पूर्ण होता है—'क्योंकि आप ही इस विषय के एकमात्र विशिष्ट विद्वान् हैं।' फिर चतुर्थ-पञ्चम श्लोकों से मनु जो उत्तर देना शुरू करते हैं, उसका चुनाव उन्होंने इन्हीं श्लोकों के 'अस्य सर्वस्य' पदों के अनुसार ही किया है। इन श्लोकों का अर्थ इस प्रकार करना चाहिए—

"हे भगवन्! आप सब वर्णों एवं आश्रमों के धर्मों को ठीक-ठीक और क्रमशः बतलाने में समर्थ हैं, क्योंकि, हे प्रभो! इस जगत् के विधानरूप अपौरुषेय, अचिन्त्य और अपरिमितज्ञानयुक्त वेदों के प्रतिपाद्य अथवा व्यावहारिक तत्त्व अर्थात् धर्म और वेदार्थों के ज्ञाता एकमात्र आप ही हैं। (अतः हमें वर्णों एवं आश्रमों के धर्मों का प्रवचन कीजिए)।" इस प्रकार वेदों में जिन बातों को धर्म बतलाया है उनको या वेदों में विहित धर्मों को जानने वाले विशिष्ट विद्वान् मनु हैं। अथवा वेदों का प्रतिपाद्य धर्म भी है, यतोहि १।१२५, १३१ [२।६, १२] श्लोकों में धर्म का मूलस्रोत वेद को ही माना है, इसलिए भी मनु इस विषय के विद्वान् हैं। इसी विषय का मनु को प्रवचन करना है और इसी विषय में उनसे प्रश्न किया गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि जो पृष्ट-विषय है उसी के सन्दर्भ में मनु की प्रशंसा है, जो प्रशंसित एवं पृष्ट-विषय है उसी का मनुस्मृति में प्रतिपादन है, यह सुसंगति बन जाती है।

(ग) इन श्लोकों में संक्षेप में मनु से यह कहा है कि 'इस जगत् के विधानरूप अपौरुषेय वेदों के धर्मों को जानने वाले आप हैं अतः हमें वर्णों एवं आश्रमों के धर्मों को कहिए।' मनु ने श्लोकों में अन्तर्निहित जिज्ञासाओं के अनुसार ही अपने उत्तर को प्रारम्भ किया—यह जगत्, जिसके लिए वेदों को विधानरूप में रचा, इसकी क्या स्थिति है? [१।५–८७], वेद जगत् के विधानरूप कैसे हैं? क्योंकि वे ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं और उन्हीं से कर्मों, नामों का विभाजन तथा निर्धारण किया गया है [१।२१, २३, ८७—९१] वेदों से धर्म की उत्पत्ति कैसे होती है और यह धर्म किन लक्षणों वाला है? [१।१२०—१४४ या २।१—२५] इस प्रकार तृतीय श्लोक से उद्भावित होने वाली जिज्ञासाओं का १।१४४ [२।२५] तक कथन करके फिर द्वितीय श्लोक के मुख्य प्रश्न धर्मों के वर्णन पर आते हैं और १।१४४ [२।२५] में 'वर्णधर्मान् निबोधत' कहकर उनका वर्णन शुरू करते हैं। इस प्रकार तृतीय श्लोक के असंगत अर्थ के कारण इस वर्णन को अप्रासङ्गिक कहने की भ्रान्ति हुई है। (विस्तृत जानकारी के लिए १।३ श्लोक पर 'अनुशीलन' नामक समीक्षा देखिए)।

(घ) १।५ से १।१४४ (अन्य संस्करणों के अनुसार २।२५) श्लोकों का यह

वर्णन मनुस्मृति की भूमिका रूप है। और जिस प्रकार भूमिका में लेखक अपने विषय

से सम्बद्ध सभी आवश्यक संभावित बातों की जानकारी दिया करता है, इसी प्रकार मनु ने धर्मों से सम्बद्ध सभी आवश्यक संभावित जिज्ञासाओं के समाधान के लिए इस वर्णन को प्रारम्भ किया है। विषय की दृष्टि से यह आवश्यक भी था। मनु ने इस वर्णन में जिन बातों का संक्षेप में वर्णन किया है, धर्मों का अध्ययन करते समय वे शङ्कायें सभी के मन में उठनी स्वाभाविक हैं, अतः भूमिका के वर्णन से मनु ने पहले ही उनके विषय में अपना मत प्रकट कर दिया है। जैसे—मनुस्मृति में जिन धर्मों का वर्णन किया जा रहा है उनकी उत्पत्ति कहाँ से हुई ? [१। १२६ या २। १०] उस धर्म का क्या लक्षण है ? [१। १२५, १३१ या २। ६, १२] जिस जगत् में धर्म की आवश्यकता है उसकी क्या स्थिति है ? उसमें कर्मानुसार जीवों की गतियाँ किस प्रकार हैं ? [१। ५-८७, १। ४२-५०] जिससे व्यक्ति धर्म के प्रति प्रेरित हो सके। धर्मोत्पत्ति जगदाश्रित है, इसलिए धर्मोत्पत्ति से पूर्व जगदुत्पत्ति का वर्णन है। वेदों को धर्म का स्रोत इसलिए माना है क्योंकि वे अपौरुषेय हैं [१। २१-२३]। इस जगत् का उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकर्त्ता सर्वशक्तिमान् परमात्मा है, वही वेदों और वेदों के द्वारा धर्मों का विधान करने वाला है, अतः उस ईश्वर द्वारा विहित धर्मों का मनुष्यों को पालन करना चाहिए, इत्यादि बातों की जानकारी के लिए ही मनु जी ने यह वर्णन भूमिका के रूप में प्रस्तुत किया है। संध्या के मन्त्रों में 'ऋतञ्च सत्यञ्च' आदि तीन मन्त्र हैं, उनको वेदोत्पत्ति, भाववृत्त अर्थात् सृष्टि-उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का वर्णन करने वाला कहा गया है एवं इन मन्त्रों को 'अघमर्षण' अर्थात् पाप दूरीकरणार्थ कहा जाता है। क्योंकि धर्माचरण से अधर्म की निवृत्ति होती है। अतः मनुस्मृति में कथित ये श्लोक अप्रासङ्गिक नहीं हैं। अघमर्षण मन्त्रों में वेद की उत्पत्ति ईश्वर से बताई है।

(४) **मनुस्मृति की साङ्गोपाङ्ग शैली**—मनु ने साङ्गोपाङ्ग शैली अपनायी है। प्राचीन शास्त्रों में इस शैली का प्रचलन था, यथा—'**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**' '**जन्माद्यस्य यतः**' (वेदान्त १।१–२)। इस शैली की यह पद्धति है कि सबसे महान् तत्त्व परमेश्वर के वर्णन को प्रारम्भ करके क्रमानुसार अपने विषय पर लाया जाता है। इससे दो बातों का संकेत मिलता है कि उस शास्त्र का चरमप्रयोजन ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त करना है और उस विषय का उस परम तत्त्व से सम्बन्ध है। इसी प्रकार मनुस्मृति में भी धर्मों का सम्बन्ध ईश्वर से दर्शाया है क्योंकि धर्म वेदों के माध्यम से ईश्वर द्वारा निर्दिष्ट हैं, और इन धर्मों का पालन करके मोक्षप्राप्ति या आत्मज्ञान प्राप्त करने योग्य बनाना इन शास्त्रों का चरम-उद्देश्य है। जैसे कहा भी है—"**ब्राह्मीयं क्रियते तनुः** [२। २८ या इस संस्करण में २। १]।

जगदुत्पत्ति और उसका क्रम—

ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥ ६॥ (६)

(ततः) तब (स्वयम्भूः) अपने कार्यों को करने में स्वयं समर्थ, किसी

दूसरे की सहायता की अपेक्षा न रखने वाला (अव्यक्तः) स्थूल रूप में प्रकट न होने वाला (तमोनुदः) 'तम' रूप प्रकृति का प्रेरक=प्रकटावस्था की ओर उन्मुख करने वाला (महाभूतादि वृत्तौजाः) अग्नि, वायु आदि महाभूतों को,'आदि'शब्द से महत् अहङ्कार आदि को भी [१ । १४ – १५] उत्पन्न करने की महान् शक्ति वाला (भगवान्) परमात्मा (इदम्) इस समस्त संसार को (व्यञ्जयन्) प्रकटावस्था में लाते हुए ही (प्रादुरासीत्) प्रकट हुआ ॥ ६ ॥ +

अनुशीलन : (१) **स्वयम्भू का सही अर्थ**—यहां कुल्लूकभट्ट आदि टीकाकारों ने 'स्वयम्भूः' का अर्थ 'स्वेच्छा से शरीर धारण करने वाला' (स्वेच्छया शरीरपरिग्रहं करोति) यह विरुद्ध अर्थ किया है। इसी श्लोक में परमात्मा के लिए 'अव्यक्तः' विशेषण प्रयुक्त है जिसका अर्थ है—'जो कभी स्थूल रूप में प्रकट नहीं होता।' इससे स्पष्ट है कि परमात्मा सदा सूक्ष्म रूप में ही रहता है, कभी शरीरधारण नहीं करता। इसके विरुद्ध होने से कुल्लूक का उक्त अर्थ अमान्य है।

इस प्रसङ्ग में महर्षि दयानन्द द्वारा प्रदत्त 'स्वयम्भू' शब्द की व्युत्पत्ति उल्लेखनीय है—"(भू सत्तायाम्) 'स्वयम्' पूर्वक इस धातु से 'स्वयम्भू' शब्द सिद्ध होता है। 'यः स्वयं भवति स स्वयंभूरीश्वरः' जो आप से आप ही है, किसी से कभी उत्पन्न नहीं हुआ है, इससे उस परमात्मा का नाम "स्वयम्भू' है।" (स० प्र० प्र० समु०) प्रमाण रूप में इसी श्लोक की समीक्षा वेदमन्त्र 'घ' भाग देखिए।

(२) **परमात्मा की प्रकटता से अभिप्राय**—परमात्मा के प्रकट होने से भी यहां तात्पर्य 'जगत् को प्रकटावस्था में लाते हुए ही प्रकट होने' से है। इसी भाव की ओर इंगित करने के लिए ही मनु ने '**व्यञ्जयन् इदम्**' पाठ का प्रयोग किया है। यदि मनु को स्वतन्त्र रूप से अथवा बिना जगत् की प्रकटता के ही परमात्मा की प्रकटता अभीष्ट होती तो वे परमात्मा की प्रकटता के साथ जगत् की व्यक्तता वर्णित नहीं करते, अपितु पहले स्वतन्त्र रूप से परमात्मा की उत्पत्ति दर्शाते, परमात्मा की उत्पत्ति के बाद फिर जगत् की उत्पत्ति का वर्णन करते। जगत् की प्रकटता को देखकर ही परमात्मा की सत्ता प्रतीत होती है। जगत् को प्रकटावस्था में लाना ही परमात्मा की प्रकटता या उत्पत्ति है, जगत् को प्रलयावस्था में लाना उसकी अप्रकटता है। १ । ५२—५४ श्लोकों में परमात्मा की इन्हीं अवस्थाओं को क्रमशः 'जाग्रत्' और 'सुषुप्ति' कहा है। इन श्लोकों से उक्त बातों की पुष्टि भलीभांति हो जाती है। अतः इस श्लोक में किसी शरीरधारी के रूप में परमात्मा की उत्पत्ति प्रदर्शित करना अशुद्ध एवं मनुस्मृति के विरुद्ध है।

+ [प्रचलित अर्थ—तब स्वयम्भू (स्वेच्छा से शरीर धारण करने वाले), अव्यक्त=इन्द्रियों के अगोचर (नेत्र आदि इन्द्रियों से नहीं किन्तु योग से प्रत्यक्ष होने योग्य), अपरिमित सामर्थ्य वाले और अन्धकार दूर करने वाले (प्रकृति-प्रेरक), भगवान् आकाश आदि महाभूतों को व्यक्त करते हुए प्रकट हुए ॥ ६ ॥]

(३) **सृष्ट्युत्पत्ति विषयक वेदमन्त्रों के प्रमाण**—नीचे प्रमाण रूप में वेदों के सृष्ट्युत्पत्ति एवं पुरुषसूक्त के कुछ ऐसे मन्त्र उद्धृत किये जा रहे हैं जिनसे सृष्ट्युत्पत्ति विषय पर प्रकाश पड़ता है। इनमें परमेश्वर को निराकार, अजन्मा आदि दर्शाया गया है। मनु ने इन्हीं भावों को १।५—६ श्लोकों में संकलित किया है—

(क) **"तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्॥**

(ऋ० १०। १२९। ३)

यह सब जगत् सृष्टि से पहिले अन्धकार से आवृत, रात्रिरूप में जानने के अयोग्य आकाशरूप सब जगत् तथा तुच्छ अर्थात् अनन्त परमेश्वर के एकदेशी आच्छादित था, पश्चात् परमेश्वर ने अपने सामर्थ्य से कारणरूप से कार्यरूप कर दिया॥"

(स० प्र० २०७)

(ख) **"नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीत् गहनं गभीरम्॥**

(ऋ० १०। १२९। १)

(नासदासीत्) जब यह कार्यसृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी तब एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर और दूसरा जगत् का कारण अर्थात् जगत् बनाने की सामग्री विराजमान थी, उस समय (असत्) शून्यनाम आकाश अर्थात् जो नेत्रों से देखने में नहीं आता सो भी नहीं था, क्योंकि उस समय उसका व्यवहार नहीं था (नो सदासीत् तदानीं०) उस काल में सत् अर्थात् सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण मिलाके जो प्रधान कहाता है, वह भी नहीं था (नासीद्रजः) उस समय परमाणु भी नहीं थे तथा (नो व्योमा०) विराट् अर्थात् जो सब स्थूल जगत् के निवास का स्थान है सो भी नहीं था (किमाव०) जो यह वर्त्तमान जगत् है वह भी शुद्ध ब्रह्म को नहीं ढक सकता जैसे कोहरा का जल पृथिवी को नहीं ढक सकता। उस जल से नदी में प्रवाह नहीं चल सकता और न कभी वह गहरा और उथला हो सकता है। इससे क्या जाना जाता है कि परमेश्वर अनन्त है और जो यह उसका बनाया जगत् है सो ईश्वर की अपेक्षा से कुछ भी नहीं है।"

(ऋ० भू० ११७)

(ग) **"प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।"**

(यजु० ३१। १९)

जो प्रजा का पति अर्थात् सब जगत् का स्वामी है वही जड़ और चेतन के भीतर और बाहर अन्तर्यामी रूप से सर्वत्र व्याप्त हो रहा है, जो सब जगत् को उत्पन्न करके अपने आप सदा अजन्मा रहता है।" (ऋ० भू० १३३)

(घ) निम्न वेद-मन्त्र में परमेश्वर को 'स्वयम्भू' विशेषण से अभिहित करते

हुए सूक्ष्म, अन्तर्यामी, शरीररहित, जन्म-मरण रहित और सृष्टि तथा वेदार्थों का प्रकाशक कहा है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

(यजु० ४० । ८)

(ङ) "**हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।**
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

(ऋ० १० । १२१ । १)

हे मनुष्यो ! जो सब सूर्यादि तेजस्वी पदार्थों का आधार और जो यह जगत् हुआ है और होगा उसका एक अद्वितीय पति परमात्मा इस जगत् की उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान था और जिसने पृथिवी से लेके सूर्य्यपर्यन्त जगत् को उत्पन्न किया है।"

(स० प्र० २०७)

(च) "**पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।**
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ (यजु० ३१ । २)

(पुरुष एवे०) जो पूर्वोक्त विशेषणसहित पुरुष अर्थात् परमेश्वर है सो जो जगत् उत्पन्न हुआ था, जो होगा और जो इस समय में है, इस तीन प्रकार के जगत् को वही रचता है, उससे भिन्न दूसरा कोई जगत् का रचने वाला नहीं है, क्योंकि वह (ईशान) अर्थात् सर्वशक्तिमान् है (अमृत) जो मोक्ष है उसका देने वाला एक वही है, दूसरा कोई नहीं; सो परमेश्वर (अन्न) अर्थात् पृथिव्यादि जगत् के साथ व्यापक होके स्थित है और इससे अलग भी है क्योंकि उसमें जन्म आदि व्यवहार नहीं हैं और अपने सामर्थ्य से सब जगत् को उत्पन्न भी करता है और आप कभी जन्म नहीं लेता।"

(ऋ० भू० १२०)

(छ) "**तस्य त्वष्टा विदधत् रूपमेति ।**" (यजु० ३१ । १७)

जब जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था तब वह ईश्वर के सामर्थ्य में कारणरूप से वर्तमान था। जब-जब ईश्वर अपने सामर्थ्य से इस कार्यरूप जगत् को रचता है तब-तब कार्यजगत् रूप गुणवाला होके स्थूल बनके देखने में आता है।" (ऋ० भू० १३१)

प्रकृति से महत् आदि तत्त्वों की उत्पत्ति—

उद्बबर्हाऽऽत्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम् ।
मनसश्चाप्यहंकारमभिमन्तारमीश्वरम् ॥ १४ ॥ (७)
महान्तमेव चाऽऽत्मानं सर्वाणि त्रिगुणानि च ।
विषयाणां ग्रहीतॄणि शनैः पञ्चेन्द्रियाणि च ॥ १५ ॥ (८)

(च) और फिर उस परमात्मा ने (आत्मनः एव) स्वाश्रयस्थित कृति से (सद्-असद्+आत्मकम्) जो कारणरूप में विद्यमान रहे और

विकारी अंश से कार्यरूप में जो अविद्यमान रहे, ऐसे स्वभाव वाले (मनः) 'महत्' नामक तत्त्व को (च) और (मनसः अपि) महत्तत्त्व से (अभिमन्तारम्) 'मैं हूँ' ऐसा अभिमान करने वाले (ईश्वरम्) सामर्थ्यशाली (अहंकारम्) 'अहंकार' नामक तत्त्व को (च) और फिर उससे (सर्वाणि त्रिगुणानि) सब त्रिगुणात्मक पांच तन्मात्राओं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध को [१ । १९, २७] (च) तथा (आत्मानम् एव महान्तम्) आत्मोपकारक अथवा निरन्तर गमनशील 'मन' इन्द्रिय को (च) और (विषयाणां ग्रहीतृणि) विषयों को ग्रहण करने वाली (पञ्चेन्द्रियाणि) दोनों वर्गों की पांचों ज्ञानेन्द्रियों—आंख, नाक, कान, जिह्वा, त्वचा एवं चकार से पांच कर्मेन्द्रियों—हाथ, पैर, वाक्, उपस्थ, पायु, को [२ । ६४—६६] (शनैः) यथाक्रम से (उद्बबर्ह) उत्पन्न कर प्रकट किया ॥१४,१५॥ [शेष उत्पत्ति अगले श्लोक में है]*

अनुशीलन : '१४-१५ श्लोकों के अर्थ में भ्रान्ति और सृष्ट्युत्पत्ति की प्रक्रिया—इन दोनों श्लोकों के अर्थ को सही रूप में न समझने के कारण टीकाकारों एवं आलोचकों को भ्रान्ति का शिकार होना पड़ा है। टीकाकारों ने सृष्टि-उत्पत्ति की प्रक्रिया का यहाँ प्रतिक्रम से वर्णन माना है और 'मनः सदसदात्मकम्' का संकल्प-विकल्पात्मक मन अर्थ किया है और फिर मन से पूर्व अहंकार, अहंकार से पूर्व महत् इत्यादि रूप में अर्थ किया है। लेकिन वह 'प्रतिक्रम' भी क्रमबद्ध रूप से नहीं सिद्ध हो पाया, क्योंकि १५वें श्लोक में महत्तत्त्व के बाद इन्द्रियों का वर्णन आ गया। इस अर्थ की भ्रान्ति के कारण आलोचकों ने इन श्लोकों को विशृङ्खलित और भ्रामक घोषित कर दिया। वस्तुतः इन श्लोकों के अर्थ को सही रूप में नहीं समझा गया है। मनुस्मृति का और सांख्यदर्शन का सृष्टि-उत्पत्ति का क्रम मिलता है—'**सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारः, अहंकारात् पंचतन्मात्राणि, उभयमिन्द्रियम्। पञ्चतन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पंचविंशतिर्गणः॥**'

(सांख्य १ । ६१)

(सत्त्व) शुद्ध (रज) मध्य (तमः) जाड्य अर्थात् जड़ता, तीन वस्तु मिलकर जो एक संघात है उसका नाम प्रकृति है। उससे महत्तत्त्व = बुद्धि, उससे अहंकार, उससे

---

* [प्रचलित अर्थ—ब्रह्मा ने परमात्मा से सत्-असत् आत्मा वाले 'मन' की सृष्टि की तथा मन से पहले 'अहम् = मैं इस अभिमान से युक्त एवं अपने कार्य को करने में समर्थ अहंकार की सृष्टि की ॥ १४ ॥ अहंकार से पहले आत्मोपकारक 'महत्' तत्त्व = बुद्धि की तथा सम्पूर्ण त्रिगुण (सत्त्व, रजस् और तमस् से युक्त) विषयों की और रूप-रस आदि विषयों को ग्रहण करने वाली नेत्रादि पांच ज्ञानेन्द्रियों तथा गुदा आदि पांच कर्मेन्द्रियों की तथा पांच शब्दतन्मात्रा आदियों की सृष्टि की ॥१५॥]

पांच तन्मात्रा, सूक्ष्मभूत और दश इन्द्रियां तथा ग्यारहवां मन, पांच तन्मात्राओं से पृथिव्यादि पांच भूत ये चौबीस, और पच्चीसवां पुरुष अर्थात् जीव और परमेश्वर है। इनमें से प्रकृति अविकारिणी और महत्तत्त्व, अहंकार तथा पांच सूक्ष्मभूत प्रकृति का कार्य और इन्द्रियों, मन तथा स्थूल भूतों का कारण है। पुरुष न किसी की प्रकृति = उपादानकारण और न किसी का कार्य है।" (स० प्र० २०६) यही क्रम यहां है।

(२) **'महत्तत्त्व' और 'मन' से अभिप्राय**—'मन' 'महत्' 'बुद्धि' इन शब्दों का पर्यायवाची रूप में प्रयोग विभिन्न शास्त्रों में मिलता है। यहां प्रथम पंक्ति में पठित 'मन' शब्द से अभिप्राय 'महत्' नामक आद्य कार्यतत्त्व से है। 'मन' इन्द्रिय प्रथमकार्य हो ही नहीं सकता। प्रकृति का प्रथम विकार 'महत्' है, अतः यहां उसे ही 'मन' शब्द से व्यवहृत किया है। इसमें सांख्यदर्शन का प्रमाण भी है— "महत् आख्यम् आद्यं कार्यं तन्मनः" [१।७२] अर्थात्—प्रकृति का जो सर्वप्रथम कार्य है, उसे 'महत्' कहते हैं और उसे मन भी कहा जाता है। इस प्रकार इन दोनों शब्दों का प्रयोग पर्याय के रूप में हुआ है।

और १५वें श्लोक की प्रथम पंक्ति में पठित 'महान्तम्' से अभिप्राय 'मन' इन्द्रिय से है। इसकी पुष्टि 'आत्मानम्' विशेषण से ही हो जाती है। 'मन' इन्द्रिय का ही आत्मा के साथ सम्बन्ध रहता है। 'अत् सातत्यगमने' धातु के अनुसार 'आत्मानम्' का अर्थ निरन्तर गमनशील बनता है। मन का यही स्वभाव है। इस प्रकार दोनों श्लोकों का अर्थ निर्भ्रान्ति और उचितक्रमयुक्त बन जाता है। चरकशास्त्र ने शारीर-स्थान अ० १।६२—६६ श्लोकों में इसी प्रक्रिया को प्रामाणिक मानकर वर्णन किया है।

(३) **'आत्मनः उद्बबर्ह' का अर्थ**—यहां 'आत्मनः उद्बबर्ह' पद प्रयोग से यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि मन आदि तत्त्व परमात्मा के किसी अंश से बने हैं, जैसा कि नवीन वेदान्त में माना जाता है। मनु० १२।२४ में प्रकृति के पर्यायवाची रूप में 'आत्मा' पद का प्रयोग किया है। यह 'आत्मा' नामक प्रकृति सत्त्व, रज, तम युक्त है और इसका प्रथम विकार 'महान्' है। यहां इसका अभिप्राय है—'इन तत्त्वों को अपने आश्रय या स्वाश्रयस्थित प्रकृति से उत्पन्न कर प्रकट किया।' व्यापक ब्रह्म अपने भीतर व्याप्य प्रकृति और परमाणु कारण से स्थूल जगत् को बनाकर बाहर स्थूलरूप कर आप उसी में व्यापक होके साक्षीभूत आनन्दमय हो रहा है।" (स० प्र० २१२) "जो जिससे सूक्ष्म होता है वही उसकी आत्मा है अर्थात् स्थूल में सूक्ष्म व्यापक होता है, जैसे लोहे में अग्नि प्रविष्ट होके उसके सब अवयवों में व्याप्त होता है।" (ऋ० भू० ४१) इस प्रकार महत् आदि की 'प्रकृति' आत्मा है. अतः यहां

'आत्मनः' से अभिप्राय 'प्रकृति' से है। इसकी पुष्टि में [illegible] श्लोक प्रमाण हैं। वहां यह स्पष्ट किया गया है कि प्रलयावस्था के समय यह समस्त जगत्

अपने प्रकृतिरूप में होकर सर्वव्यापक परमात्मा के आश्रय में लीन हो जाता है। पुनः उत्पत्ति के समय परमात्मा उन्हें अपने आश्रय से निकाल कर जिलाता है—तत्त्वों को संयुक्त करता है।

पञ्चमहाभूतों की सृष्टि का वर्णन—

तेषां त्ववयवान्सूक्ष्मान् षण्णामप्यमितौजसाम् ।
सन्निवेश्याऽऽत्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्ममे ॥ १६ ॥ (९)

(तेषां तु) ऊपर [१४—१५ में] वर्णन किये गये उन तत्त्वों में से (अमित-ओजसाम्) अत्यधिक शक्तिवाले (षण्णाम्+अपि) छहों तत्त्वों के (सूक्ष्मान् अवयवान्) सूक्ष्म अवयवों=शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांच तन्मात्रायें तथा छठे अहंकार के सूक्ष्म अवयवों को (आत्ममात्रासु) इनके आत्मभूत तत्त्वों के विकारी अंशों अर्थात् कारणों में मिलाकर (सर्व भूतानि) सब पांचों सूक्ष्म महाभूतों—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी की (निर्ममे) सृष्टि की ॥ १६ ॥+

अनुशीलन : (१) **पञ्चतन्मात्राओं से पंचमहाभूतों की उत्पत्ति—** जो जिससे सूक्ष्म होता है वह उस स्थूल की आत्मा होता है। अहंकार से पञ्च-तन्मात्राओं की उत्पत्ति हुई है अतः अहंकार पञ्चतन्मात्राओं की आत्मा कहलायेगा। इस प्रकार पञ्चभूतों की रचना की प्रक्रिया और क्रम यह बना—पञ्चतन्मात्राओं के आत्मरूप तत्त्व अहंकार के विकारी अंश और आकाश के सूक्ष्म अवयवों=शब्द-तन्मात्राओं के मिलने से 'आकाश' नामक सूक्ष्म महाभूत की रचना हुई। वायु के आत्मभूत तत्त्व आकाश के विकारी अंश तथा वायु के सूक्ष्म अवयवों स्पर्शतन्मात्राओं के मिलने से 'वायु' नामक महाभूत की रचना हुई। अग्नि के आत्मभूत तत्त्व वायु के विकारी अंश के साथ अग्नि के सूक्ष्म अवयव अर्थात् रूपतन्मात्राओं के संयोग से 'अग्नि नामक महाभूत की रचना हुई। जल के आत्मभूततत्त्व अग्नि के विकारी अंश के साथ जल के सूक्ष्म अवयव अर्थात् रसतन्मात्रा के संयोग से 'जल' नामक महाभूत बना और पृथिवी के आत्मभूत तत्त्व जल के विकारी अंश के साथ पृथिवी के सूक्ष्म अवयव अर्थात् गन्धतन्मात्रा के संयोग से 'पृथिवी' नामक सूक्ष्म महाभूत की रचना हुई। [द्रष्टव्य १। ७५—७८ श्लोक]

(२) **१६ वें श्लोक का संगत अर्थ**—सभी टीकाकारों ने इस श्लोक का त्रुटि-पूर्ण और असङ्गत अर्थ किया है। (१) टीकाकारों ने इसमें **'सर्वभूतानि निर्ममे'** 'सब प्राणियों की सृष्टि की' यह अर्थ किया है। यहां यह अर्थ करने की न तो संगति

+ [**प्रचलित अर्थ—अनन्त शक्ति** वाले उन छह (अहंकार, रूप, रस, गन्ध, **स्पर्श और शब्द) के सूक्ष्म अवयवों** को उन्हीं के अपने-अपने विकारों में मिलाकर सब प्राणियों की सृष्टि की ॥]

ही है और प्राणियों की उत्पत्ति कह देने से उत्पत्ति का प्रसङ्ग समाप्त-सा हो जाता है। पुनः १६, २० श्लोकों में समग्र जगत् की जो एकसाथ उत्पत्ति दर्शायी है, वह पुनरुक्ति-सी हो जाती है और छः सूक्ष्म अवयवों से प्राणिजगत् की उत्पत्ति मानने से १९वें श्लोक के सात अवयवों द्वारा जगत्-रचना के कथन से भिन्नता आती है। यहां संगत अर्थ पञ्चभूतों की उत्पत्ति का ही है। अभी सृष्टि-उत्पत्ति के मूलतत्त्वों के वर्णन का प्रसंग चल रहा है। १५वें श्लोक में इन्द्रियों की उत्पत्ति कह दी है। उसके पश्चात् पञ्चभूतों का क्रम आता है, उनका संकेत इस श्लोक में है। इस प्रकार सभी तत्त्वों की उत्पत्ति का क्रमबद्ध वर्णन पूरा हो जाता है। इसकी पुष्टि १।७४—७८ श्लोकों से होती है। इन श्लोकों में पञ्चभूतों की उत्पत्ति का विस्तृत वर्णन ठीक इसी प्रकार किया है। इस तरह अर्थ करने से संगति तथा क्रमबद्धता आ जाती है और विरोध आदि त्रुटियां दूर हो जाती हैं।

(३) सृष्टि-उत्पत्ति विषय में शास्त्रों में अविरोध या विरोध—

प्रसङ्ग से यहां यह जिज्ञासा पैदा होती है—

(प्रश्न) सृष्टि-विषय में वेदादि शास्त्रों का अविरोध है वा विरोध ?

(उत्तर) अविरोध है।

(प्रश्न) जो अविरोध है तो—

"तस्माद्वा एतस्मात् आत्मनः आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः, स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः॥" (ब्रह्मा० १)

यह तैत्तिरीय उपनिषद् का वचन है। उस परमेश्वर और प्रकृति से आकाश=अवकाश अर्थात् जो कारणरूप द्रव्य सर्वत्र फैल रहा था उसको इकट्ठा करने से अवकाश उत्पन्न होता है। वास्तव में आकाश की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि बिना आकाश के प्रकृति और परमाणु कहाँ ठहर सकें। आकाश के पश्चात् वायु, वायु के पश्चात् अग्नि, अग्नि के पश्चात् जल, जल के पश्चात् पृथिवी, पृथिवी से ओषधि, ओषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से पुरुष अर्थात् शरीर उत्पन्न होता है; यहां आकाशादि क्रम से और छान्दोग्य में अग्न्यादि, ऐतरेय में जल आदि क्रम से सृष्टि हुई। वेदों में कहीं पुरुष कहीं हिरण्यगर्भ आदि से; मीमांसा में कर्म, वैशेषिक में काल, न्याय में परमाणु, योग में पुरुषार्थ, सांख्य में प्रकृति और वेदान्त में ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति मानी है। अब किसको सच्चा और किसको झूठा मानें ?

(उत्तर) इसमें सब सच्चे, कोई झूठा नहीं। झूठा वह है जो विपरीत समझता है, क्योंकि परमेश्वर निमित्त और प्रकृति जगत् का उपादान कारण है। जब महाप्रलय होता है, उसके पश्चात् आकाशादि क्रम अर्थात् जब आकाश और वायु का प्रलय नहीं होता और अग्नि आदि का होता है, अग्नि आदि क्रम से और जब विद्युत्=अग्नि का भी नाश नहीं होता तब जल क्रम से सृष्टि होती है। अर्थात् जिस-

जिस प्रलय में जहां-जहां तक प्रलय होता है वहां-वहां से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। पुरुष और हिरण्यगर्भ आदि सब नाम परमेश्वर के हैं। परन्तु विरोध उसको कहते हैं कि एक कार्य में एक ही विषय पर विरुद्ध वाद होवे। छः शास्त्रों में अविरोध देखो इस प्रकार है—मीमांसा में—"ऐसा कोई भी कार्य जगत् में नहीं होता कि जिसके बनाने में कर्म-चेष्टा न की जावे," वैशेषिक में—"समय न लगे बिना बने ही नहीं", न्याय में—"उपादान कारण न होने से कुछ नहीं बन सकता", सांख्य में—"तत्त्वों का मेल न होने से नहीं बन सकता", और वेदान्त में "बनाने वाला न बनावे तो कोई भी पदार्थ उत्पन्न न हो सके" इसलिए सृष्टि छः कारणों से बनती है। उन छः कारणों की व्याख्या एक-एक की एक शास्त्र में है। इसलिए उनमें विरोध कुछ भी नहीं। जैसे छः पुरुष मिलके एक छप्पर उठाकर भित्तियों पर धरें वैसा ही सृष्टिरूप कार्य की व्याख्या छः शास्त्रकारों ने मिलकर पूरी की है।"

(स० प्र० २१९—२२०)

सूक्ष्म-शरीर से आत्मा का संयोग—

तदाविशन्ति भूतानि महान्ति सह कर्मभिः ।
मनश्चावयवैः सूक्ष्मैः सर्वभूतकृदव्ययम् ॥ १८ ॥ (१०)

(तदा) तब जगत् के तत्त्वों की सृष्टि होने पर (सह कर्मभिः) अपने-अपने कर्मों के साथ (महान्ति भूतानि) शक्तिशाली सभी सूक्ष्म महाभूत (च) और (सूक्ष्मैः अवयवैः मनः) समस्त सूक्ष्म अवयवों अर्थात् इन्द्रियादि के साथ मन (सर्वभूतकृत्+अव्ययम्) सब भौतिक प्राणि-शरीरों को जन्म=जीवनरूप देने वाले अविनाशी आत्मा को [क्योंकि जीवात्मा के संयोग से ही समस्त शरीरों में जीवन आता है और उसके वियोग से समाप्त हो जाता है।] (आविशन्ति) आवेष्टित करते हैं [और इस प्रकार सूक्ष्म शरीर की रचना होती है] ॥ १८ ॥*

अनुशीलन : (१) पंचमहाभूतों के कर्म—पञ्चभूतों में आकाश का कर्म अवकाश देना है, वायु का गति, तेज का पाक, जल का एकत्रीकरण और पृथिवी का कर्म धारण करना है।

(२) १८वें श्लोक का संगत अर्थ—प्रायः सभी टीकाकारों ने इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया है—'विनाश-रहित एवं सब भूतों के कर्त्ता उस ब्रह्म से अपने-अपने कर्मों से युक्त पञ्चमहाभूत आकाश आदि और सूक्ष्म अवयवों के साथ मन की सृष्टि हुई।'

---

* [प्रचलित अर्थ—विनाशरहित एवं सब भूतों के कर्त्ता उस ब्रह्म से अपने-अपने कर्मों से युक्त पञ्चमहाभूत आकाश आदि और सूक्ष्म अवयवों के साथ मन की सृष्टि हुई ॥ १८ ॥]

इस अर्थ में निम्न त्रुटियाँ आती हैं—

(क) १। १४–१५ में मन की उत्पत्ति स्पष्ट रूप से कही जा चुकी है, दो श्लोकों के बाद पुनः मन की उत्पत्ति कहने की क्या आवश्यकता थी? इस प्रकार यह अनावश्यक पुनरुक्ति बन जाती है।

(ख) टीकाकारों के इन अर्थों से वर्णन की कोई क्रमबद्ध संगति नहीं जुड़ती। १४-१५ श्लोकों में मन आदि तत्त्वों की उत्पत्ति वर्णित कर दी। १६वें में सब प्राणियों की उत्पत्ति दिखा दी। १७वें में परमात्मा के प्रकृति रूपी शरीर का निर्वचन दिखा दिया। फिर १८वें में पुनः मन आदि की उत्पत्ति कह दी। १९वें में फिर एक बार समस्त जगत् की उत्पत्ति दर्शा दी। इस प्रकार कोई क्रम नहीं बनता।

(ग) १६वें श्लोक में छः तत्त्वों द्वारा प्राणिजगत् की रचना का कथन करने से और १९वें में सात तत्त्वों द्वारा समस्त जगत् की उत्पत्ति का कथन करने से भिन्न कथन होने से विरोध आता है।

(घ) मनु ने जब सृष्ट्युत्पत्ति का विषय प्रारम्भ करके सभी तत्त्वों की उत्पत्ति दर्शायी है तो यह भी आवश्यक है कि उन तत्त्वों का आत्मा के साथ संयोग भी प्रदर्शित होना चाहिए। जीव के साथ तत्त्वों का संयोग प्रदर्शित न करने पर उत्पत्ति-वर्णन अधूरा ही रह जाता है और मनुस्मृति में तो इस बात का वर्णन और भी आवश्यक है क्योंकि मानव धर्म ही मनुस्मृति का अभीष्ट विषय है। केवल स्थूल जगत् की उत्पत्ति बताना इसका मुख्य विषय नहीं है। किन्तु प्रचलित टीकाओं में श्लोक के अर्थ जिस प्रकार किये गये हैं उनमें कहीं यह प्रसङ्ग नहीं आता। इस प्रकार यह अभाव पाठकों को खटकता है।

इस भाष्य में प्रस्तुत अर्थों के अनुसार ये सब त्रुटियां दूर हो जाती हैं तथा अन्य शास्त्रों की भांति सृष्ट्युत्पत्ति-वर्णन में पूर्णता और क्रमबद्धता भी बनी रहती है।

(ङ) सूक्ष्म शरीर के घटक—"पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच सूक्ष्मभूत और मन तथा बुद्धि इन सत्रह तत्त्वों का समुदाय 'सूक्ष्मशरीर' कहाता है। यह सूक्ष्म शरीर जन्म-मरणादि में भी जीव के साथ रहता है।" (स० प्र० नवम समु०) पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच सूक्ष्मभूत १।१४-१५ में परिगणित हैं। प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान ये पांच प्राण हैं।

समस्त विनश्वर संसार की उत्पत्ति—

तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम्।
सूक्ष्माभ्यो मूर्तिमात्राभ्यः सम्भवत्यव्ययाद्व्ययम् ॥१९॥ (११)

[इस प्रकार] (अव्ययात्) विनाशरहित परमात्मा से [और द्वितीयार्थ में] सृष्टि के मूल कारण अविनाशिनी प्रकृति से (तेषां तु) उन्हीं [१४-१५ में वर्णित] (महौजसाम्) महाशक्तिशाली (सप्तानां पुरुषाणाम्) सात

तत्त्वों—महत्, अहंकार तथा पाँच तन्मात्राओं के (सूक्ष्माभ्यः मूर्तिमात्राभ्यः) जगत् के पदार्थों का निर्माण करने वाले सूक्ष्म विकारी अंशों से (इदम् व्ययम्) यह दृश्यमान विनाशशील विकाररूप जगत् (सम्भवति) उत्पन्न होता है ॥ १९ ॥

अनुशीलन : यह समस्त विनाशशील जगत् संक्षेप में निम्न प्रक्रिया से प्रकटरूप में आता है। गत श्लोकों में यही प्रक्रिया और क्रम बतलाया है—

(१) **सृष्टि-उत्पत्ति का क्रम**—"जब सृष्टि का समय आता है, तब परमात्मा उन परमसूक्ष्म पदार्थों को इकट्ठा करता है। उसकी प्रथम अवस्था में जो परमसूक्ष्म प्रकृतिरूप कारण से कुछ स्थूल होता है उसका नाम महत्तत्त्व, और जो उससे कुछ स्थूल होता है उसका नाम अहंकार और अहंकार से भिन्न-भिन्न पाँच—सूक्ष्मभूत श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, घ्राण पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ; वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा, ये पाँच कर्म इन्द्रियां हैं और ग्यारहवां मन कुछ स्थूल उत्पन्न होता है। और उन पंच-तन्मात्राओं से अनेक स्थूलावस्थाओं को प्राप्त करते हुए क्रम से पाँच स्थूलभूत जिनको हम लोग प्रत्यक्ष देखते हैं, उत्पन्न होते हैं। उनसे नाना प्रकार की ओषधियाँ, वृक्ष आदि, उनसे अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से शरीर होता है, परन्तु आदि सृष्टि मैथुनी नहीं होती, क्योंकि जब स्त्री-पुरुषों के शरीर परमात्मा बनाकर उनमें जीवों का संयोग कर देता है तदनन्तर मैथुनी सृष्टि चलती है।" (स प्र० २२२)

(२) **पुरुष के महत्तत्त्व आदि अर्थ**—निरुक्त २।१।३ में पुरुष की व्युत्पत्ति दी है—"पुरिशयः=पुरुषः।" इस आधार पर अपने कार्यपदार्थों में सूक्ष्मरूप से शयन करने अर्थात् स्थित रहने से महत्तत्त्व आदि सूक्ष्म तत्त्व 'पुरुष' कहलाते हैं। शत० ब्राह्मण में 'वायु' और 'अग्नि' महाभूत को 'पुरुष' संज्ञा से अभिहित किया गया है [१३।६।२।१; १०।४।१।६]।

(३) **सृष्टि में मनुष्यों की उत्पत्ति**—

"(प्रश्न) मनुष्य की सृष्टि प्रथम हुई वा पृथिवी आदि की?

(उत्तर) पृथिवी आदि की, क्योंकि पृथिवी आदि के बिना मनुष्य की स्थिति और पालन नहीं हो सकता।" (स० प्र० २२३)

"(प्रश्न) सृष्टि के आदि में एक वा अनेक मनुष्य उत्पन्न किये थे?

(उत्तर) अनेक, क्योंकि जिन जीवों के कर्म ऐश्वरी सृष्टि में उत्पन्न होने के थे उनका जन्म सृष्टि के आदि में ईश्वर देता, क्योंकि "**मनुष्या ऋषयश्च ये। ततो मनुष्या अजायन्त**" यह यजुर्वेद में लिखा है। इस प्रमाण से यही निश्चय है कि आदि में अनेक अर्थात् सैकड़ों, सहस्रों मनुष्य उत्पन्न हुए और सृष्टि में देखने से भी निश्चित होता है कि मनुष्य अनेक माँ-बापों की सन्तान हैं।" (स० प्र० २२३)

पञ्चमहाभूतों के गुणों का कथन—

आद्याद्यस्य गुणं त्वेषामवाप्नोति परः परः।
यो यो यावतिथश्चैषां स स तावद्गुणः स्मृतः ॥ २० ॥ (१२)

(एषाम्) इन [१६वें में चर्चित] पञ्चमहाभूतों में (आद्य+आद्यस्य गुणं तु) पूर्व-पूर्व के भूतों के गुण को (परः परः) परला-परला अर्थात् उत्तरोत्तर बाद में उत्पन्न होने वाला भूत प्राप्त करता है (च) और (यः) जो-जो भूत (यावतिथः) जिस संख्या पर स्थित है (सः सः) वह-वह (तावद्गुणः) उतने ही अधिक गुणों से युक्त (स्मृतः) माना गया है ॥ २० ॥

अनुशीलन : **पञ्च महाभूतों का क्रम और गुण**—जैसे, पञ्च-महाभूतों का निश्चित क्रम है—१. आकाश, २. वायु, ३. अग्नि, ४. जल, ५. पृथिवी। उनमें आकाश प्रथम स्थान पर है, इस प्रकार उसका केवल एक अपना शब्द गुण ही है। वायु द्वितीय स्थान पर है, अतः उसके दो गुण हैं—एक अपने से पहले वाले आकाश का शब्द तथा दूसरा अपना स्पर्श गुण। इसी प्रकार तृतीय स्थानीय अग्नि में दो अपने से पहले वाले आकाश और वायु नामक भूतों के क्रमशः शब्द, स्पर्श गुण हैं तथा तीसरा अपना रूप गुण। चतुर्थ स्थानीय जल के इसी प्रकार चार गुण हैं—शब्द, स्पर्श, रूप और रस। पंचमस्थानीय पृथिवी में पांच गुण हैं—शब्द, स्पर्श रूप, रस और गन्ध। इसे तालिका द्वारा निम्न प्रकार स्पष्ट किया जाता है—

पञ्चमहाभूतों का उत्पत्तिक्रम और गुणों की तालिका

(श्लोक १।२०, ७५—७८ के वर्णनानुसार)

	१	२	३	४	५
पञ्च-महाभूतों का उत्पत्ति क्रम	आकाश	वायु	अग्नि	जल	पृथिवी
१. आकाश का निजी गुण	शब्द	शब्द	शब्द	शब्द	शब्द
२. वायु का निजी गुण	×	स्पर्श	स्पर्श	स्पर्श	स्पर्श
३ अग्नि का निजी गुण	×	×	रूप	रूप	रूप
४. जल का निजी गुण	×	×	×	रस	रस
५. पृथिवी का निजी गुण	×	×	×	×	गन्ध
प्रत्येक महाभूत में कुल गुण	१	२	३	४	५

वेदशब्दों से नामकरण एवं विभाग—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवाऽऽदौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥ २१ ॥ (१३)

(सः) उस परमात्मा ने (सर्वेषां तु नामानि) सब पदार्थों के नाम [यथा-गो-जाति का 'गो', अश्वजाति का 'अश्व' आदि] (च) और (पृथक्-पृथक् कर्माणि) भिन्न-भिन्न कर्म [यथा—ब्राह्मण के वेदाध्यापन, याजन; क्षत्रिय का रक्षा करना; वैश्य का कृषि, गोरक्षा, व्यापार आदि (१ । ८७—९१) अथवा मनुष्य तथा अन्य प्राणियों के हिंस्र-अहिंस्र आदि कर्म (१ । २६—३०)] (च) तथा (पृथक् संस्थाः) पृथक्-पृथक् विभाग [जैसे—प्राणियों में मनुष्य, पशु-पक्षी आदि (१ । ४२—४९)] या व्यवस्थाएं [यथा—चार वर्णों की व्यवस्था (१ । ३१, १ । ८७—९१)] (आदौ) सृष्टि के प्रारम्भ में (वेदशब्देभ्यः एव) वेदों के शब्द से ही (निर्ममे) बनायीं अर्थात् मन्त्रों के द्वारा यह ज्ञान दिया ॥ २१ ॥+

अनुशीलन : (१) इस श्लोक के अर्थ पर प्रकाश डालते हुए महर्षि दयानन्द ने लिखा है—

"इस वचन के अनुकूल आर्य लोगों ने वेदों का अनुकरण करके जो व्यवस्था की, वह सर्वत्र प्रचलित है । उदाहरणार्थ—सब जगत् में सात ही वार हैं, बारह ही महीने हैं और बारह ही राशियां हैं, इस व्यवस्था को देखो (पू० प्र० ८९)

वेद में भी कहा है—

शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ (यजु० ४० । ८)

अर्थात् आदि सनातन जीवरूप प्रजा के लिए वेद द्वारा परमात्मा ने सब विद्याओं का बोध किया है ।" (स० प्र० २०८)

(२) **सृष्टि के प्रारम्भ में नामकरण**—अभिप्राय यह है कि सृष्टि के प्रारम्भ में वेदशब्दों के द्वारा ही मनुष्यों को नाम, कर्म, विभाग आदि का ज्ञान हुआ । परमात्मा ने वेदशब्दों के रूप में यह सब ज्ञान दिया । 'निर्ममे' से यहां भाव, नाम, कर्म, विभाग आदि का ज्ञान वेदशब्दों में अन्तर्निहित करके लोगों को अवगत कराने से है ।

(३) **२१वें श्लोक के क्रम पर विचार**—प्रतीत होता है कि यह श्लोक मूलक्रम से खण्डित होकर आगे-पीछे हो गया है । इस श्लोक का किसी प्रक्षेप की प्रवृत्ति से या

+ [प्रचलित अर्थ—हिरण्यगर्भ उसी ब्रह्मा ने सबों के नाम (यथा—'गो' जाति का 'गौ' और 'अश्व' जाति का 'अश्व') और कर्म (यथा—'ब्राह्मणों' का वेदाध्ययन आदि, क्षत्रियों का वेदाध्ययन तथा रक्षण आदि) तथा लौकिक व्यवस्था (यथा—कुम्हार का घट आदि बनाना, बुनकर का कपड़ा बुनना, नापित का क्षौर करना आदि) को पहले वेद-शब्दों से ही जानकर पृथक्-पृथक् बनाये ॥ २१ ॥]

प्रक्षिप्त प्रसंग से कोई सम्बन्ध न होने के कारण इसे प्रक्षिप्त नहीं कहा जा सकता। यह श्लोक क्रम की दृष्टि से २३वें (अग्निवायुरविभ्यस्तु······) के पश्चात् होना चाहिए। प्रसंग और क्रम की दृष्टि से वहीं ठीक बैठता है क्योंकि वेदों की रचना होने के बाद ही उनसे नाम, कर्म आदि का ज्ञान होगा, पूर्व नहीं। वेदों की रचना का होना २३वें श्लोक में कहा जा रहा है और उनसे नाम आदि का निर्माण पहले ही वर्णित हो गया। इस प्रकार उचित क्रम नहीं बनता।

इसके अतिरिक्त वर्तमान प्रतियों में जो यह २१वें श्लोक के रूप में है, यहां पूर्वापर प्रसंग उत्पत्ति की प्रक्रिया का है; इस श्लोक से वह भंग हो रहा है। २०वें में सृष्टि-उत्पत्ति की प्रक्रिया है, २२वें में उस प्रसंग का उपसंहार रूप में संक्षिप्त एकत्र कथन है। इन कथनों के बीच में वेदों के द्वारा नाम, कर्म आदि का ज्ञान होने का कथन करना असंगत है। इस क्रम में यह आपत्ति भी है। किन्तु इससे इसे प्रक्षिप्त नहीं समझ लेना चाहिए, यतो हि इस श्लोक का प्रक्षिप्त प्रसंग या प्रवृत्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः यह स्थानभ्रष्ट मात्र प्रतीत होता है।

(४) **२१वें श्लोक का संगत अर्थ**—कुल्लूकभट्ट ने इस श्लोक की व्याख्या करते हुए व्यवस्थाओं के उदाहरण में—'कुम्हार का घड़ा बनाना, जुलाहे का कपड़ा बनाना' ये उदाहरण गलत और मनुविरुद्ध दिये हैं। यहां व्यवस्थाओं से अभिप्राय है जैसे—चार वर्णों की व्यवस्था। इसे १। ३१ में मनु ने कर्मानुसार परमात्मा-निर्मित माना है। इसी प्रकार राज्यव्यवस्था आदि भी हो सकती है। मनु ने केवल चार वर्णों को माना है। उनके मत में कुम्हार, जुलाहा आदि कोई जाति-उपजाति नहीं है और न ही ये जातियां या उनके ये कार्य ईश्वर-रचित हैं। मनु के अनुसार तो 'शिल्पकार्य' वैश्य का कार्य है; चाहे वह किसी भी प्रकार का शिल्पकार्य करे वैश्य ही कहलायेगा, कुम्हार या जुलाहा नहीं। मनु की व्यवस्था के अनुसार जो व्यक्ति आज बर्तन बनाने का कार्य कर रहा है वह कल कपड़े बनाने का कार्य भी कर सकता है, परसों कोई अन्य, फिर भी वह वैश्य ही कहलायेगा कुम्हार या जुलाहा नहीं। क्योंकि मनु ने ऐसी जातियों और उनके नामों का निर्धारण ही नहीं किया। जाति-उपजाति की कल्पनाएं वर्ण-व्यवस्थाओं की शिथिलता के पश्चात् कार्यरूढ़ि के आधार पर अवर समाज द्वारा की गई हैं। अतः उन्हें ईश्वररचित व्यवस्था मानकर मनु के श्लोक में उदाहरण रूप में देना गलत एवं मनु की व्यवस्था के विरुद्ध है।

उपसंहार रूप में समस्त जगत् की उत्पत्ति का वर्णन—

कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत्प्राणिनां प्रभुः।
साध्यानां च गणं सूक्ष्मं यज्ञं चैव सनातनम्॥ २२॥ (१४)

[इस प्रकार १। ५—२० श्लोकों में वर्णित प्रक्रिया के अनुसार] (प्र: प्रभु:) उस परमात्मा ने (कर्मात्मनां च देवानाम्) कर्म ही स्वभाव है

जिनका ऐसे सूर्य, अग्नि, वायु आदि देवों के (प्राणिनाम्) मनुष्य, पशु.पक्षी

आदि सामान्य प्राणियों के (च) और (साध्यानाम्) साधक कोटि के विशेष विद्वानों के (गणम्) समुदाय को [१ । २३ में वर्णित] (च) तथा (सनातनं सूक्ष्मं यज्ञम् एव) सृष्टि-उत्पत्ति काल से प्रलय काल तक निरन्तर प्रवाह-मान सूक्ष्म संसार अर्थात् महत् अहंकार पञ्चतन्मात्रा आदि सूक्ष्म रूपमय और सूक्ष्मशक्तियों से युक्त संसार को (असृजत्) रचा ॥ २२ ॥ ॐ

अनुशीलन : (१) २२वें श्लोक का संगत अर्थ—कुल्लूकभट्ट आदि टीकाकारों ने 'साध्य' का अर्थ 'सूक्ष्मम्' विशेषण को उसके साथ जोड़कर 'सूक्ष्म देवयोनि-विशेष' किया है । यह मिथ्या कल्पना मात्र है, क्योंकि मनुष्यों से भिन्न कोई देवयोनि जगत् में नहीं होती । १।४३—४६ श्लोकों में मनु ने सभी योनिगत प्राणियों का दिग्दर्शन कराया है । उनमें ऐसी कोई योनि उल्लिखित नहीं है । इस प्रकार की कल्पना मनु के उक्त श्लोकों के विरुद्ध जाती है । वस्तुतः, मनुस्मृति में जहां कहीं भी प्राणियों में देव, ऋषि, पितर आदि का उल्लेख आता है, वे मनुष्यों के स्तरविशेष हैं । योग्यता एवं स्तरविशेषानुसार ये मनुष्यों की ही संज्ञायें हैं ।

(२) **'सूक्ष्मम्' का अर्थ**—यहां 'सूक्ष्मम्' विशेषण को भी साध्यों के साथ जोड़ना सङ्गत नहीं है । सृष्टि-उत्पत्ति प्रक्रिया का वर्णन करने के उपरान्त उस सम्पूर्ण प्रसङ्ग का इस श्लोक में उपसंहार किया है और एकत्र रूप में यह संकेत दिया है कि इस प्रकार परमात्मा ने जड़-चेतन, सूक्ष्म और स्थूल, विशेष और सामान्य आदि विभिन्न रूपों में समस्त संसार को रचा है ।

(३) **'साध्यों' से अभिप्राय**—यहां प्राणियों से पृथक् साध्यों की पृथक् से गणना उनकी विशिष्टता की ओर इङ्गित करने के लिए की है । सृष्टि के प्रारम्भ में सभी प्रकार के प्राणी उत्पन्न होते हैं, उनमें साधक कोटि के विशिष्ट संस्कारी व्यक्ति भी होते हैं । मनुस्मृति के श्लोक में इस शब्द को समझने के लिए साध्यकोटि के व्यक्तियों में जैसे अग्नि, वायु, रवि आदि ऋषियों का नाम उद्धृत किया जा सकता है । ये भी साधक कोटि के अत्यन्त विशिष्ट संस्कारी जीव थे । तभी तो अनेक मनुष्यों में केवल इन्हीं को वेदज्ञान प्रकट करने का श्रेय मिला । निरुक्तकार ने 'ऋषि' शब्द के निर्वचन के प्रसंग में आचार्य औपमन्यव के मत का उल्लेख करते हुए इन तपस्वी साधकों को तपस्या में लीन रहने की साधना के परिणामस्वरूप वेदज्ञान की प्राप्ति का कथन किया है । उससे इनके साध्यकोटि के व्यक्ति होने की बात और पुष्ट हो जाती है । यथा—

"**ऋषिः दर्शनात् । स्तोमान् ददर्श इति औपमन्यवः । तद्यदेनांस्तपस्यमानान्ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत ऋषयोऽभवंस्तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते ।**" (नि० २ । ३ । १२) अर्थात्-वेदमन्त्रों का अर्थ-दर्शन करने से ऋषि होता है, ऐसा औपमन्यव का मत है । प्रार-

---

ॐ [**प्रचलित अर्थ**—उस ब्रह्मा ने देव (इन्द्रादि), कर्मस्वभाव, प्राणी, अप्राणि पत्थर आदि, साध्यगण और सनातन यज्ञ (अग्निष्टोम आदि) की सृष्टि की ॥ २२ ॥]

प्रारम्भिक अग्नि आदि ऋषियों को तपस्या करते हुए अपौरुषेय वेदों का साक्षात्कार हुआ, अतः वे ऋषि प्रसिद्ध हुए।

इन तपस्वी साधकों को साधना में लीन रहते हुए वेदज्ञान-प्राप्ति होने की चर्चा ब्राह्मणग्रन्थों में भी आती है—

(क) "तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त, अग्नेर्ऋग्वेदः, वायोर्यजुर्वेदः, सूर्यात् सामवेदः।" (शत० ११।५।२।३)

(ख) "अजान्ह वै पृश्नींस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयंभ्वभ्यानर्षत्तदृषयोऽभवन्।" (तै० आ० २।८)

अगले ही श्लोक में मनु ने भी इनका उल्लेख किया है। इस साधक कोटि में अन्य अनेक व्यक्तियों को भी माना जाता है। इसमें कुछ अन्य प्रमाण द्रष्टव्य हैं—

१. "साध्याः देवाः साधनात्" (निरुक्त १२।४०)
२. "साध्याः नाम देवाः (=विद्वांसः) आसन्" (ताण्ड्य ब्रा० ८।३।५)
   महर्षि-दयानन्द ने इस शब्द को और भी स्पष्ट कर दिया है—
१. साधनसाध्याः (देवाः=विद्वांसो जनाः) (यजु० ३१।११)
२. साधनं योगाभ्यासादिकं कुर्वन्तो ज्ञानिनः (जनाः) (यजु० ३१।९)
३. अन्यैर्विद्यार्थं संसेवितुमर्हाः (विद्वांसो जनाः) (ऋग्० १।१६४।५०)
४. साध्याः ज्ञानिनः, ऋषयो मन्त्रद्रष्टारश्च (ऋ० भू० ९१ सृष्टिविद्याविषयः)

इस प्रकार 'साध्य' का अर्थ 'साधक कोटि के विद्वान् विशेष' ही है। और मनुस्मृति की भी अन्तःसाक्षी है—"पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गतिः" [मनु० १२।४९] अर्थात् जो मध्यम सत्त्वगुणी जीव हैं, वे पितर व साध्य=कार्यसिद्धि के लिये सेवन करने योग्य अध्यापकादि का जन्म पाते हैं। वेदों का ज्ञान देने वाले प्रारम्भिक ऋषि भी संसार के प्रथम अध्यापक=शिक्षक थे।

साध्यकोटि के विद्वानों का वर्णन और सृष्टि के प्रारम्भ में साध्यकोटि के व्यक्तियों के उत्पन्न होने का उल्लेख वेद के पुरुषसूक्त में भी आता है—

१. "यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः" (यजु० ३१।१६)
२. "तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
   तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥" (यजु० ३१।९)
३. "यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।" (यजु० ३१।१४)

"जो ब्रह्माण्ड का रचन-पालन और प्रलय करना रूप यज्ञ है, उसी को जगत् बनाने की सामग्री कहते हैं। पुरुष ने उत्पन्न किया था वह ब्रह्माण्ड उत्पन्न भया है।"
(ऋ० भू० १२७–१२८)

(४) **यज्ञ का व्यापक अर्थ, वेदों का उद्देश्य**—इसी प्रकार प्रचलित टीकाओं में किया गया यज्ञ शब्द का अर्थ भी संकुचित है। इस श्लोक में यज्ञ शब्द का 'हवन' यह सीमित अर्थ न होकर व्यापक अर्थ 'जगत्' है। इसकी पुष्टि में निम्न युक्तियाँ दी जा सकती हैं—(क) मनु ने केवल होम-सम्पादन के लिए ही वेदों की उत्पत्ति नहीं स्वीकार की है अपितु संसार के समस्त ज्ञान-विज्ञान, धर्म, व्यवहार आदि की सिद्धि के लिए वेदों की उत्पत्ति मानी है। मनुस्मृति में अनेक स्थलों पर उन्होंने ऐसे आशय दिये हैं। कुछ प्रमाणों से यह बात पुष्ट हो जायेगी—

(अ) १२।९७ में चारों वर्णों, आश्रमों एवं तीनों कालों का ज्ञान वेदों से ही माना है।

(आ) शब्द, स्पर्श आदि सूक्ष्म शक्तियों की वैज्ञानिक सिद्धि वेदों द्वारा ही मानी है। (१२। ९८)

(इ) संसार के समस्त व्यवहारों का सर्वोत्तम साधकग्रन्थ वेद को कहा है। (१२। ९९)

(ई) १२। ९४ में वेद को पितृ, देव, मनुष्यों का 'चक्षु' अर्थात् धर्म-अधर्म,-ज्ञान-विज्ञान आदि का दर्शानेवाला कहा है।

(उ) इसी प्रकार राजनीति की शिक्षा देने वाला (७। ४३; १२। १००) शास्त्र भी वेद ही है।

(ऊ) वेद सभी धर्मों का स्रोत एवं आधार है। (२।६—१५)

(ए) १।२१ में वेदों के द्वारा ही संसार के समस्त पदार्थों का नामकरण, विभाग, कर्मनिर्धारण, यह सिद्ध करता है कि वेदों की उत्पत्ति केवल होम-सम्पादन के लिए ही नहीं अपितु जगत् में समस्त सिद्धियाँ प्राप्त करने के लिए है।

(ऐ) १। ३ में वेदों को सब सत्यविद्याओं का विधान करने वाला ग्रन्थ कहना, अथवा जगत् का संविधान और समस्त व्यवहारों का साधक ग्रन्थ कहना भी वेदों की उपयोगिता को व्यापक सिद्ध करता है।

इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि वेदों की उपयोगिता के विषय में मनु की व्यापक दृष्टि है, यदि उसे केवल होम तक ही सीमित किया जायेगा तो उक्त मान्यताओं से उस का विरोध आयेगा। इस आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि १। २३ में प्रयुक्त 'यज्ञसिद्ध्यर्थम्' पद का अर्थ भी 'होमसिद्धि के लिए' न होकर 'जगत् में समस्त व्यवहारों, धर्मों और ज्ञान-विज्ञान की सिद्धि के लिए' अथवा 'जगत् की सिद्धि के लिए' यह अर्थ होगा। इसी प्रकार यहां भी यज्ञ का व्यापक अर्थ 'जगत्' ही ग्रहण होगा। इस में दोनों श्लोकों की यह सुसंगति भी बन जाती है कि 'परमात्मा ने संसार को रचा (१।२२) और उस संसार की सिद्धि के लिए अथवा संसार में समस्त सिद्धियां प्राप्त करने के लिये वेदों की रचना (१। २३)। (ख) यज्ञ के 'जगत्' अर्थ में निम्न प्रमाण हैं—

(अ) "यज्ञो वै भुवनम्" (तै० सं० ३। ३। ७। ५)
(आ) "विराट् (संसारः) वै यज्ञः" (श० १। १। १। २२)
(इ) "वैराजः यज्ञः" (गो० पू० ५। २४; गो० उ० ६। १५)

(ई) महर्षि दयानन्द ने (यजु० १३। १४) मन्त्र-भाष्य करते हुए जगत् को ही यज्ञ कहा है—"देवाः यज्ञं अतन्वत"—पुरुष ने उत्पन्न किया जो यह ब्रह्माण्ड रूप यज्ञ है। (ऋ० भू० ९३, सृष्टिविद्याविषयः)

(ग) यहां 'यज्ञम्' के साथ 'सनातनम्' विशेषण का प्रयोग भी 'जगत्' अर्थ का पोषक है। क्योंकि, यज्ञ की क्रिया के रूप में सनातनता कभी नहीं हो सकती, अतः यह विशेषण 'हवन' अर्थ में जुड़ता ही नहीं। न जुड़ने के कारण टीकाकारों ने खींचातानी कर के इसे जोड़ने का प्रयास किया कि—'वेदोक्त कर्म होने से अथवा कल्पान्तर में भी यज्ञों का व्यवहार होनेके कारण यज्ञ सनातन हैं।' लेकिन इस प्रकार तो सभी वेदोक्त क्रियाएं सनातन हैं, यज्ञों की ही उनसे क्या विशिष्टता होगी? अतः यह प्रयास निष्फल ही है। इस के अतिरिक्त मनु ने १। ५७ में 'सनातन' के बिल्कुल पर्यायवाची शब्द के रूप में 'अजस्रम्' (सञ्जीवयति चाजस्रम्) विशेषण का प्रयोग 'जगत्' के लिये किया है, जो यहां भी यज्ञ के साथ 'सनातनम्' शब्द प्रयोग 'जगत्' अर्थ में पोषक है।

वेदों का आविर्भाव—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥ २३॥ (१५)

उस परमात्मा ने (यज्ञसिद्ध्यर्थम्) जगत् में समस्त धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि व्यवहारों की सिद्धि के लिए अथवा जगत् की सिद्धि अर्थात् जगत् के समस्त रूपों के ज्ञान के लिए [यज्ञे जगति प्राप्तव्या सिद्धिः यज्ञसिद्धिः, अथवा यज्ञस्य सिद्धिः यज्ञसिद्धिः] (अग्नि-वायु-रविभ्यः तु) अग्नि, वायु और रवि से अर्थात् उन के माध्यम से (ऋग्यजुःसामलक्षणं त्रयं सनातनं ब्रह्म) ऋग्=ज्ञान, यजुः=कर्म, साम=उपासना रूप त्रिविध ज्ञान वाले नित्य वेदों को (दुदोह) दुहकर प्रकट किया॥ २३॥ ❀

"जिस परमात्मा ने आदि सृष्टि में मनुष्यों को उत्पन्न करके अग्नि आदि चारों महर्षियों के द्वारा चारों वेद ब्रह्मा को प्राप्त कराये और उस ब्रह्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा से ऋग्यजु० साम और अथर्व का ग्रहण किया। (स० प्र० २०३)

"अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थ

❀ प्रचलित अर्थ—उस ब्रह्मा ने यज्ञों की सिद्धि के लिए अग्नि, वायु और सूर्य से नित्य ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद को क्रमशः प्रकट किया॥ २३॥

ऋग्यजुः सामलक्षणम् ॥ १ । ३ ॥ अध्यापयामास पितृन् शिशुरांगिरसः कविः । २ । १५१ (इस संस्करण में २।१२६) अर्थात् इसमें मनु के श्लोकों की भी साक्षी है कि पूर्वोक्त अग्नि, वायु, रवि और अंगिरा से ब्रह्मा जी ने वेदों को पढ़ा था । जब ब्रह्मा जी ने वेदों को पढ़ा था तो व्यासादि और हम लोगों की तो कथा क्या ही कहनी है ।" (ऋ० भू० १६)

अनुशीलन : (१) प्रस्तुत श्लोक में यज्ञ शब्द का 'जगत्' अर्थ है । इसकी पुष्टि के लिए १ । २२ की समीक्षा देखिए ।

(२) **वेदोत्पत्ति विषयक वेदादि के प्रमाण**—महर्षि मनु ने अपनी स्मृति का मूलस्रोत वेद को माना है । वे वेदों को अपौरुषेय मानकर इस श्लोक में परमेश्वर से ही वेदोत्पत्ति मानते हैं । मनु ने यह मान्यता वेदों से ही ग्रहण की है । देखिए स्वयं वेद भी इस मान्यता को वर्णित कर रहे हैं—

(क) **तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे ।**
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥ (यजु० ३१ । ७)

अर्थ—उस सच्चिदानन्दस्वरूप, सब स्थानों में परिपूर्ण, जो सब मनुष्यों द्वारा उपास्य और सब सामर्थ्य से युक्त है, उस परब्रह्म से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और छन्दांसि=अथर्ववेद ये चारों वेद उत्पन्न हुए ।

(ख) **यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।**
सामानि यस्य लोमानि अथर्वाङ्गिरसो मुखम् ।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमःस्विदेव सः ॥ (अथर्व १०।४।२०)

अर्थ—जो सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है, उसी से (ऋचः) ऋग्वेद (यजुः) यजुर्वेद (सामानि) सामवेद (आङ्गिरसः) अथर्ववेद, ये चारों उत्पन्न हुए हैं । इसी प्रकार रूपकालङ्कार से वेदों की उत्पत्ति का प्रकाश ईश्वर करता है कि अथर्ववेद मेरे मुख के समतुल्य, सामवेद लोमों के समान, यजुर्वेद हृदय के समान, और ऋग्वेद प्राण के समान है (ब्रूहि कतमःस्विदेव सः) चारों वेद जिससे उत्पन्न हुए हैं सो कौनसा देव है ? उसको तुम मुझसे कहो, इस प्रश्न का उत्तर यह है कि (स्कम्भं तम्) जो सब जगत् का धारण-कर्त्ता परमेश्वर है, उसका नाम स्कम्भ है, उसी को तुम वेदों का कर्त्ता जानो ।

(ऋ० भा० भू० वेदोत्पत्ति विषय)

ब्राह्मणों ने भी इस मान्यता को यथावत् स्वीकार किया है—

(ग) **"एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् ।**
यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः ॥" (शत० १४।५)

अर्थात्—उस महान् सर्वव्यापी परमात्मा ने निःश्वासरूप में प्रकट ये चारों वेद जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अङ्गिरा से प्रकट अथर्ववेद के नाम से प्रसिद्ध हैं ।

(ख) "तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त, अग्नेर्ऋग्वेदो, वायोर्यजुर्वेदः, सूर्यात्सामवेदः।" (श० ११।५।२।३)

अर्थात्—उन तपस्वी ऋषियों के माध्यम से परमात्मा ने अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद, सूर्य से सामवेद,इस प्रकार त्रयीविद्यारूप चार वेद प्रकट किये।

(३) **वेदोत्पत्ति की मान्यता का अन्यत्र वर्णन**—मनु ने वेदों को अपौरुषेय माना है, जैसा कि इस श्लोक में वर्णन है। अपनी इस मान्यता की पुष्टि मनु ने अन्यत्र भी अनेक स्थानों पर की है, द्रष्टव्य हैं— १।३,२१ ॥ ११।२६४–२६५ ॥ १२।९४ श्लोक।

धर्म-अधर्म, सुख-दुःख आदि का विभाग—

कर्मणां च विवेकार्थं धर्माधर्मौ व्यवेचयत्।
द्वन्द्वैरयोजयच्चेमाः सुखदुःखादिभिः प्रजाः ॥ २६ ॥ (१६)

(च) और फिर (कर्मणां विवेकार्थम्) कर्मों के विवेचन के लिए (धर्म-अधर्मौ) धर्म-अधर्म का (व्यवेचयत्) विभाग किया (च) तथा (इमाः प्रजाः) इन प्रजाओं को (सुखदुःखादिभिः द्वन्द्वैः) सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों =दो विरोधी गुणों या अवस्थाओं के जोड़ों से (अयोजयत्) संयुक्त किया ॥२६॥

अनुशीलन : धर्म-अधर्म के विभाग की चर्चा निम्न वेदमन्त्र में आती है। वही भाव यहां मनु ने ग्रहण किया है—

"दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः" (यजु० १९।७७)

(प्रजापतिः) सब जगत् का अध्यक्ष जो ईश्वर है सो (सत्यानृते) सत्य जो धर्म और असत्य जो अधर्म है (व्याकरोत्) उनको ईश्वर ने अपनी सर्वज्ञ विद्या के ठीक-ठीक विचार से देखके सत्य और झूठ को अलग-अलग किया है।' (ऋ० भा० भू० ९७)

सूक्ष्म से स्थूल के क्रम से सृष्टि का वर्णन—

अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्धानां तु याः स्मृताः।
ताभिः सार्धमिदं सर्वं सम्भवत्यनुपूर्वशः ॥२७॥ (१७)

(दशार्धानाम् तु) दश के आधे अर्थात् पांच महाभूतों की ही (याः) जो (विनाशिन्यः) विनाशशील अर्थात् अपने अहङ्कार कारण में लीन होकर नष्ट होने के स्वभाव वाली (अण्व्यः मात्राः स्मृताः) सूक्ष्म तन्मात्राएं कही गई हैं (ताभिः) उनके (सार्धं) साथ अर्थात् उनको मिलाकर ही (इदं सर्वम्) यह समस्त संसार (अनुपूर्वशः) क्रमशः—सूक्ष्म से स्थूल, स्थूल से स्थूलतर, स्थूलतर से स्थूलतम के क्रम से (संभवति) उत्पन्न होता है ॥ २७ ॥

अनुशीलन : २७ वें श्लोक के क्रम पर विचार—प्रतीत होता है कि मूल प्रति में खण्डित हो जानेके कारण यह श्लोक स्थानभ्रष्ट हो गया है प्रसंग और क्रम

की दृष्टि से यह १९वें के पश्चात् होना चाहिए, क्योंकि—(१) "कर्मणां च विवेकार्थं" इस श्लोक के पश्चात् इसका कोई क्रम नहीं जुड़ता। यहां प्रसंग को भंग करता है। (२) भूतों और तन्मात्राओं की उत्पत्ति और उनसे जगत् की उत्पत्ति का क्रम तथा प्रसंग १९वें तक पूर्ण हो जाता है। इस दृष्टि से भी यहां संगत है। (३) २० वें में 'एषां' कहकर तन्मात्राओं व पञ्चभूतों का ही वर्णन है। इस प्रयोग से यह संकेत मिलता है कि उससे पूर्व तन्मात्राओं के वर्णन का श्लोक होना चाहिए जो प्रचलित पाठ में नहीं है। और इस प्रसंग में ऐसा और कोई दूसरा श्लोक है नहीं जिसमें पञ्चतन्मात्राओं का वर्णन हो। यही एक श्लोक ऐसा है जिसमें पञ्चतन्मात्राओं का वर्णन है। इस प्रकार २०वें श्लोक के 'एषां' पद से प्राप्त होने वाले एक श्लोक के अभाव का संकेत और इस श्लोक का २७वीं संख्या पर असंगत होना, ये दोनों बातें इस श्लोक का उपयुक्त स्थान १९वें के पश्चात् नियत करती हैं। अतः यह इसी क्रम से रखा जाना चाहिए। इसके मूल में प्रक्षेप की कोई भी प्रेरक-प्रवृत्ति संभव न होने के कारण इसे प्रक्षिप्त नहीं माना गया है।

जीवों का कर्मों से संयोग—

यं तु कर्मणि यस्मिन् स न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः।
स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनः पुनः ॥२८॥ (१८)

(सः प्रभुः) उस परमात्मा ने (प्रथमम्) सृष्टि के आरम्भ में (यं तु) जिस प्राणी को (यस्मिन् कर्मणि) जिस कर्म में (न्ययुङ्क्त) लगाया (पुनः पुनः) प्रत्येक सृष्टि-उत्पत्ति समय में [१। ८०] (सः) वह फिर (सृज्यमानः) उत्पन्न होता हुआ अर्थात् जन्म धारण करता हुआ (तदेव) उसी कर्म को ही (स्वयम्) अपने आप (भेजे) प्राप्त करने लगा ॥ २८ ॥

हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते।
यद्यस्य सोऽदधात्सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत् ॥ २९ ॥ (१९)

(हिंस्र+अहिंस्रे) हिंसा [सिंह, व्याघ्र आदि का] अहिंसा [मृग आदि का] (मृदु-क्रूरे) दयायुक्त और कठोरतायुक्त(धर्म-अधर्मौ) धर्म तथा अधर्म (अनृत-ऋते) असत्य और सत्य (यस्य) जिस प्राणी का (यत्) जो कर्म (सर्गे) सृष्टि के प्रारम्भ में (सः अदधात्) उस परमात्मा ने धारण कराना था (तस्य तत्) उस को वही कर्म (स्वयम्) अपने आप ही (आविशत्) प्राप्त हो गया ॥ २९ ॥

अनुशीलन : जगदुत्पत्ति-प्रयोजन एवं कर्मफल—सृष्टि के आरम्भ में प्राणियों के कर्मों की भिन्नता के कारण और जगत्-रचना के प्रयोजन पर प्रकाश डालते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं—

"(प्रश्न) जगत् के बनाने में परमेश्वर का क्या प्रयोजन है ?

(उत्तर)………प्रलय के पूर्व सृष्टि में जीवों के किये पाप-पुण्य कर्मों का फल ईश्वर कैसे दे सकता और जीव क्योंकर भोग सकते थे ?" (स० प्र० २१३)

"(प्रश्न) ईश्वर ने किन्हीं जीवों को मनुष्य जन्म, किन्हीं को सिंह आदि क्रूर जन्म, किन्हीं को हरिण, गाय आदि पशु, किन्हीं को वृक्षादि, कृमि, कीट, पतंग आदि जन्म दिये हैं; इससे परमात्मा में पक्षपात आता है ?

(उत्तर) पक्षपात नहीं आता, क्योंकि उन जीवों के पूर्व सृष्टि में किये हुए कर्मानुसार व्यवस्था करने से जो कर्म के बिना जन्म देता तो पक्षपात आता।"

(स० प्र० २२३—२२४)

यथर्तुलिंगान्यृतवः स्वयमेवर्तुपर्यये ।
स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः ॥ ३० ॥ (२०)

(यथा) जैसे (ऋतवः) ऋतुएं (ऋतुपर्यये) ऋतु-परिवर्तन होने पर (स्वयम् एव) अपने आप ही (ऋतुलिंगानि) अपने-अपने ऋतुचिह्नों—जैसे, बसन्त आने पर कुसुम-विकास, आम्रमञ्जरी आदि को (अभिपद्यन्ते) प्राप्त करती हैं (तथा) उसी प्रकार (देहिनः) देहधारी प्राणी भी (स्वानि-स्वानि कर्माणि) अपने-अपने कर्मों को प्राप्त करते हैं अर्थात् अपने-अपने कार्यों में संलग्न हो जाते हैं ॥ ३० ॥

चार वर्णों की व्यवस्था का निर्माण—

लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः ।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत् ॥ ३१ ॥ (२१)

[फिर उस परमात्मा ने] (लोकानां तु) प्रजाओं अर्थात् समाज की (विवृद्ध्यर्थम्) विशेष वृद्धि=शान्ति, समृद्धि एवं प्रगति के लिए (मुखबाहु-ऊरु-पादतः) मुख, बाहु, जंघा और पैर के गुणों की तुलना के अनुसार क्रमशः (ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं च शूद्रम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण को (निरवर्तयत्) निर्मित किया। अर्थात् चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का निर्माण किया ॥ ३१ ॥ ❀

अनुशीलन : (१) **चातुर्वर्ण्यव्यवस्था-निर्माण वेदों से—**वेद में पुरुषसूक्त में चार वर्णों की उत्पत्ति का वर्णन आया है। मनु ने इस श्लोक में ठीक उसी प्रकार वर्णों की उत्पत्ति दर्शायी है। इन मन्त्रों से मनु का भाव और स्पष्ट हो जाता है तथा ब्रह्मा के अंगों से चार वर्णों की उत्पत्ति की भ्रान्ति का भी निराकरण हो जाता

❀ [प्रचलित अर्थ—लोक वृद्धि के लिए ब्रह्मा ने मुख, बाहु, ऊरु और पैर से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की सृष्टि की ॥ ३१ ॥]

है। जैसा कर्मों-गुणों के आधार पर आलंकारिक वर्णन वेद में है वैसा ही मनुस्मृति में है। मन्त्र निम्न हैं—

"यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते॥

(यजु० ३१।१०)

(यत्पुरुषं०) पुरुष उसको कहते हैं कि जो सर्वशक्तिमान् ईश्वर कहाता है (कतिधा व्य०) जिसके सामर्थ्य का अनेक प्रकार से प्रतिपादन करते हैं क्योंकि उसमें चित्रविचित्र बहुत प्रकार का सामर्थ्य है, अनेक कल्पनाओं से जिसका कथन करते हैं (मुखं किमस्यासीत्) इस पुरुष के मुख अर्थात् मुख्य गुणों से इस संसार में क्या उत्पन्न हुआ है (किं बाहू) बल वीर्य, शूरता और युद्ध आदि विद्यागुणों से किसकी उत्पत्ति हुई है (किमूरू) व्यापार आदि मध्यम गुणों से किसकी उत्पत्ति होती है? इन चारों प्रश्नों के उत्तर ये हैं कि—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

(यजु० ३१।११)

(ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्) इस पुरुष की आज्ञा के अनुसार जो विद्या, सत्यभाषण आदि उत्तमगुण और श्रेष्ठकर्मों से ब्राह्मणवर्ण उत्पन्न होता है, वह मुख्य कर्म और गुणों के सहित होने से मनुष्यों में उत्तम कहाता है (बाहू राजन्यः कृतः) और ईश्वर ने बल-पराक्रम आदि पूर्वोक्त गुणों से युक्त क्षत्रिय वर्ण को उत्पन्न किया है (ऊरू तदस्य०) खेती, व्यापार और सब देशों की भाषाओं को जानना तथा पशुपालन आदि मध्यम गुणों से वैश्य वर्ण सिद्ध होता है (पद्भ्यां शूद्रो०) जैसे पग सबसे नीच अङ्ग है वैसे मूर्खता आदि नीच* गुणों से शूद्रवर्ण सिद्ध होता है।" (ऋ० भू० १२५-१२६)

(२) इस आलंकारिक वर्णन की पुष्टि के लिए वेदों के व्याख्याग्रन्थ ब्राह्मणों के प्रमाण भी उपलब्ध हैं। निम्न वचनों में ब्राह्मण को समाज या मनुष्यों का मुख रूप बताया है, मुख से उत्पन्न हुआ नहीं—

(अ) ब्राह्मणो मनुष्याणां मुखम्। (तां० १।६।१)
ब्राह्मण मनुष्यों का मुख है।

(आ) अस्य सर्वस्य ब्राह्मणो मुखम्। (श० ३।६।१।१४)
इस समाज या जगत् का ब्राह्मण मुखरूप है अर्थात् सर्व प्रमुख स्थान वाला है।

---

* यहां महर्षि दयानन्द द्वारा प्रयुक्त 'नीच' शब्द 'उच्च' का विलोमार्थक है, जो संस्कृत 'निम्न' का पर्यायवाची है, यह आजकल की भाषा और व्यवहार में प्रयुक्त 'नीच' घृणार्थक शब्द के अर्थ में नहीं है। इसका अर्थ है—'गुणों के अनुपात में निम्न गुणों वाला।'

(३) **वर्णोत्पत्ति विषयक भ्रान्त कल्पना**— इस श्लोक की व्याख्या करते हुए कुल्लूक भट्ट ने एक अत्यन्त अविश्वसनीय कल्पना की है और उसे उसी प्रकार के अन्ध-विश्वास से पुष्ट किया है। उन्होंने इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया है—'ब्रह्मा ने अपने मुख से ब्राह्मण को पैदा किया, बाहुओं से क्षत्रिय को, जंघाओं से वैश्य और पैर से शूद्र को पैदा किया है'। इस अन्ध कल्पना पर कभी किसी का विश्वास न बने, शायद इसीलिए उन्होंने यह वाक्य भी जोड़ा—**"दैव्या च शक्त्या मुखादिभ्यो ब्राह्मणादिनिर्माणं ब्रह्मणो न विशङ्कनीयं श्रुतिसिद्धत्वात्। तथा च श्रुतिः—ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्"** [ऋक् १०।६०।१२]। अर्थात्—ब्रह्मा के मुख आदि से ब्राह्मण आदि का निर्माण दिव्य-शक्ति से हुआ है, इसमें किसी प्रकार की शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यह बात वेदों से सिद्ध है, वेद में कहा है—'ब्राह्मण इस परमात्मा का मुख हुआ।' वस्तुतः यहां आलंकारिक वर्णन है, जिसका अर्थ इस प्रकार बनता है कि परमात्मा ने मुख, बाहु, जंघा और पैर के गुणों की समानता के अनुसार क्रमशः चारों वर्णों का निर्माण किया है। जैसे—७।४ में इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, चन्द्र आदि आठ वस्तुओं के अंश से राजा का निर्माण होना कहा है। स्पष्ट है कि इनसे राजा की रचना नहीं हो सकती, किन्तु आलंकारिक रूप में यहां राजाओं में इनके गुणों का होना अभिप्रेत है। ठीक इसी प्रकार यहां भी गुणों की समानता के आधार पर वर्णों की रचना का कथन है। कुल्लूक ने जिस पद को प्रमाण रूप में दिया है उसका अर्थ भी उत्पन्न होना नहीं बनता, अपितु आलंकारिक रूप में 'ब्राह्मण मुखस्थानीय रूप में था,' यह अर्थ ही संगत होता है। दिव्य शक्ति भी अपनी एक निश्चित प्रक्रिया में काम करती है। दिव्य शक्ति होने का यह मतलब नहीं कि वह सृष्टिक्रम-विरुद्ध रूपमें कुछ भी कर डाले, अतः कुल्लूकका यह विश्वास भी बुद्धिसंगत नहीं है। शैली और प्रसंगके अनुसार भी यदि विचार किया जाये तो इसका आलंकारिक ही अर्थ बनता है, कुल्लूक भट्ट और उनके अनुसरणकर्त्ताओं का अर्थ असंगत सिद्ध होता है—(१) सृष्टि-उत्पत्ति-क्रम में १।१६,१६,२२ में मनुष्यादि प्राणियों की उत्पत्ति का होना कहा जा चुका है और उसके पश्चात् ऋषियों से वेदज्ञान की प्रकटता [१।२३], प्रजाओं की सुख-दुःखादि से संयुक्ति [१।२६] आदि भी दिखायी जा चुकी है फिर दोबारा उत्पत्ति कैसी? (२) मनुस्मृति में ब्रह्मा का प्रसंग प्रक्षिप्त है, अतः उसका नाम जोड़कर अर्थ करना भी उचित नहीं (इसके लिए १।७–१३ पर समीक्षा देखिए।) और परमात्मा सूक्ष्म, अव्यय होने से शरीर धारण नहीं करता। अतः उसके मुखादि की कल्पना भी नहीं हो सकती, उनसे उत्पत्ति आदि की कल्पना का तो फिर प्रश्न ही नहीं। (३) यदि ब्रह्मा के माध्यम से यह उत्पत्ति मानी जाये तो उस प्रसङ्ग से भी यह अन्ध-कल्पना सिद्ध नहीं होती। यतोहि, ब्रह्मा के प्रसङ्ग में सृष्टि-उत्पत्ति का क्रम—'ब्रह्मा से विराट्, विराट से मनु और मनु से अन्य सृष्टि'–[१।३२–४१] इस रूप में उल्लिखित है। उससे भी अनेक प्रकार से विरोध आता है—(क) मनु की उत्पत्ति बाद में हुई दर्शायी गयी है और [illegible] आदि की उत्पत्ति पहले [illegible] (ख) [illegible] ब्रह्मा की वंश-परम्परा से सारी सृष्टि-उत्पत्ति मानी है तो ब्राह्मण आदि पहले ही क्यों

और किससे पैदा हुए ? (ग) यदि ब्राह्मण आदि को पहले उत्पन्न कर दिया था तो फिर विराट्, मनु आदि की उत्पत्ति की ब्रह्मा को क्या आवश्यकता थी ? सृष्टि तो उन्हीं से चल जाती। (घ) जब मुख आदि से ब्राह्मण आदि की रचना कर डाली तो फिर 'विराट्' को भी क्यों न किसी अङ्ग से बनाया ? उनके जन्म के लिए पहले स्त्री-रचना की क्यों आवश्यकता हुई ? [१।३२]। इस प्रकार अनेक युक्तियों से कुल्लूकभट्ट और उनके अनुसरणकर्त्ताओं की कल्पना गलत और असंगत सिद्ध होती है, अतः आलंकारिक अर्थ ही मनु-अभिप्रेत मानना चाहिए।

प्राणियों की उत्पत्ति का प्रकार—

येषां तु यादृशं कर्म भूतानामिह कीर्तितम्।
तत्तथा वोऽभिधास्यामि क्रमयोगं च जन्मनि ॥ ४२ ॥ (२२)

(इह) इस संसार में (येषां भूतानाम्) जिन मनुष्यों का—वर्णगत मनुष्यों का (यादृशं कर्म) जैसा कर्म (कीर्तितम्) वेदों में कहा है (तत्) उसे (तथा) वैसे ही (१।८७—९१) (च) और (जन्मनि) उत्पन्न होने में (क्रम-योगम्) जीवों का जो एक निश्चित प्रकार रहता है, उसे (वः) आप लोगों को (अभिधास्यामि) कहूंगा ॥ ४२ ॥

अनुशीलन : ४२ वें श्लोक की शैली एवं अर्थ पर विचार—

(१) सृष्टि-उत्पत्ति का प्रसंग समाप्त होकर वह प्रसंग कर्मों के वर्णन की ओर चला गया था। किन्तु सृष्टि के सम्बन्ध में कुछ ऐसी बातें अभी शेष रह गई थीं, जिनसे अवगत कराना मनु को आवश्यक लगा। इसलिए वे प्रसंग को बदलकर पुनः सृष्टि-उत्पत्ति पर लाये हैं जिससे शेष अग्रिम बातों की जानकारी दे सकें। पहले उस प्रसंग को बदलने का संकेत कर दिया है। मनु की यह एक शैली है कि जब भी वे कोई भिन्न प्रसंग शुरू करते हैं, उसका संकेत देते हैं। इस कारण प्रसंग-भिन्नता का दोष नहीं आता (२) यहां 'कीर्तितम्' से 'वेदों में कहा है' यह भाव अभिप्रेत है। १। ३, २१, ८७ श्लोकों से यह पुष्ट होता है। इन श्लोकों में मनु ने यह भाव प्रकट किया है कि—पर-मात्मा ने जो भी कर्म आदि बनाये उनका ज्ञान वेदों के द्वारा करवाया। यहां वेदों में कहे कर्मों को ही मनु बतलायेंगे, क्योंकि १। ३ में मनु को 'कार्यतत्त्वार्थवित्' कहकर वेदों द्वारा प्रतिपादित धर्म-अधर्मों को ही जानने की इच्छा प्रकट की थी। (३) 'क्रम-योगम्' से यहां क्रमानुसार अर्थ लेना उचित नहीं है। जीवों के उत्पन्न होने में जो एक निश्चित प्रकार रहता है जैसे—मनुष्यादि जरायु से पैदा होते हैं। पक्षी, सर्प आदि अण्डों से, इत्यादि यहां 'क्रमयोगं च जन्मनि' का इसी से अभिप्राय है।

जरायुज-जीव—

पशवश्च मृगाश्चैव व्यालाश्चोभयतोदतः।
रक्षांसि च पिशाचाश्च मनुष्याश्च जरायुजाः ॥ ४३ ॥ (२३)

(पशवः) ग्राम्यपशु गौ आदि (मृगाः) अहिंसक वृत्ति वाले वन्यपशु हिरण आदि (च) और (उभयोदतः व्यालाः) दोनों ओर दांत वाले हिंसक वृत्ति वाले पशु सिंह, व्याघ्र आदि (च) तथा (रक्षांसि) राक्षस (पिशाचाः) पिशाच (च) तथा (मनुष्याः) मनुष्य (जरायुजाः) ये सब 'जरायुज' अर्थात् झिल्ली से पैदा होने वाले हैं ॥ ४३ ॥

अनुशीलन : राक्षस और पिशाच का लक्षण ३।३३-३४ श्लोकों की समीक्षा में द्रष्टव्य है।

अण्डज-जीव—

अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रा मत्स्याश्च कच्छपाः ।
यानि चैवंप्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च ॥ ४४ ॥ (२४)

(पक्षिणः) पक्षी (सर्पाः) सांप (नक्राः) मगरमच्छ (मत्स्याः) मछलियां (च) तथा (कच्छपाः) कछुए (च) और (यानि) अन्य जो (एवं प्रकाराणि) इस प्रकार के (स्थलजानि) भूमि पर रहने वाले (च) और (औदकानि) जल में रहने वाले जीव हैं, वे सब (अण्डजाः) 'अण्डज' अर्थात् अण्डे से उत्पन्न होने वाले हैं ॥ ४४ ॥

स्वेदज-जीव—

स्वेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम् ।
ऊष्मणश्चोपजायन्ते यच्चान्यत्किञ्चिदीदृशम् ॥ ४५ ॥ (२५)

(दंशमशकम्) डंक से काटने वाले मच्छर आदि (यूका) जूं (माक्षक) मक्खियां (मत्कुणम्) खटमल (यत् च अन्यत् किञ्चित् ईदृशम्) जो और भी कोई इस प्रकार के जीव हैं जो (ऊष्मणः) ऊष्मा अर्थात् सीलन और गर्मी से (उपजायन्ते) पैदा होते हैं, । वे सब (स्वेदजम्) 'स्वेदज' अर्थात् पसीने से उत्पन्न होनेवाले कहाते हैं ॥ ४५ ॥

अनुशीलन : संस्कृत के शब्दकोशों के अनुसार और जैसा कि इस श्लोक से भी ज्ञात होता है, यहां 'स्वेद' शब्द का अर्थ व्यापक है। प्राकृतिक पदार्थों में उत्पन्न क्लिन्नता=सीलन या तापयुक्त सीलन, प्राणियों के शरीर से उत्पन्न पसीना और नवमेघकृत सेचन, ये सब 'स्वेद' कहलाते हैं। इन स्वेदरूपों से श्लोक में वर्णित तथा अन्य बहुत से लघु जीव उत्पन्न होते हैं। ये सब 'स्वेदज' कहलाते हैं।

उद्भिज्ज जीव तथा ओषधियां—

उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः ।

ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ॥ ४६ ॥ (२६)

(बीजकाण्डप्ररोहिणः) बीज और शाखा से उत्पन्न होने वाले (सर्वे स्थावराः) सब स्थावर जीव [एक स्थान पर टिके रहने वाले] वृक्ष आदि (उद्भिज्जाः) 'उद्भिज्ज'—भूमि को फाड़कर उगने वाले कहाते हैं। इनमें—(फलपाकान्ताः) फल आने पर पककर सूख जाने वाले और (बहुपुष्पफलोपगाः) जिन पर बहुत फूल-फल लगते हैं, । (ओषध्यः) वे 'ओषधि' कहलाते हैं ॥ ४६ ॥

वनस्पति तथा वृक्ष—

> अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः ।
> पुष्पिणः फलिनश्चैव वृक्षास्तूभयतः स्मृताः ॥ ४७ ॥ (२७)

(ये अपुष्पाः फलवन्तः) जिन पर बिना फूल आये ही फल लगते हैं, (ते) वे (वनस्पतयः स्मृताः) 'वनस्पतियां' कहलाती हैं। [जैसे-बड़=वट, पीपल, गूलर आदि] (च) और (पुष्पिणः फलिनः एव) फूल लगकर फल लगने वाले (उभयतः) दोनों से युक्त होने के कारण (वृक्षाः) वे उद्भिज्ज स्थावर जीव 'वृक्ष' (स्मृताः) कहलाते हैं ॥ ४७ ॥

गुल्म, गुच्छ, तृण, प्रतान तथा बेल—

> गुच्छगुल्मं तु विविधं तथैव तृणजातयः ।
> बीजकाण्डरुहाण्येव प्रताना वल्ल्य एव च ॥ ४८ ॥ (२८)

(विविधम्) अनेक प्रकार के (गुच्छ) जड़ से गुच्छे के रूप में बनने वाले 'झाड़' आदि (गुल्मम्) एक जड़ से अनेक भागों में फूटने वाले 'ईख' आदि (तथैव) उसी प्रकार (तृणजातयः) घास की सब जातियां, (बीजकाण्डरुहाणि) बीज और शाखा से उत्पन्न होने वाले (प्रतानाः) उगकर फैलने वाली 'दूब' आदि (च) और (वल्ल्यः) उगकर किसी का सहारा लेकर चढ़ने वाली बेलें (एव) ये सब स्थावर भी 'उद्भिज्ज' कहलाते हैं ॥ ४८ ॥

वृक्षों में अन्तश्चेतना—

> तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना ।
> अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ॥ ४९ ॥ (२९)

(कर्महेतुना) पूर्वजन्मों के बुरे कर्मफलों के कारण (बहुरूपेण तमसा) बहुत प्रकार के अज्ञान आदि तमोगुण से (वेष्टिताः) आवेष्टित=घिरे हुए या भरपूर (एते) ये स्थावर जीव [४६–४८] (सुख-दुःख-समन्विताः) सुख और दुःख के भावों से संयुक्त हुए (अन्तःसंज्ञाः भवन्ति) आन्तरिक चेतना वाले होते हैं। अर्थात् इनके भीतर चेतना तो होती है किन्तु चर प्राणियों

के समान बाहरी क्रियाओं में प्रकट नहीं होती। अत्यधिक तमोगुण के कारण चेतना और भावों का प्रकटीकरण नहीं हो पाता ॥ ४९ ॥

अनुशीलन : वृक्षों की चेतनता पर विचार—मनु ने यहां वृक्षादि में चेतना तो स्वीकार की है किन्तु वह चेतना बाह्यरूप में प्रकट होने वाली न होकर केवल आन्तरिक मानी है। दूसरी बात यह है कि ये अत्यधिक तमोगुण से वेष्टित हैं।

यद्यपि सुख-दुःख के भावों से युक्त चेतना इनमें है किन्तु तमोगुणाधिक्य के कारण उनकी अनुभूति इनमें नहीं है। जैसे मूच्छित प्राणी में चेतना होते हुए भी सुख-दुःख का ज्ञान नहीं होता। अतः वृक्षों के साथ सुख-दुख का व्यवहार नहीं है। सुख-दुःख-अनुभूति उसी को होती है जो पञ्चेन्द्रियों से संयुक्त होता है और उन इन्द्रियों के साथ उनके विषय का सम्बन्ध होता है, अन्यथा नहीं। सांख्यदर्शन में कहा है—

पञ्चावयवयोगात्सुखसंवित्तिः ॥ ५। २७ ॥

"जब पांचों इन्द्रियों का पांच विषयों के साथ सम्बन्ध होता है, तभी सुख वा दुःख की प्राप्ति जीव को होती है। जैसे बधिर को गाली प्रदान, अन्धे को रूप वा आगे से सर्प, व्याघ्रादि भयदायक जीवों का चलाजाना, शून्य बहिरी वालों को स्पर्श, पिन्नस रोग वाले को गन्ध और शून्य जिह्वा वाले को रस प्राप्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार उन जीवों की भी व्यवस्था है।" (स०प्र० द्वादश समु०) इसी प्रकार वृक्षों को पीड़ा की अनुभूति नहीं होती और इसी कारण वृक्षों के काटने आदि में हिंसा तथा हिंसाजन्य पाप नहीं होता।

परमात्मा की जाग्रत् एवं सुषुप्ति अवस्थाएं—

यदा स देवो जागर्ति तदेवं चेष्टते जगत्।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥५२॥ (३०)

(यदा) जब (सः देवः) वह परमात्मा [१। ६ में वर्णित] (जागर्ति) जागता है अर्थात् सृष्ट्युत्पत्ति के लिए प्रवृत्त होता है (तदा) तब (इदं जगत् चेष्टते) यह [१। ४२–४९ में वर्णित] समस्त संसार चेष्टायुक्त [प्रकृति से समस्त विकृतियों की उत्पत्ति पुनः प्राणियों का श्वास- प्रश्वास चलना आदि चेष्टाओं से युक्त] होता है, (यदा) और जब (शान्तात्मा) यह शान्त आत्मा वाला सभी कार्यों से शान्त होकर (स्वपिति) सोता है अर्थात् सृष्टि-उत्पत्ति, स्थिति के कार्य से निवृत्त हो जाता है (तदा) तब (सर्वम्) यह समस्त संसार (निमीलति) प्रलय को प्राप्त हो जाता है ॥ ५२ ॥

परमात्मा की सुषुप्ति अवस्था में जगत् की प्रलयावस्था—

तस्मिन्स्वपिति सुस्थे तु कर्मात्मानः शरीरिणः।
स्वकर्मभ्यो निवर्तन्ते मनश्च ग्लानिमृच्छति ॥ ५३ ॥ (३१)

(सुस्थे) सृष्टि-कर्म से निवृत्त हुए (तस्मिन् स्वपिति तु) उस परमात्मा के सोने पर (कर्मात्मानः) कर्मों [illegible] मनुष्यादि

कर्मों में लगे रहने का स्वभाव है जिनका, ऐसे (शरीरिणः) देहधारी जीव भी (स्वकर्मभ्यः, निवर्तन्ते) अपने-अपने कर्मों से निवृत्त हो जाते हैं (च) और (मनः) 'महत्' तत्त्व (ग्लानिम्) उदासीनता = सब कार्य-व्यापारों से विरत होने की अवस्था को या अपने कारण में लीन होने की अवस्था को (ऋच्छति) प्राप्त करता है ॥ ५३ ॥

अनुशीलन : मन शब्द से यहाँ 'महत्तत्त्व' अर्थ अभिप्रेत है। इसकी पुष्टि के लिए १।१४–१५ श्लोकों की समीक्षा द्रष्टव्य है।

युगपत्तु प्रलीयन्ते यदा तस्मिन्महात्मनि।
तदायं सर्वभूतात्मा सुखं स्वपिति निर्वृतः ॥ ५४ ॥ (३२)

(तस्मिन् महात्मनि) उस सर्वव्यापक परमात्मा के आश्रय में (यदा) जब (युगपत् तु प्रलीयन्ते) एकसाथ ही सब प्राणी चेष्टाहीन होकर लीन हो जाते हैं (तदा) तब (अयं सर्वभूतात्मा) यह सब प्राणियों का आश्रय-स्थान परमात्मा (निर्वृतः) सृष्टि-संचालन के कार्यों से निवृत्त हुआ-हुआ (सुखं स्वपिति) सुखपूर्वक सोता है ॥ ५४ ॥

एवं स जाग्रत्स्वप्नाभ्यामिदं सर्वं चराचरम्।
सञ्जीवयति चाजस्रं प्रमापयति चाव्ययः ॥ ५७ ॥ (३३)

(सः अव्ययः) वह अविनाशी परमात्मा (एवम्) इस प्रकार [५१-५४ के अनुसार] (जाग्रत्-स्वप्नाभ्याम्) जागने और सोने की अवस्थाओं के द्वारा (इदं सर्वं चर-अचरम्) इस समस्त जड़-चेतन जगत् को क्रमशः (अजस्रं सञ्जीवयति) प्रलयकाल तक निरन्तर जिलाता है (च) और फिर (प्रमापयति) मारता है अर्थात् कारण में लीन करता है ॥ ५७ ॥

अनुशीलन : मान्यता एवं भावसाम्यता के लिए इसकी पुष्टि में १२।१२४ श्लोक भी द्रष्टव्य है।

निमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त और दिन-रात का काल-परिमाण—

निमेषा दश चाष्टौ च काष्ठा त्रिंशत्तु ताः कला।
त्रिंशत्कला मुहूर्तः स्यादहोरात्रं तु तावतः ॥ ६४ ॥ (३४)

(दश च अष्टौ च) दस और आठ मिलाकर अर्थात् अठारह (निमेषाः) निमेषों [=पलक झपकने का समय] की (काष्ठा) एक काष्ठा होती है (ताः त्रिंशत्तु) उन तीस काष्ठाओं की (कला) एक कला होती है (त्रिंशत्कलाः) तीस कलाओं का (मुहूर्तः स्यात्) [४८ मिनट का] होता है, और (तावतः तु) उतने ही अर्थात् ३० मुहूर्तों के (अहोरात्रम्) एक दिन-रात होते हैं ॥ ६४ ॥

अनुशीलन : (१) प्राचीन काल-परिमाण की आधुनिक काल परिमाणों से तुलना—आधुनिक काल-विभाग के अनुसार इस समय को निम्न प्रकार बांटा जा सकता है—८/४५ सैकेण्ड का निमेष, ३⅕ सैकेण्ड की १ काष्ठा, १ मिनट ३६ सैकेण्ड की १ कला, ४८ मिनट का १ मुहूर्त और २४ घण्टे के एक दिन-रात होते हैं।

(२) ६४ वें श्लोक की शैली पर विचार—यहां पाठकों को यह शंका हो सकती है कि जब मनु की शैली किसी भी विषय और प्रसंग के प्रारम्भ, अन्त अथवा दोनों स्थानों पर उसका संकेत देने की है (जैसा कि भूमिका में प्रदर्शित है) तो यह काल-प्रमाण का प्रसंग बिना संकेत के क्यों प्रारम्भ कर दिया गया? इसके उत्तर में स्पष्ट कर देना उपयोगी होगा कि इस प्रसंग का भी कई स्थानों पर संकेत है। ५२-५७ श्लोकों में परमात्मा की जाग्रत् और सुषुप्ति अवस्थाओं की प्रसंग से चर्चा की थी। उसी से यह कालप्रमाण का प्रसंग सम्बद्ध है। वे श्लोक इसकी भूमिकावत् हैं। आलंकारिक वर्णन करते समय सृष्टिकाल को परमात्मा की जाग्रत् अवस्था माना है और सुषुप्ति को प्रलय अवस्था। ये अवस्थाएं दिन और रात की अपेक्षा रखती हैं, अतः परमात्मा का दिन कितना और रात कितनी होती है यह बतलाना आवश्यक हुआ। उसे ही कहने के लिए प्रारम्भ में मानुष-दिन-रात का वर्णन करते हुए [६४-६५] ६८ वें श्लोक में परमात्मा के दिन-रात का वर्णन करने का संकेत दे दिया है और ७३ वें में इस चर्चा को समाप्त किया है। इस प्रकार इन श्लोकों के प्रसंग की कड़ी सुनिश्चित क्रम के पूर्वापर प्रसंगों से जुड़ी हुई है।

सूर्य द्वारा दिन-रात का विभाग—

अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषदैविके।
रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः ॥ ६५ ॥ (३५)

(सूर्यः) सूर्य (मानुष-दैविके) मानुष=मनुष्यों के और दैवी=देवों के (अहोरात्रे) दिन-रातों का (विभजते) विभाग करता है, उनमें (भूतानां स्वप्नाय रात्रिः) प्राणियों के सोने के लिए 'रात' है और (कर्मणां चेष्टायै अहः) कामों के करने के लिए 'दिन' होता है ॥ ६५ ॥

दैवी दिन-रात उत्तरायण-दक्षिणायन—

दैवे राज्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः।
अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्याद्दक्षिणायनम् ॥ ६७ ॥ (३६)

(वर्षम्) मनुष्यों का एक वर्ष (दैवे रात्रि-अहनी) एक दैवी 'दिन-रात' होते हैं (तयोः पुनः प्रविभागः) उन दैवी 'दिनरात' का भी फिर विभाग है—(तत्र+उदगयनम् अहः) उसमें सूर्य की मुख्य रेखा से उत्तर की ओर स्थिति अर्थात् 'उत्तरायण' दैवी दिन कहलाता है, और (दक्षिणा-

यनम् रात्रिः स्यात्) सूर्य की दक्षिण की ओर स्थिति अर्थात् 'दक्षिणायन' दैवी रात है ॥ ६७ ॥

अनुशीलन : (१) **उत्तरायण-दक्षिणायन का विवेचन**—इस श्लोक में दैवी दिन-रातों का वर्णन किया गया है। यहाँ देव शब्द से कोई लौकिक-अलौकिक प्राणिविशेष अभिप्रेत नहीं है अपितु जड़-देवता सूर्य का आलंकारिक वर्णन है। ६५ वें श्लोक में स्पष्ट शब्दों में सूर्य को मानुष और दैवी दिन-रातों का विभागकर्त्ता बतलाया गया है। उसी के क्रम से यहां उत्तरायण और दक्षिणायन रूपी दिन-रातों का वर्णन है। सूर्य के ये दोनों अयन छः-छः मास निम्न प्रकार होते हैं—

१. उत्तरायण
- १. भूमध्यरेखा से उत्तर की ओर सूर्य की स्थिति का काल।
- २. मकररेखा से उत्तर कर्करेखा की ओर स्थिति का काल।
- ३. माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़—इन छह मासों का समय।
- ४. शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म ऋतु का काल।

२. दक्षिणायन
- १ भूमध्य रेखा से दक्षिण की ओर सूर्य की स्थिति का काल।
- २. कर्क रेखा से दक्षिण मकररेखा की ओर स्थिति का काल।
- ३. श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक आग्रहायण, पौष—इन छह मासों का समय।
- ४. वर्षा, शरद्, हेमन्त ऋतुओं का काल।

मानुष दिन उज्ज्वल एवं तीव्र प्रकाशमय होता है और रात्रि अनुज्ज्वल एवं मन्द प्रकाश (तारे चन्द्र आदि का प्रकाश) वाली होती है। इसी प्रकार उत्तरायण के समय ग्रीष्म ऋतु में सूर्य के प्रकाश और ताप में तीव्रता की अधिकता होती है, अतः यह अयन दिन के समान है। दक्षिणायन के समय हेमन्त ऋतु में सूर्य के प्रकाश और ताप में स्वल्पता एवं मन्दता होती है, अतः वह अयन रात्रि के समान है। इस प्रकार दैवी दिन-रातों का आलंकारिक वर्णन है।

(२) **सूर्य जड़ देवता है**—निरुक्त में 'देव' शब्द की निरुक्ति इस प्रकार दी है—"**देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा।**" (७।४।१५) अर्थात्—'दान देने वाले, प्रकाशित करने वाले, प्रकाशित होने वाले या द्युस्थानीय को देवता कहते हैं।' सूर्य द्युस्थानीय है और अपने प्रकाश से सब मूर्तिमान् द्रव्यों को प्रकाशित करता है, अतः देव या देवता है।

शतपथ ब्राह्मण में देवताओं पर प्रकाश डालते हुए जड़ और चेतन रूप में ३३ देवता परिगणित किये हैं। उनमें वसुसंज्ञक देवताओं में 'सूर्य' को भी परिगणित किया है—

"**स होवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवा इति। कतमे ते त्रयस्त्रिंशदिति? अष्टौ वसवः, एकादश रुद्राः, द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशत्' इन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति।**

कतमे वसव इति ? अग्निश्च, पृथिवी च, वायुश्च, अन्तरिक्षं च, आदित्यश्च, द्यौश्च, चन्द्रमाश्च, नक्षत्राणि च, एते वसवः ।

कतमे रुद्रा इति ? दशेमे पुरुषे प्राणाः (प्राणः, अपानः, व्यानः, समानः, उदानः, नागः, कूर्म, कृकलः, देवदत्तः, धनञ्जयश्च) आत्मा-एकादशस्ते ।

कतम आदित्या इति ? द्वादश मासाः संवत्सरस्य एते आदित्याः ।

(३) कतम इन्द्र, कतमः प्रजापतिरिति । स्तनयित्नुरेवेन्द्रो, यज्ञः प्रजापतिरिति । तदाहुः । यदयमेक इव पवते । कतम एको देव इति ? स ब्रह्मात्यदित्या-चक्षते । (शत० कां० १४ । प्रपा० १६)

इसके अतिरिक्त दिव्यगुण और दिव्य कर्म वाले व्यक्ति भी देव कहाते हैं यथा—"मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव अतिथिदेवो भव ।" (प्रपा० ७।११) [विस्तृत समीक्षा ३।८२ पर द्रष्टव्य है] ।

ब्राह्म के दिन-रात का वर्णन—

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः ।
एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत ॥ ६८ ॥ (३७)

[मनु महर्षियों से कहते हैं कि] (ब्राह्मस्य तु क्षपा+अहस्य) ब्राह्म=परमात्मा के दिन-रात का (तु) तथा (एकैकशः युगानाम्) एक-एक युगों का (यत् प्रमाणम्) जो कालपरिमाण है (तत्) उसे (क्रमशः) क्रमानुसार और (समासतः) संक्षेप से (निबोधत) सुनो ॥ ६८ ॥

अनुशीलन : ब्राह्मदिन व ब्राह्मरात्रि का विशेष परिमाण (१।७२) में द्रष्टव्य है ।

सतयुग का परिमाण—

चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम् ।
तस्य यावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च तथाविधः ॥ ६९ ॥ (३८)

(तत् चत्वारि सहस्राणि वर्षाणां कृतं युगम् आहुः) उन दैवी [६७वें में जिनके दिन-रातों का वर्णन है] चार हजार दिव्य वर्षों का एक 'सतयुग' कहा है । (तस्य) इस सतयुग की (यावत्+शती सन्ध्या) जितने दिव्य सौ वर्ष की अर्थात् ४०० वर्ष की सन्ध्या होती है और (तथाविधः) उतने ही वर्षों का अर्थात् ४०० वर्षों का (सन्ध्यांशः) संध्यांश का समय होता है ॥६९॥

अनुशीलन : चार युगों का परिमाण—किसी भी युग के पूर्वसन्धि-काल को 'संध्या' और उत्तरसन्धि काल को 'संध्यांश' कहा जाता है । श्लोक के अनुसार सतयुग का कालपरिमाण—४००० + ४०० (संध्यावर्ष) + ४०० (संध्यांशवर्ष) = ४८०० दिव्यवर्ष बनता है । इसे मानुषवर्षों में बदलने के लिए ३६० से गुना करना पड़ेगा । इस प्रकार ४८०० + ३६० = १७२८००० मानुष वर्षों का एक सतयुग होता है ।

त्रेता, द्वापर तथा कलियुग का परिमाण—

इतरेषु ससन्ध्येषु ससन्ध्यांशेषु च त्रिषु।
एकापायेन वर्त्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥ ७० ॥ (३६)

(च) और (इतरेषु त्रिषु) शेष अन्य तीन—त्रेता, द्वापर, कलियुगों में (ससंध्येषु ससंध्यांशेषु) 'संध्या' नामक कालों में तथा 'संध्यांश' नामक कालों में (सहस्राणि च शतानि एक-अपायेन) क्रमशः एक-एक हजार और एक-एक सौ घटा देने से (वर्तन्ते) उनका अपना-अपना कालपरिमाण निकल आता है अर्थात् ४८०० दिव्यवर्षों का सतयुग होता है, उसकी संख्या में से एक सहस्र और संध्या ४०० वर्ष व संध्यांश ४०० वर्ष में से एक-एक सौ घटाने से ३००० दिव्यवर्ष + ३०० संध्यावर्ष + ३०० संन्ध्यांशवर्ष = ३६०० दिव्यवर्षों का त्रेतायुग होता है इसी—२००० + २०० + २०० = २४०० दिव्यवर्षों का द्वापर और १००० + १०० + १०० = १२०० दिव्यवर्षों का कलियुग होता है ॥ ७० ॥

देवयुग का परिमाण—

यदेतत्परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम्।
एतद् द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते ॥ ७१ ॥ (४०)

(यद् + एतत्) जो यह (आदौ) पहले [६९-७० में] (चतुर्युगम्) चारों युगों को (परिसंख्यातम्) कालपरिमाण के रूप में गिनाया है (एतद्) यह (द्वादशसाहस्रम्) बारह हजार दिव्य वर्षों का काल [मनुष्यों का एक चतुर्युगी का काल] (देवानाम्) देवताओं का (युगम्) एक युग (उच्यते) कहा जाता है ॥ ७१ ॥

अनुशीलन : चार युगों के परिमाणकी तुलनात्मक तालिका—१२००० दिव्यवर्षों की एक चतुर्युगी होती है। उसे मानुष वर्षों में बदलने लिए ३६० से गुणा करने पर १२००० + ३६० = ४३,२०,००० मानुष वर्षों की एक चतुर्युगी होती है। दोनों श्लोकों के कालपरिमाण को तालिका के रूप में इस प्रकार रखा जा सकता है—

दिव्यवर्ष,	संध्यावर्ष,	संध्यांशवर्ष,	कुल दिव्यवर्षोंको	गुणा करनेसे	मानुषवर्ष,	युगनाम
४००० +	४०० +	४०० =	४८०० ×	३६० =	१७,२८,०००	सतयुग
३००० +	३०० +	३०० =	३६०० ×	३६० =	१२,९६,०००	त्रेतायुग
२००० +	२०० +	२०० =	२४०० ×	३६० =	८,६४,०००	द्वापरयुग
१००० +	१०० +	१०० =	१२०० ×	३६० =	४,३२,०००	कलियुग
१०००० +	१००० +	१००० =	१२०००—	३६० =	४३,२०,०००	एकचतुर्युगी

ब्रह्म के दिन-रात का परिमाण—

दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया ।
ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावतीं रात्रिमेव च ॥ ७२ ॥ (४१)

(दैविकानां युगानाम् तु) देवयुगों को (सहस्रं परिसंख्यया) हजार से गुणा करने पर जो कालपरिमाण निकलता है, जैसे—चार मानुषयुगों के दिव्यवर्ष १२००० होते हैं, उनको हजार से गुणा करने पर १,२०,००,००० दिव्यवर्षों का (ब्राह्मम्) परमात्मा का (एकं अहः) एक दिन (च) और (तावतीं रात्रिम्) उतने ही दिव्यवर्षों की उसकी एक रात (ज्ञेयम्) समझनी चाहिए ॥ ७२ ॥

अनुशीलन : चार मानुष युगों के दिव्यवर्ष—१२००० × १००० = १,२०,००,००० दिव्यवर्षों का ब्रह्म का एक दिन अथवा रात्रि हुई । यह १,२०,०० ००० × ३६० = ४,३२,००,००,००० मानुषवर्षोंका कालपरिमाण बनता है। चार अरब बत्तीस करोड़ मानुष वर्षों का सृष्ट्युत्पत्ति काल है, जो परमात्मा की जाग्रत् अवस्था (सृष्टि में प्रवृत्त रहना) का दिन है। इतना ही काल सुषुप्ति अवस्था (सृष्टिकार्यों से निवृत्त होकर प्रलय रखना) का रात्रि-काल है (यही १।५२—५७ श्लोकों में आलंकारिक रूप से वर्णित है)।

तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः ।
रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ ७३ ॥ (४२)

जो लोग (तत् युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यम्+अहः) उस एक हजार दिव्य युगों के परमात्मा के पवित्र दिन को (च) और (तावतीम् एव रात्रिम्) उतने ही युगों की परमात्मा की रात्रि को (विदुः) समझते हैं (ते वै) वे ही (अहोरात्रविदः जनाः) वास्तव में दिन-रात=सृष्टि-उत्पत्ति और प्रलय के काल-विज्ञान के वेत्ता लोग हैं ॥ ७३ ॥

अनुशीलन : वेदोत्पत्ति-समय पर विचार—महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में १ । ६८ से ७३ श्लोकों को उद्धृत करके उनका भाव निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है—

"प्रश्न—वेदों की उत्पत्ति में कितने वर्ष हो गये हैं ?

उत्तर—एक वृन्द, छानवे करोड़, आठ लाख, बावन हजार, नव सौ, छहत्तर अर्थात् १,९६,०८,५२,९७६ वर्ष वेदों की और जगत् की उत्पत्ति में हो गये हैं और यह संवत् ७७ सतहत्तरवाँ वर्त्त रहा है।

प्रश्न—यह कैसे निश्चय होय कि इतने ही वर्ष वेद और जगत् की उत्पत्ति में बीत गये हैं ?

उत्तर—यह जो वर्तमान सृष्टि है इसमें सातवें (७) वैवस्वत मनु का वर्त्तमान है। इससे पूर्व छः मन्वन्तर हो चुके हैं—स्वायंभुव १, स्वारोचिष २, औत्तमि ३, तामस ४, रैवत ५, चाक्षुष ६, ये छः तो बीत गये हैं और ७ (सातवां) वैवस्वत वर्त्त रहा है और सावर्णि आदि ७ (सात) मन्वन्तर आगे भोगेंगे। ये सब मिलके १४ (चौदह) मन्वन्तर होते हैं और एकहत्तर चतुर्युगियों का नाम मन्वन्तर धरा गया है, सो उस की गणना इस प्रकार से है कि (१७२८०००) सत्रह लाख अट्ठाईस हजार वर्षों का सतयुग रक्खा है; (१२९६०००) बारह लाख, छानवे हजार वर्षों का नाम त्रेता; (८६४०००) आठ लाख चौंसठ हजार वर्षों का नाम द्वापर और (४३२०००) चार लाख, बत्तीस हजार वर्षों का नाम कलियुग रक्खा है तथा आर्यों ने एक क्षण और निमेष से लेके एक वर्ष पर्यन्त भी काल की सूक्ष्म और स्थूल संज्ञा बांधी है और इन चारों युगों के (४३२०००) तितालीस लाख, बीस हजार वर्ष होते हैं, जिनका चतुर्युगी नाम है।

एकहत्तर (७१) चतुर्युगियों के अर्थात् (३०६७२००००) तीस करोड़, सरसठ लाख बीस हजार वर्षों की एक मन्वन्तर संज्ञा की है और ऐसे-ऐसे छः मन्वन्तर मिलकर अर्थात् (१८४०३२००००) एक अर्ब, चौरासी करोड़, तीन लाख, बीस हजार वर्ष हुए और सातवें मन्वन्तर के भोग में यह (२८) अट्ठाईसवीं चतुर्युगी है। इस चतुर्युगी में कलियुग के (४९७६) चार हजार नौ सौ छहत्तर वर्षों का तो भोग हो चुका है और बाकी (४२७०२४) चार लाख सत्ताईस हजार चौबीस वर्षों का भोग होने वाला है। जानना चाहिए कि (१२०५३२९७६) बारह करोड़, पांच लाख, बत्तीस हजार, नव सौ छहत्तर वर्ष तो वैवस्वत मनु के भोग हो चुके हैं और (१८६१८७०२४) अठारह करोड़ एकसठ लाख, सत्तासी हजार, चौबीस वर्ष भोगने के बाकी रहे हैं। इनमें से यह वर्तमान वर्ष (७७) सतहत्तरवाँ है, जिस को आर्यलोग विक्रम का (१९३३) उन्नीस सौ तेतीसवां संवत् कहते हैं।

जो पूर्व चतुर्युगी लिख आये हैं उन एक हजार चतुर्युगियों की ब्राह्मदिन संज्ञा रखी है और उतनी ही चतुर्युगियों की रात्रि संज्ञा जाननी चाहिए। सो सृष्टि की उत्पत्ति करके हजार चतुर्युगी पर्यन्त ईश्वर इसको बना रखता है, इसी का नाम ब्राह्मदिन रक्खा है; और हजार चतुर्युगी पर्यन्त सृष्टि को मिटाके प्रलय अर्थात् कारण में लीन रखता, है उस का नाम ब्राह्मरात्रि रक्खा है। अर्थात् सृष्टि के वर्तमान होने का नाम दिन और प्रलय होने का नाम रात्रि है। यह जो वर्त्तमान ब्राह्मदिन है, इसके (१, ९६,०८,५२,९७६) एक अर्ब, छानवे करोड़, आठ लाख, बावन हजार, नव सौ छहत्तर वर्ष इस सृष्टि की तथा वेदों की उत्पत्ति में भी व्यतीत हुए हैं और (२३३३२२७०२४) दो अर्ब, तेतीस करोड़, बत्तीस लाख, सत्ताईस हजार, चौबीस वर्ष इस सृष्टि को भोग करने के बाकी रहे हैं। इनमें से अन्त का यह चौबीसवां वर्ष भोग रहा है। आगे आने वाले भोग के वर्षों में से एक-एक घटाते जाना और गत वर्षों में क्रम से एक-एक वर्ष मिलाते जाना चाहिये। जैसे आर्य [illegible] आये हैं।" (ऋ० भू० पृष्ठ २३-२४)

सुषुप्तावस्था से जागने पर सृष्टि-उत्पत्ति का प्रारम्भ—

तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रतिबुध्यते ।
प्रतिबुद्धश्च सृजति मनः सदसदात्मकम् ॥७४॥ (४३)

(सः प्रसुप्तः) वह प्रलय-अवस्था में सोया हुआ-सा [१ । ५२-५७] परमात्मा (तस्य अहर्निशस्य+अन्ते) उस [१ । ६८-७२] दिन-रात के बाद (प्रति-बुध्यते) जागता है=सृष्ट्युत्पत्ति में प्रवृत्त होता है (च) और (प्रति-बुद्धः) जागकर (सद्-असद्+आत्मकम्) जो कारणरूप में विद्यमान रहे और जो विकारी अंश से कार्यरूप में अविद्यमान रहे, ऐसे स्वभाव वाले (मनः) 'महत्' नामक प्रकृति के आद्यकार्यतत्त्व को (सृजति) सृष्टि करता है ॥ ७४ ॥

अनुशीलन : (१) यहां सृष्टि-उत्पत्ति का नया प्रसंग प्रारम्भ नहीं किया गया है अपितु पूर्वोक्त प्रसंग में [१ । १४-१६] तत्त्वों की उत्पत्ति के साथ भूतों की उत्पत्ति-प्रक्रिया का वर्णन नहीं हो पाया था, उसी शेष वर्णन को यहां विस्तार से दर्शाया है ।

(२) इस श्लोक में मन का अर्थ 'महत्तत्त्व' है जो सृष्टि-उत्पत्ति में प्रकृति का प्रथम कार्य है । इसकी पुष्टि के लिए विस्तृत समीक्षा १ । १४-१५ के अनुशीलन में देखिए ।

सूक्ष्म पञ्चभूतों की उत्पत्ति के क्रम में आकाश की उत्पत्ति—

मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया ।
आकाशं जायते तस्मात्तस्य शब्दं गुणं विदुः ॥ ७५ ॥ (४४)

(सिसृक्षया) सृष्टि को रचने की इच्छा से फिर वह परमात्मा (मनः सृष्टिं विकुरुते) महत्तत्त्व की सृष्टि को विकारी भाव में लाता है—अहंकार के रूप में विकृत करता है (तस्मात्) फिर उस के विकारी अंश से (चोद्य-मानम् आकाशं जायते) प्रेरित हुआ-हुआ 'आकाश' उत्पन्न होता है । (तस्य) उस आकाश का (गुणं शब्दं विदुः) गुण 'शब्द' को मानते हैं ॥ ७५ ॥

अनुशीलन : आकाशोत्पत्ति के विषय में महर्षि दयानन्द लिखते हैं—

"उस परमेश्वर और प्रकृति से आकाश=अवकाश अर्थात् जो कारणरूप द्रव्य सर्वत्र फैल रहा है उसको इकट्ठा करने से अवकाश उत्पन्न-सा होता है । वास्तव में आकाश की उत्पत्ति नहीं होती । क्योंकि बिना आकाश के प्रकृति और परमाणु कहां ठहर सकें ?" (स० प्र० अष्टम समु०)

वायु की उत्पत्ति—

आकाशात्तु विकुर्वाणात्सर्वगन्धवहः शुचिः ।
बलवाञ्जायते वायुः स वै स्पर्शगुणो मतः ॥ ७६ ॥ (४५)

(आकाशात् तु विकुर्वाणात्) उस आकाश के विकारोत्पादक अंश से (सर्वगन्धवहः) सब गन्धों को वहन करने वाला (शुचिः) शुद्ध और (बलवान्) शक्तिशाली (वायुः) 'वायु (जायते) उत्पन्न होता है (सः वै) वह वायु निश्चय से (स्पर्शगुणः) 'स्पर्श' गुणवाला (मतः) माना गया है ॥७६॥

अग्नि की उत्पत्ति—

वायोरपि विकुर्वाणाद्विरोचिष्णुः तमोनुदम् ।
ज्योतिरुत्पद्यते भास्वत्तद्रूपगुणमुच्यते ॥ ७७ ॥ (४६)

(वायोः+अपि) उस वायु के भी (विकुर्वाणात्) विकारोत्पादक अंश से (विरोचिष्णुः) उज्ज्वल (तमोनुदम्) अन्धकार को नष्ट करने वाली (भास्वत्) प्रकाशक (ज्योतिः+उत्पद्यते) 'अग्नि' उत्पन्न होती है (तत्+रूप गुणम्+उच्यते) उसका गुण 'रूप' कहा है ॥ ७७ ॥

जल और पृथिवी की उत्पत्ति—

ज्योतिषश्च विकुर्वाणादापो रसगुणाः स्मृताः ।
अद्भ्यो गन्धगुणा भूमिरित्येषा सृष्टिरादितः ॥ ७८ ॥ (४७)

(च) और (ज्योतिषः विकुर्वाणात्) अग्नि के विकारोत्पादक अंश से (रसगुणाः आपः स्मृताः) 'रस' गुण वाला जल उत्पन्न होता है और (अद्भ्यः) जल से (गन्धगुणा भूमिः) 'गन्ध' गुण वाली भूमि उत्पन्न होती है (इति+एषा सृष्टिः+आदितः) यह इस प्रकार प्रारम्भ से लेकर [१।१४ से) यहां तक वर्णित सृष्टि उत्पन्न होने की प्रक्रिया है ॥ ७८ ॥

अनुशीलन : ७५ से ७८ तक के श्लोकों की प्रक्रिया को और स्पष्ट रूप से समझने के लिए १।१६ पर 'अनुशीलन' में सं० १ समीक्षा भी द्रष्टव्य है।

मन्वन्तर के काल-परिमाण—

यत्प्राग्द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम् ।
तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ॥ ७९ ॥ (४८)

(प्राक्) पहले श्लोकों में [१।७१] (यत्) जो (द्वादशसाहस्रम्) बारह हजार दिव्य वर्षों का (दैविकं युगम्+उदितम्) एक 'देवयुग' कहा है (तत्+एकसप्ततिगुणम्) उससे इकहत्तर गुना समय अर्थात् १२००० × ७१ = ८,५२,००० दिव्यवर्षों का अथवा ८,५२,००० दिव्यवर्ष × ३६० = ३०,

६७,२०,००० मानुषवर्षों का (इह मन्वन्तरम् उच्यते) यहां एक 'मन्वन्तर का कालपरिमाण माना गया है ॥ ७६ ॥

मन्वन्तराण्यसंख्यानि सर्गः संहार एव च ।
क्रीडन्निवैतत्कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥ ८० ॥ (४६)

(परमेष्ठी) वह सबसे महान् परमात्मा (असंख्यानि मन्वन्तराणि) असंख्य 'मन्वन्तरों' को (सर्गः) सृष्टि-उत्पत्ति (च) और (संहारः एव) प्रलय को (क्रीडन्+इव) खेलता हुआ-सा (पुनः-पुनः) बार-बार (कुरुते) करता रहता है ॥ ८० ॥

अनुशीलन—१।७९–८० श्लोकों को उद्धृत करके इनके भाव को महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है—

"इन श्लोकों में दैव-वर्षों की गणना की है अर्थात् चारों युगों के बारह हजार (१२०००) वर्षों की दैवयुग संज्ञा की है। इसी प्रकार असंख्यात मन्वन्तरों में कि जिनकी संख्या नहीं हो सकती अनेक बार सृष्टि हो चुकी है और अनेक बार होयगी। सो इस सृष्टि को सदा से सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर सहज स्वभाव से रचना, पालन और प्रलय करता है और सदा ऐसे ही करेगा।" (पृ० २४)

सृष्टि प्रवाह से अनादि—

"(प्रश्न) कभी सृष्टि का प्रारम्भ है वा नहीं ?

(उत्तर) नहीं, जैसे दिन के पूर्व रात और रात के पूर्व दिन तथा दिन के पीछे रात और रात के पीछे दिन बराबर चला आता है, इसी प्रकार सृष्टि के पूर्व प्रलय और प्रलय के पूर्व सृष्टि तथा सृष्टि के पीछे प्रलय और प्रलय के आगे सृष्टि, अनादिकाल से चक्र चला आता है। इसका आदि वा अन्त नहीं। किन्तु जैसे दिन वा रात का आरम्भ और अन्त देखने में आता है, उसी प्रकार सृष्टि और प्रलय का आदि-अन्त होता रहता है; क्योंकि जैसे परमात्मा, जीव, जगत् का कारण, [ये] तीन स्वरूप से अनादि हैं वैसे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और वर्तमान प्रवाह से अनादि है। जैसे नदी का प्रवाह वैसा ही दीखता है, कभी सूख जाता है कभी नहीं दीखता, फिर बरसात में दीखता और उष्णकाल में नहीं दीखता ऐसे व्यवहारों को प्रवाहरूप जानना चाहिए।"

(स० प्र० २२३)

मनुप्रोक्त काल-परिमाण की तालिका

(श्लोक १।६४ से १।८० तक वर्णित)

पलक गिरने का समय	१ निमेष	८/४५ सेकेण्ड
१८ निमेष	१ काष्ठा	३ १/५ सेकेण्ड
३० काष्ठा	१ कला	१ मिनट ३६ सेकेण्ड
३० कला	१ मुहूर्त्त	४८ मिनट या दो घड़ी
३० मुहूर्त्त	१ दिनरात	२४ घण्टे या ६० घड़ी
१५ दिनरात	१ पक्ष (मानव)	
२ पक्ष	१ मास (मानव)	
६ मास	१ अयन (मानव) (उत्तरायण या दक्षिणायन)	१ दिन या रात (दिव्य)
२ अयन (१२ मास)	१ वर्ष (मानव)	१ दिनरात (दिव्य)
३६० दिनरात (दिव्य)	३६० वर्ष (मानव)	१ वर्ष (दिव्य)

४,००० दिव्यवर्ष × ३६०	= १४,४०,००० मानववर्ष	सतयुग का प्रमुखकाल-परिमाण
४०० ,, ,,	= १,४४,००० ,,	सतैयुग का संध्याकाल
४०० ,, ,,	= १,४४,००० ,,	सतयुग का संध्यांशकाल
४,८०० ,, ,,	= १७,२८,००० ,,	सतयुग का पूर्ण काल-परिमाण

३,००० दिव्यवर्ष × ३६०	= १०,८०,००० मानववर्ष	त्रेता का प्रमुख काल-परिमाण
३०० ,, ,,	= १,०८,००० ,,	त्रेता का संध्याकाल
३०० ,, ,,	= १,०८,००० ,,	त्रेता का संध्यांशकाल
३,६०० ,, ,,	= १२,९६,००० ,,	त्रेता का पूर्ण काल-परिमाण
२,००० दिव्यवर्ष × ३६०	= ७,२०,००० मानववर्ष	द्वापर का प्रमुख काल-परिमाण
२०० ,, ,,	= ७२,००० ,,	द्वापर का संध्याकाल
२०० ,, ,,	= ७२,००० ,,	द्वापर का संध्यांशकाल
२,४०० ,, ,,	= ८,६४,००० ,,	द्वापर का पूर्ण काल-परिमाण
१,००० दिव्यवर्ष × ३६०	= ३,६०,००० मानववर्ष	कलि का प्रमुख काल-परिमाण
१०० ,, ,,	= ३६,००० ,,	कलि का संध्याकाल
१०० ,, ,,	= ३६,००० ,,	कलि का संध्यांशकाल
१,२०० ,, ,,	= ४,३२,००० ,,	कलि का पूर्ण काल-परिमाण
१२,००० दिव्यवर्ष × ३६०	= ४३,२०,००० मानववर्ष	एक चतुर्युगी (मानव) का समय या देवों का एक युग
१२,००० × ७१ ,, × ३६०	= ३०,६७,१०,००० ,,	एक मन्वन्तर का समय
१,२०,००,००० ,, × ३६० (१,००० दिव्य युग)	= ४,३२,००,००,००० ,,	ब्रह्म का एक दिन या एक रात का काल-परिणाम अर्थात् सृष्टि की समयावधि या एक प्रलय की समयावधि
२,४०,००,००० दिव्यवर्ष × ३६०	= ८,६४,००,००,००० मानववर्ष	ब्रह्म का एक दिनरात का काल अर्थात् एक सृष्टि-उत्पत्ति और प्रलय की कालावधि

चारों वर्णों के कर्मों का निर्धारण—

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः ।
मुखबाहूरुपज्जानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत् ॥ ८७ ॥ (५०)

(अस्य सर्वस्य सर्गस्य) इस [५—८० पर्यन्त श्लोकों में वर्णित] समस्त संसार की (गुप्त्यर्थम्) गुप्ति अर्थात् सुरक्षा, व्यवस्था एवं समृद्धि के लिए (सः महाद्युतिः) महातेजस्वी परमात्मा ने (मुख-बाहु-उरु-पद्-जानाम्) मुख, बाहु, जंघा और पैर की तुलना से निर्मितों के अर्थात् क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों के (पृथक् कर्माणि+अकल्पयत्) पृथक्-पृथक् कर्म बनाये ॥ ८७ ॥

अनुशीलन : 'वर्ण' शब्द की व्युत्पत्ति कर्मणा वर्णव्यवस्था की सूचक—(१) मनु ने वेद के आधार पर वर्णव्यवस्था का विधान किया है। यजु० ३१।१०–११ में जो वर्णव्यवस्था प्रदर्शित की है, मनु ने उसी को यथावत् प्रस्तुत किया है। यह व्यवस्था जन्मना न होकर कर्मणा है। इस श्लोक में और १।३१ में भी यह स्पष्ट किया है कि समाज में चारों वर्णों का निर्माण मुख, बाहु, ऊरु और पैर की तुलना के अनुसार हुआ है और तदनुसार ही कर्मों का निर्धारण किया है [१।८८–९१]। जो व्यक्ति इन कर्मों का पालन करेगा, वह उस-उस वर्ण का अधिकारी होगा। (विस्तृत विश्लेषण के लिए १।३१ की अनुशीलन समीक्षा और १।९२–१०७, २।११–१३, १०।६५ की अन्तर्विरोध शीर्षक समीक्षा द्रष्टव्य है)।

(२) स्वयं 'वर्ण' शब्द इस व्यवस्था को कर्माधारित व्यवस्था सिद्ध करता है। निरुक्त में वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति दी है—"**वर्णो वृणोतेः**" [२।१।४] अर्थात् कर्मानुसार जिसका वरण किया जाये वह वर्ण है। इस पर प्रकाश डालते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं—

"**वर्णो वृणोतेरिति निरुक्तप्रामाण्याद् वरणीया वरीतुमर्हाः गुणकर्माणि च दृष्ट्वा यथायोग्यं व्रियन्ते ये ते वर्णाः ।**"

(ऋ० भा० भू० वर्णाश्रमधर्मविषय)

अर्थात्—गुण-कर्मों को देखकर यथायोग्य अधिकार जिसको दिया जावे वह वर्ण है।

(३) वर्णों के नामों की व्युत्पत्ति से भी वर्णों के कर्मों का बोध होता है। शब्द में जो भाव है वही उस वर्ण का प्रमुख कर्म है। उन कर्मों को अपनाने से ही व्यक्ति उस वर्ण का अधिकारी बनता है। (विस्तृत विश्लेषण १।८८–९१ श्लोकों के अनुशीलन में देखिए)।

ब्राह्मण के कर्म—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।

दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ ८८ ॥ (५१)

"(ब्राह्मणानाम्) ब्राह्मणों के (अध्ययनम्-अध्यापनम्) पढ़ना-पढ़ाना (तथा) तथा (यजन याजनम्) यज्ञ करना-कराना, (दानं च प्रतिग्रहम् एव) दान देना और लेना, ये छः कर्म (अकल्पयत्) हैं" ॥८८॥ (स० प्र० ८६)

'(एक) निष्कपट होके प्रीति से पुरुष पुरुषों को और स्त्री स्त्रियों को पढ़ावें (दो)—पूर्ण विद्या पढ़ें, (तीन)—अग्निहोत्रादि यज्ञ करें, (चार)—यज्ञ करावें, (पांच)—विद्या अथवा सुवर्ण आदि का सुपात्रों को दान देवें, (छठा)—न्याय से धनोपार्जन करने वाले गृहस्थों से दान लेवें भी" ।

"इनमें से तीन कर्म पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना, धर्म में; और तीन कर्म पढ़ाना, यज्ञ कराना, दान लेना जीविका हैं । परन्तु—

प्रतिग्रहः प्रत्यवरः ॥ मनु० ॥

जो दान लेना है, वह नीच कर्म है । किन्तु पढ़ाके और यज्ञ कराके जीविका करनी उत्तम है ।" (सं० वि० १७४)

अनुशीलन : 'ब्राह्मण' नाम कर्मणा वर्णव्यवस्था का सूचक—वर्णों के नामों की व्याकरणानुसारी रचना और व्युत्पत्ति से भी यह बात सिद्ध होती है कि मनु ने कर्मानुसार ही वर्णों का नामकरण किया है और नामों से वर्णों के कर्मों का भी बोध होता है । 'ब्रह्मन्' प्रातिपदिक से 'तदधीते तद्वेद' (अष्टा० ४ । २ । ५६) अर्थ में 'अण्' प्रत्यय के योग से 'ब्राह्मण' शब्द बनता है । इसकी व्युत्पत्ति है—'**ब्रह्मणा वेदेन परमेश्वरस्य उपासनेन च सह वर्तमानो विद्यादि उत्तमगुणयुक्तः पुरुषः**' अर्थात् वेद और परमात्मा के अध्ययन और उपासना में तल्लीन रहते हुए विद्या आदि उत्तम गुणों को धारण करने से व्यक्ति 'ब्राह्मण' कहलाता है । मनु ने भी इन्हीं कर्मों को ब्राह्मण के प्रमुख कर्मों के रूप में वर्णित किया है ।

ब्राह्मणग्रन्थों के वचनों में भी वर्णों के कर्मों का वर्णन पाया जाता है । निम्न वचनों में ब्राह्मण के कर्त्तव्य उद्दिष्ट हैं—

(क) **आग्नेयो ब्राह्मणः** (तां० १५।४।८) । **आग्नेयो हि ब्राह्मणः** (काठ० २६।१०)
=यज्ञाग्नि से सम्बन्ध रखने वाला अर्थात् यज्ञकर्त्ता ब्राह्मण होता है ।

(ख) **ब्राह्मणो व्रतभृत्** (तै० सं० १।६।७।२) । **व्रतस्य रूपं यत् सत्यम्** (श० १२।८।२।४)
=ब्राह्मण श्रेष्ठ व्रतों=कर्मों को धारण करने वाला होता है । सत्य बोलना व्रत का एक रूप है ।

(ग) **गायत्रो वै ब्राह्मणः** (ऐ० १।२८) । **गायत्रो यज्ञः** (गो० पू० ४।२४) । **गायत्रो वै बृहस्पतिः** (तां० ५।१।१५)
=ब्राह्मण गायत्र होता है । गायत्र वेद, यज्ञ और परमात्मा को कहते हैं ।

क्षत्रिय के कर्म—

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥ ८६ ॥ (५२)

'दीर्घ ब्रह्मचर्य से (अध्ययनम्) साङ्गोपांग वेदादि शास्त्रों को यथावत् पढ़ना, (इज्या) अग्निहोत्र आदि यज्ञों का करना (दानम्) सुपात्रों को विद्या, सुवर्ण आदि और प्रजा को अभयदान देना, (प्रजानां रक्षणम्) प्रजाओं का सब प्रकार से सर्वदा यथावत् पालन करना······(विषयेषु+अप्रसक्तिः) विषयों में अनासक्त होके सदा जितेन्द्रिय रहना—लोभ, व्यभिचार, मद्यपानादि नशा आदि दुर्व्यसनों से पृथक् रहकर विनय सुशीलता आदि शुभ कर्मों में सदा प्रवृत्त रहना ।'' ॥ ८६ ॥ + (स० प्र० १७५)

+ (क्षत्रियस्य समासतः) ये संक्षेप से क्षत्रिय के कर्म हैं ॥ ८६ ॥

''न्याय से प्रजा की रक्षा अर्थात् पक्षपात छोड़के श्रेष्ठों का सत्कार और दुष्टों का तिरस्कार करना, सब प्रकार से सबका पालन दान विद्या धर्म की प्रवृत्ति और सुपात्रों की सेवा में धनादि पदार्थों का व्यय करना (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञ करना वा कराना (अध्ययन) वेदादि शास्त्रों का पढ़ना तथा पढ़ाना और विषयों में न फंसकर जितेन्द्रिय रहके सदा शरीर आत्मा से बलवान् रहना ।'' (स० प्र० पृ० ९०)

अनुशीलन : 'क्षत्रिय' **नाम कर्मणा व्यवस्था का सूचक**—(१) क्षणु—हिंसा अर्थ वाली (तनादि) धातु से 'क्तः' प्रत्यय के योग से 'क्षतः' शब्द की सिद्धि होती है और 'क्षत' उपपद में त्रैङ्=पालन करने अर्थ में (भ्वादि) धातु से 'अन्येष्वपि दृश्यते' (अष्टा० ३ । २ । १०१) सूत्र से 'उः' प्रत्यय, पूर्वपदान्त्याकारलोप होकर 'क्षत्र' शब्द बना । 'क्षत्र एव क्षत्रियः' स्वार्थ में 'इय्' होने से क्षत्रियः अथवा क्षत्रस्य-अपत्यं वा, 'क्षत्राद् घः' (अ० ४ । १ । १३८) सूत्र से जन्म लेने अर्थ में 'घः' प्रत्यय होकर क्षत्रिय शब्द बना । 'क्षदति **रक्षति जनान् क्षत्रः'** जो जनता की रक्षा का कार्य करता है अथवा, **क्षण्यते हिंस्यते नश्यते पदार्थो येन स 'क्षतः'=घातादिः, ततस्त्रायते रक्षतीति क्षत्रः**=आक्रमण, चोट, हानि आदि से लोगों की रक्षा करने वाला होने से क्षत्रिय को 'क्षत्रिय, कहते हैं । ब्राह्मण ग्रन्थों में—**क्षत्रं राजन्यः** (ऐ० ८ । २; ३ । ४) **क्षत्रस्य वा एतद्रूपं यद् राजन्यः** (श० १३ । १ । ५ । ३)=क्षत्रिय 'क्षत्र' का ही रूप है जो प्रजा का रक्षक होता है ।

(२) यहां अपत्यार्थ में 'इय्' **आदेश** के योग से क्षत्रिय आदि शब्द बनाने में यह शंका उत्पन्न होती है कि क्या मनु जन्म के आधार पर वर्ण मानते हैं ? इसकी शंका के निराकरण के लिए यह समाधान है । वंश केवल जन्म से ही नहीं अपितु विद्याजन्म से भी वंश चलता है । अष्टाध्यायी २ । १ । १९ में **'संख्यावंश्येन'** सूत्र में विद्या से जन्म

माना है। मनुस्मृति २। ११९—१२३ श्लोकों में स्पष्टत: विद्या के आधार पर जन्म माना है। इस प्रकार गुणग्राहिता, कार्यकारणभाव, विद्या के आधार पर भी अपत्य आदि सम्बन्ध होते हैं। जैसे सूर्य, वरुण आदि की कोई पत्नी या अपत्य आदि नहीं होते किन्तु फिर भी कार्य-कारण और गुणग्राहिता आदि के आधार पर अदिति का पुत्र आदित्य, सूर्य की पत्नी सूर्या आदि यथा वरुणानी, मैत्रावरुण: आदि प्रयोग होते हैं।

(३) क्षत्रिय के विस्तृत कर्त्तव्यों का वर्णन ७। १ से ९। ३२५ श्लोकों में है।

वैश्य के कर्म—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ ९० ॥ (५३)

"(पशुरक्षा) गाय आदि पशुओं का पालन वर्धन करना (दानं) विद्या-धर्म की वृद्धि करने कराने के लिए धनादि का व्यय करना (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना (अध्ययन) वेदादि शास्त्रों का पढ़ना (वणिक्पथ) सब प्रकार के व्यापार करना (कुसीद) एक सैकड़े में चार, छः, आठ, बारह, सोलह वा बीस आनों से अधिक ब्याज और मूल से दूना अर्थात् एक रुपया दिया हो तो सौ वर्ष में भी दो रुपये से अधिक न लेना और न देना (कृषि) खेती करना (वैश्यस्य) ये वैश्य के कर्म हैं" ॥ ९० ॥

(सं० प्र० ९१)

"(अध्ययनम) वेदादि शास्त्रों का पढ़ना (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना (दानम्) अन्नादि का दान देना, ये तीनों धर्म के लक्षण और (पशूनां रक्षणम्) गाय आदि पशुओं का पालन करना उनसे दुग्धादि का बेचना (वणिक् पथम्) नाना देशों की भाषा, हिसाब, भूगर्भविद्या, भूमि, बीज आदि के गुण जानना और सब पदार्थों के भावाभाव समझना (कुसीदम्) ब्याज का लेना ❀ (कृषिमेव च) खेती की विद्या का जानना, अन्न आदि की रक्षा, खात और भूमि की परीक्षा, जोतना, बोना आदि व्यवहार का जानना. ये चार कर्म वैश्य की जीविका।"

(स० वि० १७६)

❀"सवा रुपये सैंकड़े से अधिक, चार आने से न्यून ब्याज न लेवे न देवे। जब दूना धन आ जाये, उससे आगे कौड़ी न लेवे, न देवे। जितना न्यून ब्याज लेवेगा उतना ही उसका धन बढ़ेगा और कभी धन का नाश और कुसन्तान उसके कुल में न होंगे"।

(स० वि० पृ० १७६ पर ऋ० दया० की टिप्पणी)

अनुशीलन : **'वैश्य' नाम कर्मणा व्यवस्था का सूचक**—(१) **"विशः मनुष्यनाम"** (निघं० २।३) उससे भावार्थ में 'यत्', उससे स्वार्थ में 'अण्'। अथवा 'विश्' प्रातिपदिक से अपत्यार्थ में 'यञ्' छान्दस प्रत्यय से 'वैश्य' शब्द बना। **"यो यत्र तत्र व्यवहारविद्यासु प्रविशति सः 'वैश्यः' व्यवहारविद्याकुशलः जनो वा**=जो विविध व्यावहारिक व्यापारों में प्रविष्ट रहता है या विविध व्यावहारिक विद्याओं में कुशल जन 'वैश्य' होता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में—

"एतद् वै वैश्यस्य समृद्धं यत् पशवः" (तां० १८।४।६) **"तस्माद् बहुपशु-वैश्वदेवो हि जागतो (वैश्यः)** (तां ६।१।१०)=पशुपालन से वैश्य की समृद्धि होती है, यह वैश्य का कर्त्तव्य है।

(२) वैश्य के विस्तार से कर्त्तव्यों का वर्णन द्रष्टव्य है ६।३२६–३३३ में। शूद्र के कर्म—

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥ ९१ ॥ (५४)

"(प्रभुः) परमेश्वर ने (शूद्रस्य) जो विद्याहीन—जिसको पढ़ने से विद्या न आ सके, शरीर से पुष्ट, सेवा में कुशल हो, उस शूद्र के लिए (एतेषामेव वर्णानाम्) इन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णों की (अनसूयया) निन्दा से रहित प्रीति से (शुश्रूषाम्) सेवा करना, (एकमेव कर्म) यही एक कर्म (समादिशत्) करने की आज्ञा दी है" ॥ ९१ ॥

(सं० वि० १७७)

अनुशीलन : **'शूद्र' नाम कर्मणा व्यवस्था का सूचक**—(१) शुच्—शोकार्थक (भ्वादि) धातु से **'शुचेर्दश्च'** (उणा० २।१९) सूत्र से 'रक्' प्रत्यय, उकार को दीर्घ, च को द होकर 'शूद्र' शब्द बनता है। **शूद्रः=शोचनीयः शोच्यां स्थितिमापन्नो वा, सेवायां साधुर् अविद्यादिगुणसहितो मनुष्यो वा**=शूद्र वह व्यक्ति होता है जो अपने अज्ञान के कारण किसी प्रकार की उन्नत स्थिति को नहीं प्राप्त कर पाया और जिसे अपनी निम्न स्थिति होने की तथा उसे उन्नत करने की सदैव चिन्ता बनी रहती है अथवा स्वामी के द्वारा जिसके भरण-पोषण की चिन्ता की जाती है ऐसा सेवक मनुष्य। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी यही भाव मिलता है—**"असतो वा एष सम्भूतो यत् शूद्रः"** (तै० ३।२।३।९) असतः=अविद्यातः। अज्ञान और अविद्या से जिसकी निम्न जीवनस्थिति रह जाती है, जो केवल सेवा आदि कार्य ही कर सकता है, ऐसा मनुष्य शूद्र होता है।

(२) शूद्र के कर्त्तव्यों के प्रसङ्ग में, शूद्र के प्रति मनु की धारणा क्या है, इस बात पर भी प्रकाश पड़ जाता है। मनु ने वहां शूद्र के लिए शुचिः='पवित्र' (शरीर

एवं मन से), उत्कृष्ट शुश्रूषुः='उत्तम सेवा करने वाला' जैसे विशेषणों का प्रयोग किया है। इससे स्पष्ट होता है कि मनु की शूद्र के प्रति हीन भावना नहीं है। सबकी सेवा करने वाला व्यक्ति अपवित्र कैसे कहा जा सकता है?

(३) शूद्र जन्मना नहीं होता किन्तु वह व्यक्ति शूद्र होता है जो उपनयन में दीक्षित होकर ब्रह्मजन्म अर्थात् वेदाध्ययन रूपी द्वितीय जन्म को प्राप्त नहीं कर सका। द्विजों को द्विज इसलिए कहा जाता है कि उनका अध्ययनरूपी दूसरा ब्रह्मजन्म उपनयन के समय होता है "**द्विर्जायते इति द्विजः।**" शूद्र का यह दूसरा जन्म न होने से उसका पर्यायवाची शब्द 'एकजातिः'=एक जन्म वाला है। इससे सिद्ध हुआ कि मनु जन्मना नहीं, व्यक्ति को कर्मणा शूद्र मानते हैं। देखिए मनु ने यह मान्यता १०।४ में प्रकट की है—

"चतुर्थः एकजातिस्तु शूद्रः।"

(४) वह उत्तम कर्मों से उच्च वर्ण को भी प्राप्त कर सकता है।

[९।३३५॥ १०।६५]

(५) शूद्र के कुछ विस्तृत कर्त्तव्यों का वर्णन ९।३३४—३३५ श्लोकों में है। उन श्लोकों से मनु की शूद्र-सम्बन्धी यह मान्यता और भी स्पष्ट हो जाती है कि वे शूद्र को जन्मना नहीं मानते तथा न घृणास्पद मानते हैं।

मनुस्मृति में वर्णव्यवस्था कर्मानुसार है—

(क) यदि मनु जन्म से ही किसी वर्ण को श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ मानते तो उन्हें वर्णों के कर्मों का निश्चय करने की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि जो व्यक्ति जन्म के आधार पर ही श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ माना जा रहा है तो वह वैसा ही रहेगा, चाहे कर्म करे या न करे। यतो हि शैशवावस्था और कौमार्यावस्था में भी वह वर्णों के लिए प्रतिपादित कर्मों को नहीं करता है, अपितु बहुत बार तो अज्ञान में विरोधी कर्म भी कर देता है। जब उस अवस्था में उसे जन्मतः ब्राह्मण या धर्म की प्रत्यक्ष मूर्ति माना जा रहा है [९८] तो बाद में कर्मों के न करने या विरोधी कर्मों के करने से भी उसका ब्राह्मणत्व नष्ट नहीं होना चाहिए। लेकिन मनुस्मृति के सभी विधि-निषेध वचनों, व्यवस्थाओं और वर्णों के लिए कर्मों के निश्चय से यह स्पष्ट होता है कि मनु धर्म-अधर्म, कर्म और व्यवस्थाओं से ही वर्णव्यवस्था या व्यक्ति की श्रेष्ठता मानते हैं, जन्म से नहीं। यदि जन्म से ही श्रेष्ठत्व स्वीकार कर लिया जाये तो मनुस्मृति की सम्पूर्ण कर्मव्यवस्था ही व्यर्थ हो जायेगी। कोई पालन करे या न करे व्यवस्थाओं का कोई महत्त्व ही नहीं रहेगा क्योंकि उनका श्रेष्ठत्व-अश्रेष्ठत्व तो जन्म से निर्धारित हो ही चुका। लेकिन मनु ने कर्म के आधार पर वर्णव्यवस्था मानी है। निम्न श्लोकों में उनकी अत्यधिक स्पष्ट घोषणा द्रष्टव्य है—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥ १०।६५॥

अर्थात्—श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ कर्मों के अनुसार शूद्र ब्राह्मण और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है अर्थात् गुणकर्मों के अनुकूल कोई ब्राह्मण हो तो ब्राह्मण रहता है तथा जो ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के गुण वाला हो तो वह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हो जाता है। इसी प्रकार शूद्र के घर उत्पन्न भी मूर्ख हो तो वह शूद्र रहता है और जो उत्तम गुण-युक्त हो तो यथायोग्य ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हो जाता है। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य का भी वर्ण-परिवर्तन समझना चाहिए।

(ख) अपने धर्म-कर्मों को पालन न करने पर कोई भी व्यक्ति शूद्र बन जाता है, ऐसा मनु का मत है। यथा—(अ) वेद न पढ़ने पर द्विज शूद्रता को प्राप्त करता है (**योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥** २।१६८)। (आ) संध्योपासना न करने वाला व्यक्ति शूद्रवत् होता है (**न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्। स शूद्रवत् बहिष्कार्यः सर्वस्मात् द्विजकर्मणः॥** २।१०३)। (इ) यथोक्त आयुसीमा तक उपनयन में दीक्षित न होने पर द्विज बनने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति 'व्रात्य' संज्ञक शूद्र कहलाते हैं [२।३७–४०]। (ई) नीचों की संगति से ब्राह्मण शूद्रता को प्राप्त करता है (**उत्तमानुत्तमान्गच्छन् हीनान् हीनांश्च वर्जयन्। ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेन शूद्रताम्॥** (४।२४५)। इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि न तो मनु ने व्यक्ति को जन्म से ही श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ माना है और न जन्मना आधार पर वर्णव्यवस्था मानी है, यदि जन्मना इनका निर्धारण होता तो उक्तरूप से वे निम्न न बनते।

(ग) इसके साथ ही शूद्रता को प्राप्त व्यक्ति यदि अपने कर्मों को सुधार लेता है और त्रुटियों के लिए प्रायश्चित्त कर लेता है तो वह पुनः अपने वर्ण का हो सकता है। मनु ने यह मान्यता, 'व्रात्य' संज्ञक शूद्रों के लिए और वर्णविरुद्ध कार्यों के कारण ब्राह्मण-वर्ण से बहिष्कृत ब्राह्मणों के लिए विहित प्रायश्चित्तों में प्रकट की है [११। १९१–१९६]। इस व्यवस्था से भी मनु की वर्णव्यवस्था कर्मानुसार ही सिद्ध होती है।

(घ) मनु ने व्यक्ति की प्रतिष्ठा और बड़प्पन गुणों की योग्यता के आधार पर माना है [२। १३६, १३७, १५४, १५६]। मनु की यह मान्यता भी यह स्पष्ट करती है कि मनु जन्म के आधार पर श्रेष्ठता या उच्चता अथवा वर्णव्यवस्था नहीं मानते अपितु कर्म या गुणों को ही आधार मानते हैं।

(ङ) मनु ने वर्णों के कर्म बतलाते हुए "**लोकानां विवृद्धयर्थम्**" (समाज की वृद्धि के लिए १। ३१) और "**सर्वस्यास्य तु गुप्त्यर्थम्**" (इस समस्त जगत् की सुरक्षा के लिये २। ८७) को कर्मनिर्धारण का कारण बतलाया है। इन कारणों पर विशेष ध्यान देने पर यहां यह स्पष्ट मान्यता प्रकट हो जाती है कि मनु कर्मों के आधार पर ही वर्ण-व्यवस्था मानते हैं, जन्म के अनुसार नहीं। क्योंकि, यदि जन्म से ही व्यक्ति श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ, [illegible] निर्धारित हो [illegible] तो उससे समाज या जगत् की क्या वृद्धि होगी ? केवल

उच्च लोगोंकी ही वृद्धि होगी। अपितु वृद्धि भी कहां होगी, जो जिस स्तर का होगा वहीं रहेगा। उसे अपने स्तर की उन्नति का अवसर ही कहां मिलेगा? यदि जन्मना वर्ण-व्यवस्था मानें तो इन कारणों का कथन निरर्थक होगा। इन कारणों के कथन से एक और संकेत मिलता है—वह यह कि चार वर्णों के अनुसार प्रजाएं नहीं बनायीं अपितु प्रजाओं की वृद्धि के लिये (प्रजाओं के लिये) चार वर्ण बनाये अर्थात् पहले प्रजाएं बनीं, जो जन्मना समान थीं फिर उनमें से गुण कर्मानुसार चार वर्ण निर्मित किये गये, जिससे समाज-व्यवस्था में बंधकर वृद्धि करता रहे। इस प्रयोगपद्धति से भी कर्मणा वर्णव्यवस्था सिद्ध होती है।

(च) (१) 'वर्ण' शब्द का अर्थ और व्युत्पत्ति ही यह सिद्ध करते हैं कि मनु की व्यवस्था जन्मना न होकर कर्मणा है। निरुक्त में 'वर्ण' शब्द की व्युत्पत्ति दी है...'वर्णो वृणोतेः' (२।१।४) अर्थात् कर्मानुसार जिसका वरण किया जाये वह 'वर्ण' है। इस पर प्रकाश डालते हुए महर्षि दयानन्द ने भी स्पष्ट किया है—

> "वर्णो वृणोतेरिति निरुक्तप्रामाण्याद्वरणीया वरीतुमर्हाः गुणकर्माणि च दृष्ट्वा यथायोग्यं व्रियन्ते ये ते वर्णाः।"
> (ऋ० भा० भू० वर्णाश्रमधर्मविषय)

अर्थात्—गुण-कर्मों को देखकर यथायोग्य अधिकार जिसको दिया जाये वह वर्ण है।

(२) वर्णों के नाम उनके कर्मानुसार ही रखे गये हैं। नामों की व्युत्पत्ति स्वयं उनके कर्मों का बोध कराती है (इसके लिए विस्तृत समीक्षा १। ८७–९१ श्लोकों पर देखिए)।

(३) ब्राह्मणग्रन्थों में कर्मणा वर्णव्यवस्था के स्पष्ट वर्णन मिलते हैं। यथा—

(अ) सः (क्षत्रियः) ह दीक्षमाण एव ब्राह्मणतामभ्युपैति।" (ऐ० ७।२३)
क्षत्रिय दीक्षित होकर ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर लेता है।

(आ) "तस्मादपि (दीक्षितम्) राजन्यं वा वैश्यं वा ब्राह्मण इत्येव ब्रूयात्, ब्राह्मणो हि जायते यो यज्ञाज् जायते॥" (शत० ३।२।१।४०)

चाहे कोई क्षत्रियपुत्र हो अथवा वैश्यपुत्र, यज्ञ में दीक्षा ग्रहण करके (उपनयन-संस्कार में) वह ब्राह्मण ही कहलाता है अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में वेदाध्ययन के समय यज्ञ में दीक्षित होकर सभी व्यक्ति ब्राह्मण कर्म वाले होते हैं। बाद में कर्मानुसार क्षत्रिय और वैश्य बनते हैं।

(छ) मनु कर्मणा वर्णव्यवस्था मानते हैं, इसमें अन्य प्रमाण भी हैं—(क) शूद्र को वे हीन नहीं मानते अपितु 'शुचिः'=पवित्र 'उत्कृष्ट शुश्रूषु' आदि विशेषणों से सम्बोधित करते हैं [९।३३५]। सबके घरों में सब प्रकार की सेवा करने वाला भला अपवित्र, अछूत, या हीन कैसे हो सकता है? (ख) मनु व्यक्ति को शूद्र इसलिए मानते

हैं कि वह पढ़ता नहीं। उसका वेदाध्ययन रूपी दूसरा ब्रह्मजन्म नहीं होता। ब्राह्मण—क्षत्रिय—वैश्यों को द्विज इसलिए कहा जाता है कि उनका ब्रह्मजन्म रूपी दूसरा जन्म होता है—'**द्विर्जायते इति द्विजः**। शूद्र को 'एकजातिः' न पढ़ने के आधार पर कहा जाता है। देखिए प्रमाण—"**ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णाः द्विजातयः। चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रः नास्ति तु पंचमः॥' १०। ४॥** (ग) मनु कर्मों के आधार पर मनुष्यों के दो वर्ग मानते हैं—(१)जो श्रेष्ठ धर्मानुकूल आर्य परम्पराओं में दीक्षित हैं,वे चारों वर्ण आर्य हैं। (२) इनमें अदीक्षित शेष सब दस्यु हैं [१०। ४५]। (घ) मनु कर्म के आधार पर ही व्यक्ति को श्रेष्ठ=आर्य और अश्रेष्ठ =अनार्य मानते हैं। १०। ५७—५८ में वे कर्मों के आधार पर इनकी पहचान करने को कहते हैं। ये सब बातें मनु की कर्मणा वर्णव्यवस्था की मान्यता को सिद्ध करती हैं।

(ज) १। ३१ में भी मनु ने अपनी 'कर्मणा वर्णव्यवस्था' की मान्यता का संकेत दिया है।१।१६,२३,२६—३० श्लोकों के द्वारा यह कहा जा चुका कि एकसाथ अनेक प्रजायें उत्पन्न हुई—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि के रूप में प्रजायें उत्पन्न नहीं हुईं, अपितु समान मनुष्यों के रूप में हुईं। फिर उन बहुत सारे मनुष्यों में से समाज की वृद्धि के लिए, एक व्यवस्था के रूप में चार वर्णों का मुख, बाहु, जंघा और पैर की साम्यता से (गुणकर्मानुसार) निर्माण किया। १। ३१ में आलंकारिक रूप में यह कथन है। उक्त अंगों का जो स्थान और कार्य शरीर में है, समाज में वही स्थान क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का बनाया। इस प्रकार योग्यता के आधार पर लोगों को चार वर्णों में विभक्त करके उनके कर्म भी योग्यतानुसार निश्चित किये। यह वर्णन-क्रम (अनेक प्रजाओं की उत्पत्ति और फिर उनमें वर्णव्यवस्था) और आलंकारिक कथन कर्मानुसार वर्णव्यवस्था का संकेत देता है। इन अनेक प्रमाणों से 'कर्मणा वर्णव्यवस्था' मनु की मौलिक मान्यता सिद्ध होती है, अतः इसकी विरोधी 'जन्मना वर्णव्यवस्था' वाली मान्यता अन्तर्विरोध के आधार पर प्रक्षिप्त कहलायेगी। [इस मान्यता के विषय में १। ३१,८७—९१ ॥ २। ११ ॥ १०। ६५ की समीक्षा भी द्रष्टव्य है।]

(धर्मोत्पत्ति विषय की भूमिका)

(१। ५५ से ५७ तक)

सदाचार परम धर्म—

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान्द्विजः॥१०८॥ (५५)

(श्रुत्युक्तः च स्मार्तः+एव) वेदों में कहा हुआ और स्मृतियों में भी कहा हुआ जो (आचारः) आचरण है (परमः धर्मः) वही सर्वश्रेष्ठ धर्म है (तस्मात्) इसीलिए (आत्मवान् द्विजः) आत्मोन्नति चाहने वाले द्विज को

चाहिए कि वह (अस्मिन्) इस श्रेष्ठाचरण में (सदा नित्यं युक्तः स्यात्)

सदा निरन्तर प्रयत्नशील रहे ॥ १०८ ॥

उपरोक्त श्लोक देकर स्वामी जी ने निम्न अर्थ दिया है—

"कहने सुनने-सुनाने, पढ़ने-पढ़ाने का फल यही है कि जो वेद और वेदानुकूल स्मृतियों में प्रतिपादित धर्म का आचरण करना। इसलिये धर्माचार में सदा युक्त रहे।" (स० प्र० ५२)

"जो सत्य-भाषणादि कर्मों का आचरण करना है वही वेद और स्मृति में कहा हुआ आचार है।" (स० प्र० २६०)

आचारहीन को वैदिक कर्मों की फलप्राप्ति नहीं—

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।
आचारेण तु संयुक्तः संपूर्णफलभाग्भवेत् ॥ १०९ ॥ (५६)

(आचारात् विच्युतः विप्रः) जो धर्माचरण से रहित [द्विज] है वह (वेदफलं न अश्नुते) वेद-प्रतिपादित धर्मजन्य सुखरूप फल को प्राप्त नहीं हो सकता, और जो (आचारेण तु संयुक्तः) विद्या पढ़के धर्माचरण करता है, वही (सम्पूर्णफलभाक् भवेत) सम्पूर्ण सुख को प्राप्त होता है ॥ १०९ ॥ (स० प्र० ५२)

अनुशीलन : १०९ श्लोक की अन्यत्र पुष्टि—ऋषियों की मान्यताएं शृङ्खलावत् एक संगति में जुड़ी होती हैं और वे प्रसङ्गवश, उन वचनों की पुष्टि स्वयं कर देते हैं। मनु ने इस श्लोक की मान्यता की पुष्टि अन्य श्लोकों में भी की है। उनसे इसकी व्याख्या पर भी प्रकाश पड़ता है। उदाहरण के लिए देखिए इस श्लोक के भाव का अन्य श्लोकों में स्पष्टीकरण—

(क) यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥ १।१३५ [२।१६०] ॥

(ख) वेदास्त्यागाश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥ २।७२ (२।९७) ॥

इन श्लोकों में उक्त वेद और वेदोक्त कर्मों में आचरणहीन व्यक्ति को सिद्धि नहीं मिलती, आचारवान् को मिलती है इस प्रकार सदाचार से ही धर्म में गति होती है। सदाचार धर्म का मूल है—

एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम्।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् ॥ ११० ॥ (५७)

(एवम्) इस प्रकार (आचारतः) धर्माचरण से ही (धर्मस्य) धर्म की (गतिम्) प्राप्ति एवं अभिवृद्धि (दृष्ट्वा) देखकर (मुनयः) मुनियों ने

(सर्वस्य तपसः पर मूलम्) सब तपस्याओं का श्रेष्ठ मूल आधार (आचारम्) धर्माचरण को ही (जगृहुः) स्वीकार किया है ॥ ११० ॥

धर्मोत्पत्ति विषय

(१ । ५८ से ७८ तक)

विद्वानों द्वारा सेवित धर्म का वर्णन-प्रारम्भ—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत ॥१२०॥ [२।१] (५८)

(अद्वेषरागिभिः सद्भिः विद्वद्भिः नित्यं सेवितः) जिसका सेवन रागद्वेषरहित [श्रेष्ठ] विद्वान् लोग नित्य करें (यो हृदयेन+अभ्यनुज्ञातः धर्मः) जिसको हृदय अर्थात् आत्मा से सत्य कर्त्तव्य जाने वही धर्म माननीय और करणीय है । ❀

❀ (तं निबोधत) उसे सुनो ॥ १२० ॥ (स० प्र० २५६)

"जिसको सत्पुरुष रागद्वेषरहित विद्वान् अपने हृदय से अनुकूल जानकर सेवन करते हैं, उसी पूर्वोक्त को तुम लोग धर्म जानो ।"

(सं० वि० पृ० १८५)

सकामता-अकामता विवेचन—

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता ।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥१२१॥ [२।२] (५९)

(हि) क्योंकि (इह) इस संसार में (कामात्मता) अत्यन्त कामात्मता (च) और (अकामात्मता) निष्कामता (प्रशस्ता न अस्ति) श्रेष्ठ नहीं है । (वेदाधिगमः च वैदिकः कर्मयोगः) वेदार्थज्ञान और वेदोक्त कर्म (काम्यः) ये सब कामना से ही सिद्ध होते हैं ॥ १२१ ॥ (स० प्र० २५६)

"अत्यन्त कामातुरता और निष्कामता किसी के लिए भी श्रेष्ठ नहीं, क्योंकि जो कामना न करे तो वेदों का ज्ञान और वेदविहित कर्मादि उत्तम कर्म किसी से न हो सकें, इसलिये ।" (स० प्र० ४८)

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसंभवाः ।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः ॥ १२२ [२।३] (६०)

जो कोई कहे कि मैं निष्काम हूं वा हो जाऊं तो वह कभी नहीं हो सकता, क्योंकि—) (सर्वे) सब काम (यज्ञाः व्रतानि यमधर्माः) यज्ञ❀, सत्य-

भाषणादि व्रत, यम-नियम रूपी धर्म आदि (संकल्पजाः) संकल्प ही से बनते हैं (कामः वै) निश्चय से प्रत्येक कामना (संकल्पमूलः) संकल्पमूलक होती है अर्थात् संकल्प से ही प्रत्येक इच्छा उत्पन्न होती है] ॥ १२२ ॥

(स० प्र० २५६)

❀ (संकल्पसंभवाः) संकल्प से सम्भव होते हैं (च) और............

अनुशीलन : यम और नियम ४। २०४ की समीक्षा में द्रष्टव्य है।

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् ।
यद्यद्धि कुरुते किंचित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥१२३॥ [२१४] (६१)

(हि) क्योंकि (यत् यत् किंचित् कुरुते) जो-जो हस्त, पाद, नेत्र, मन आदि चलाये जाते हैं (तत्तत् कामस्य चेष्टितम्) वे सब कामना ही से चलते हैं। (अकामस्य) जो इच्छा न हो तो❀ (काचिद्क्रिया) आंख का खोलना और मींचना भी (न दृश्यते) नहीं हो सकता ॥ १२३ ॥ (स० प्र० २५६)

❀(इह) इस संसार में (कर्हिचित्) कभी भी।

"मनुष्यों को निश्चय करना चाहिये कि निष्काम पुरुष में नेत्र का संकोच, विकास का होना भी सर्वथा असम्भव है। इससे यह सिद्ध होता है कि जो-जो कुछ भी करता है वह-वह चेष्टा कामना के बिना नहीं है।"

(स० प्र० ५२)

तेषु सम्यग्वर्तमानो गच्छत्यमरलोकताम् ।
यथा संकल्पितांश्चेव सर्वान्कामान्समश्नुते ॥१२४॥ [२१५] (६२)

(तेषु) उन वेदोक्त कर्मों में (सम्यक् वर्त्तमानः) अच्छी प्रकार संलग्न व्यक्ति (अमरलोकतां गच्छति) मोक्ष को प्राप्त करता है (च) और (यथा संकल्पितान् सर्वान् एव कामान्) संकल्प की गई सभी कामनाओं को (समश्नुते) भलीभांति प्राप्त करता है ॥ १२४ ॥

अनुशीलन : बुलर द्वारा घोषित प्रक्षिप्तता पर विचार—बुलर आदि पाश्चात्य विद्वानों ने १२१ से १२४ श्लोकों को प्रक्षिप्त माना है। उनकी युक्ति है कि यहां सकामता और निष्कामता का कोई प्रसंग नहीं है, अतः ये श्लोक प्रसंगविरुद्ध हैं। उनकी युक्ति मान्य नहीं है, क्योंकि १२५ वें श्लोक में धर्म का लक्षण कहा है और उनमें वेद का सर्वप्रथम एवं प्रमुख स्थान है। ये श्लोक अगले श्लोकों की भूमिका के रूप में हैं, १२१ वें श्लोक में जो 'वेदाधिगमः' शब्द का प्रयोग किया है, उससे यह संकेत मिलता है। इस प्रकार इनमें प्रसंगविरोध नहीं आता।

धर्म के मूलस्रोत और आधार—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥१२५॥ [२१६] (६३)

(क) चारों धर्म के स्रोतों की उच्चता, गम्भीरता का स्तर समानप्राय: होना चाहिए। यह नहीं कि एक अत्युन्नत स्तर का हो और एक निम्नतम। एक ओर वेद धर्म के स्रोत हैं और दूसरी ओर हर किसी की आत्मा ही प्रमाण है। इस प्रकार तो व्यक्तियों की संख्या के अनुसार आत्मा के प्रिय कार्य भी पृथक्-पृथक् हो जायेंगे।

(ख) अगर यह कहें कि 'आत्मा की प्रसन्नता' का अभिप्राय यह है कि 'मैं नहीं चाहता कि कोई मुझे कष्ट दे तो मुझे भी औरों के साथ कष्टदायक व्यवहार नहीं करना चाहिए।' तो यह बात उन व्यवहारों में तो लागू हो जाती है जिनमें भय, शङ्का, लज्जा, पीड़ा का सम्बन्ध है, अन्य व्यवहारों में नहीं। इसमें अव्याप्ति-दोष आता है। जैसे कोई व्यक्ति संध्योपासन, अग्निहोत्र, विद्याप्राप्ति, शुद्धि आदि कर्त्तव्यपालन नहीं करता और अतिइन्द्रियासक्ति, अन्धविश्वास, अन्धमान्यता आदि से ग्रस्त है तो वह चाहेगा कि मैं इन बातों के संदर्भ में किसी को कुछ नहीं कहता तो दूसरे मुझे भी न कहें। दूसरों के कहने से वह पीड़ा अनुभव करेगा। जब कि धर्मविहित बात अवश्य कथनीय और पालनीय होती है। उनको दण्डपूर्वक भी कराने का विधान है।

(ग) इसी प्रकार जो दुष्टसंस्कारी, राक्षससंस्कारी, तमोगुणी प्राणी हैं, बाल्यकाल से ही जो जीवहत्या, मांस-भक्षण आदि कार्य करते आ रहे हैं, उनमें इन कार्यों के प्रति भय, शङ्का, लज्जा की अनुभूति दृष्टिगोचर नहीं होती। अत: उनकी 'आत्मा के प्रिय' को धर्म नहीं माना जा सकता।

इन आपत्तियों के होने से यह कहा जा सकता है कि सभी की आत्मा का प्रिय धर्म नहीं, अपितु सद्गुणसम्पन्न, धार्मिक, पुण्यात्मा विद्वानों की आत्मा के प्रिय कार्य ही धर्म हैं। इसकी पुष्टि में निम्न प्रमाण उल्लेखनीय हैं—

(घ) मनु ने धर्मकथन में अविद्वानों को प्रमाण नहीं माना अपितु उनको मानने से हानि की आशङ्का प्रकट की है, केवल विशेषस्तर के विद्वानों को ही प्रमाण माना है [१२।११३-११५]। अत: अविद्वानों की आत्मा का प्रिय कार्य धर्म का लक्षण नहीं हो सकता।

(ङ) मनु ने प्रत्येक बात में वेदानुकूलता को ही धर्म में प्रमाण माना है, अन्य को नहीं [१।१२७ (२।८), १।१२८ (२।९)।। १२।९४]। इस प्रकार वेदानुकूलता से हीन 'आत्मा के प्रिय कार्य' धर्म के लक्षण नहीं हो सकते।

(च) यह भी उल्लेखनीय तथ्य है कि मनु ने जहां-जहां आत्मा की संतुष्टि की बातें कही हैं वे द्विजों के कर्त्तव्यों के प्रसङ्ग में कही हैं, उनसे भिन्न निम्नस्तरीय व्यक्तियों के लिए नहीं। मनु की व्यवस्था के अनुसार द्विजों को विद्वान्, धर्मात्मा, और सद्गुणसम्पन्न अवश्य होना चाहिए। इस प्रकार भी इस शब्द से व्याख्या में उक्त अर्थ पुष्ट होता है।

(छ) **आत्मा का प्रिय क्या है ?**—जिस कार्य में आत्मा को भय, शङ्का, लज्जा का अनुभव नहीं होता ऐसे कर्म ही वस्तुत: आत्मा के प्रसन्नताकारक कर्म हैं। इससे

भिन्न कर्म 'आत्मा के प्रिय' नहीं कहे जा सकते [८।९६]। और ऐसे कर्म केवल सात्त्विक कर्म हैं, देखिए १२।२७, ३७ श्लोक। इनसे विपरीत रजोगुणी और तमोगुणी कार्य आत्मा में प्रसन्नता नहीं करते [१२।३३,३५]। यदि प्रसन्नता अनुभव होती है तो वह वास्तविक नहीं है। मनु ने स्वयं स्पष्ट करते हुए कहा है—

(अ) "**सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः**" ॥१२।३८॥

वे सतोगुण निम्न हैं—

वेदाभ्यासस्तपोज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम् ॥१२।३१॥

इस प्रमाणयुक्त विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि सतोगुणी कार्यों से ही 'आत्मा की प्रसन्नता या संतुष्टि' होती है। सतोगुणी व्यक्तियों की प्रसन्नता ही धर्म का लक्षण हो सकता है। अतः श्लोकोक्त अर्थ ही मनुसम्मत है।

५. यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि वेद से उत्तरवर्ती सभी धर्मस्रोतों में वेदानुकूलता का होना मनु ने अनिवार्य माना है। मनु ने प्रत्येक धर्म को श्रुतिप्रामाण्य के आधार पर ग्रहण करना विहित किया है—

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै ॥ १।१२७(२।८)

६. 'धर्म क्या है' इसके ज्ञान के लिए १।२ की समीक्षा देखिए।

[इन सभी बातों पर विस्तृत विवेचन 'मनुस्मृति–अनुशीलन' में भी द्रष्टव्य है]।

आत्मानुकूल धर्म का ग्रहण—

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान्स्वधर्मे निविशेत वै ॥ १२७ ॥ [२।८] (६४)

(विद्वान्) [विद्वान्] मनुष्य (इदं सर्वं तु निखिलं समवेक्ष्य) सम्पूर्ण शास्त्र, वेद, सत्पुरुषों का आचार, अपने आत्मा के अविरुद्ध विचार कर [१। १२५ में वर्णित] (ज्ञानचक्षुषा) ज्ञान नेत्र करके (श्रुतिप्रामाण्यतः) श्रुतिप्रमाण से (स्वधर्मे वै निविशेत) स्वात्मानुकूल धर्म में प्रवेश करे ॥ १२७ ॥
(स० प्र० २५६)

श्रुति-स्मृति-प्रोक्त धर्म के अनुष्ठान का फल—

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्हि मानवः।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ १२८ ॥ [२।९] (६५)

(हि) क्योंकि (मानवः) जो मनुष्य (श्रुति-स्मृति-उदितम्) वेदोक्त धर्म और जो वेद से अविरुद्ध स्मृत्युक्त (धर्मम्+अनुतिष्ठन्) धर्म का अनुष्ठान करता है वह (इह कीर्तिं च प्रेत्य अनुत्तमं सुखम्) इस लोक में कीर्ति और मरके सर्वोत्तम सुख को (अवाप्नोति) प्राप्त होता है ॥१२८॥ (स० प्र०२५७)

श्रुति और स्मृति का परिचय—

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥१२९॥ [२।१०] (६६)

(श्रुतिः तु वेदः विज्ञेयः) श्रुति को वेद समझना चाहिए, और (धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः) धर्मशास्त्र को स्मृति समझना चाहिए (ते) ये श्रुति और स्मृति शास्त्र (सर्वार्थेषु) सब स्थितियों और सब बातों में (अमीमांस्ये) कुतर्क न करने योग्य हैं अर्थात् इनमें प्रतिपादित बातों का कुतर्क का सहारा लेकर खण्डन नहीं करना चाहिए, [इस अर्थ की पुष्टि अगले १३० वें श्लोक की शब्दावली से होती है, देखिए उसका अर्थ], (हि) क्योंकि (ताभ्याम्) उन दोनों प्रकार के शास्त्रों से (धर्मः) धर्म (निर्बभौ) उत्पन्न हुआ है ॥ १२९ ॥

अनुशीलन : वेद और श्रुति नाम के कारण—वेदों के वेद और श्रुति ये दो नाम क्यों पड़े, इसके उत्तर में महर्षि दयानन्द लिखते हैं—

"(प्रश्न) वेद और श्रुति ये दो नाम ऋग्वेदादि संहिताओं के क्यों हुए हैं ?

(उत्तर) अर्थ भेद से, क्योंकि एक विद् धातु ज्ञानार्थक है, दूसरी विद् धातु सत्तार्थक है, तीसरे विद्लृ का लाभ अर्थ है, चौथे विद् का अर्थ विचार है । इन चार धातुओं से करण और अधिकरण कारक में 'घञ्' प्रत्यय करने से वेद शब्द सिद्ध होता है। तथा (श्रु) धातु श्रवण अर्थ में है। जिनके पढ़ने से यथार्थ विद्या का विज्ञान होता है, जिनको पढ़के विद्वान् होते हैं, जिनसे सब सुखों का लाभ होता है और जिनसे ठीक-ठीक सत्यासत्य का विचार मनुष्यों को होता है, इससे ऋक् संहिता आदि का वेद नाम है। वैसे ही सृष्टि के आरम्भ से आज पर्यन्त और ब्रह्मा आदि से लेके हम लोग पर्यन्त जिससे सब सत्यविद्याओं को सुनते आते हैं, इससे वेदों का नाम श्रुति पड़ा है।"

(ऋ० भू० २०-२१)

'जैसे छन्द और मन्त्र ये दोनों शब्द एकार्थवाची अर्थात् संहिता भाग के नाम हैं, वैसे ही निगम और श्रुति भी वेदों के नाम हैं।" (ऋ० भू० ७९)

श्रुति-स्मृति का अपमान करने वाला नास्तिक है—

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥ १३० ॥ [२।११] (६७)

(यः द्विजः) जो कोई मनुष्य (ते मूले) वेद और वेदानुकूल आप्त-ग्रन्थों का (हेतुशास्त्राश्रयात्) तर्कशास्त्र के आश्रय से (अवमन्येत) अपमान करे (सः) उसको (साधुभिः बहिष्कार्यः) श्रेष्ठ लोग जातिबाह्य कर दें, क्योंकि (वेदनिन्दकः) जो वेद की निन्दा करता है (नास्तिकः) वही नास्तिक कहाता है ॥ १३० ॥ (स० प्र० २५६)

"जो तर्कशास्त्र के आश्रय से वेद और धर्मशास्त्र का अपमान करता अर्थात् वेद से विरुद्ध स्वार्थ का आचरण करता है, श्रेष्ठ पुरुषों को योग्य है कि उसको अपनी मण्डली से निकालके बाहर कर देवें क्योंकि वह वेदनिन्दक होने से नास्तिक है।" (द० ल० वे० ख० ४८)

"जो वेद और वेदानुकूल आप्त पुरुषों के किये शास्त्रों का अपमान करता है, उस वेदनिन्दक नास्तिक को जाति, पंक्ति और देश से बाह्य कर देना चाहिये" (स० प्र० ५३)

अनुशीलन : **'तर्क' शब्द का विवेचन**— श्लोक १२९ और १३० में मनु ने वेदों और वेदवेत्ता व वेदानुसारी आचरण वाले ऋषियों द्वारा प्रणीत धर्मशास्त्रों को 'तर्कशास्त्र का सहारा लेकर अपमान न करने योग्य' कहा है। यहाँ तर्क से अभिप्राय 'उचित तर्क' से नहीं अपितु 'कुतर्क से है। यह बात निम्न प्रमाणों से स्पष्ट होती है—

(क) मनु ने 'अवमन्येत' क्रिया का प्रयोग किया है जिससे उनका भाव यह है कि तर्कशास्त्र की आड़ लेकर कुतर्क से उनका अपमान न करे।

(ख) कुछ चीजें तर्क से परे होती हैं, जैसे-ईश्वररचित जगत् की प्रलयावस्था मनुष्य बुद्धि से 'अप्रतर्क्य' है अर्थात् बुद्धिगम्य नहीं है [१।५]। इसी प्रकार ईश्वर-प्रदत्त वेदज्ञान भी 'अचिन्त्य', 'अप्रमेय' 'अप्रतर्क्य' अर्थात् मनुष्य-बुद्धि द्वारा पूर्णतः बुद्धिगम्य नहीं है [१।३, २१, २३]। मनु उसे पूर्णतः तर्कानुकूल अर्थात् युक्तिसंगत मानते हैं, अतः वेदज्ञान पर तर्क करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। यदि कोई उसका खण्डन करता है, तो वह कुतर्क ही करता है।

(ग) मनु और अन्य शास्त्र भी तर्क को धर्म निश्चय में प्रमाण मानते हैं शास्त्रों ने तर्क को एक ऋषि का रूप दिया है। किन्तु तर्क करने वाला व्यक्ति कौन हो सकता है यह भी निर्धारित कर दिया है। तत्त्वज्ञानी शास्त्रवेत्ता व्यक्ति ही तर्क करने की योग्यता रखते हैं, अन्य नहीं। मनु कहते हैं कि तर्क से धर्म का ज्ञान प्राप्त करें। साथ ही तर्क के योग्य कौन व्यक्ति हैं यह भी स्पष्ट करते हैं—

(अ) प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता॥ १२। १०५॥

(आ) आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसंधत्ते सः धर्मं वेद नेतरः॥ १२। १०६॥

(इ) त्रैविद्यो हेतुकस्तर्की.........परिषद् स्याद्दशावरा॥ १२। १११॥

(घ) निरुक्तशास्त्र में तर्क को ऋषि के रूप में वर्णित करते हैं। उसके द्वारा वेदमन्त्रार्थों का निश्चय बतलाया है। लेकिन वहीं मनु वाली मान्यता भी स्पष्ट कर दी है कि अतपस्वी, अनृषि और अल्पविद्या वाले लोग तर्क की योग्यता नहीं रखते—

'अपि श्रुतितोऽपि तर्कतः, न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः, प्रकरणशः एव तु

निर्वक्तव्याः नह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा। पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयो-विद्यः प्रशस्यो भवति' इत्युक्तं पुरस्तात्।

मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्, को न ऋषिर्भविष्यतीति ? तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूल्हम्। (परिशिष्ट ११।१३)

इस आधार पर उपर्युक्त योग्यताओं से रहित व्यक्ति को मनु और शास्त्र तर्क करने के अयोग्य मानते हैं। विशेषरूप से वेद और वेदानुकूल शास्त्रों के सन्दर्भ में। इसी आशय से इन श्लोकों में वेदादि को अमीमांस्य और तर्क से अनवमाननीय कहा है।

धर्म के चार आधाररूप लक्षण—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥१३१॥[२।१२](६८)

"(वेदः स्मृतिः सदाचारः) वेद, स्मृति, सत्पुरुषों का आचरण (च) और (स्वस्य आत्मनः प्रियम्), अपने आत्मा के ज्ञान से अविरुद्ध प्रियाचरण (एतत् चतुर्विधं धर्मस्य लक्षणम्) ये चार धर्म के॰ लक्षण हैं अर्थात् इन्हीं से धर्म लक्षित होता है" ॥ १३१ ॥ (स० प्र० २५७)

॰ (साक्षात्) सुस्पष्ट या प्रत्यक्ष कराने वाले............

"श्रुति—वेद, स्मृति—वेदानुकूल आप्तोक्त मनुस्मृत्यादि शास्त्र, सत्पुरुषों का आचार जो सनातन अर्थात् वेद द्वारा परमेश्वर प्रतिपादित कर्म और अपने आत्मा में प्रिय अर्थात् जिसको आत्मा चाहता है जैसा कि सत्य-भाषण, ये चार धर्म के लक्षण अर्थात् इन्हीं से धर्माधर्म का निश्चय होता है। जो पक्षपातरहित न्याय सत्य का ग्रहण असत्य का सर्वथा परित्याग रूप आचार है, उसी का नाम धर्म और इसके विपरीत जो पक्षपातसहित अन्यायाचरण, सत्य का त्याग और असत्य का ग्रहणरूप कर्म है, उसी को अधर्म कहते हैं" (स० प्र० ५३)

अनुशीलन—(क) धर्म एवं धर्म के मूलस्रोतों पर प्रामाणिक विस्तृत विवेचन १। १२५ पर द्रष्टव्य है।

(ख) ऋषि दयानन्द ने धर्म की व्याख्या दार्शनिक आधार ग्रहण करके निम्न प्रकार दी है—

(अ) **यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।** (वैशे० १।१।२)

जिसके आचरण करने से संसार में उत्तम सुख और निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष-सुख की प्राप्ति होती है, उसी का नाम धर्म है।"

(आ) चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः। (पू० मी० १।१।२)

'(चोदना०) ईश्वर ने वेदों में मनुष्यों के लिये जिसके करने की आज्ञा दी है, वही धर्म और जिसके करने की प्रेरणा नहीं की है, वह अधर्म कहाता है। परन्तु वह धर्म अर्थयुक्त अर्थात् अधर्म का आचरण जो अनर्थ है, उससे अलग होता है। इससे धर्म का ही जो आचरण करना है वही मनुष्यों में मनुष्यपन है। (ऋ० भू० ११५)

धर्मजिज्ञासा में श्रुति परमप्रमाण और धर्मज्ञान के पात्र—

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥१३२॥ [२।१३] (६९)

(अर्थकामेषु+असक्तानाम्) जो पुरुष अर्थ—सुवर्णादि रत्न और काम—स्त्री सेवनादि में नहीं फंसते हैं (धर्मज्ञानं विधीयते) उन्हीं को धर्म का ज्ञान होता है (धर्मजिज्ञासमानाम्) जो धर्म के ज्ञान की इच्छा करें, वे (प्रमाणं परमं श्रुतिः) वेद द्वारा धर्म का निश्चय करें, क्योंकि धर्म-अधर्म का निश्चय बिना वेद के ठीक-ठीक नहीं होता। १३२ ॥(स० प्र० ५३)

"परन्तु जो द्रव्यों के लोभ और काम अर्थात विषय-सेवा में फंसा हुआ नहीं होता, उसी को धर्म का ज्ञान होता है। जो धर्म को जानने की इच्छा करें उनके लिए वेद ही परम प्रमाण है।" (स० प्र० २५७)

"धर्मशास्त्र में कहा है कि—'अर्थ और काम में जो आसक्त नहीं, उनके लिये धर्मज्ञान का विधान है।" (द० ल० वे० ख० ६)

"जो मनुष्य सांसारिक विषयों में फंसे हुए हैं उन्हें धर्म का ज्ञान नहीं हो सकता। धर्म के जिज्ञासुओं के लिए परम प्रमाण वेद है।"
(पू० प्र० १०५)

वेदोक्त सब विधान धर्म हैं—

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ।
उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः ॥१३३॥[२।१४](७०)

(यत्र तु श्रुतिद्वैधं स्यात्) जहाँ कहीं श्रुति=वेद में दो पृथक् आदेश विहित हों (तत्र) ऐसे स्थलों पर (उभौ) वे दोनों ही विधान (धर्मौ स्मृतौ) धर्म माने हैं (मनीषिभिः) मनीषी विद्वानों ने (तौ उभौ अपि सम्यक् धर्मौ उक्तौ) उन दोनों को ही श्रेष्ठ धर्म स्वीकार किया है ॥ १३३ ॥

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥१३४॥ [२।१५] (७१)

(उदिते) सूर्योदय के समय (च अनुदिते) और सूर्यास्त के समय (तथा) तथा (समयाध्युषिते) समय के अतिक्रमण हो जाने पर अर्थात् प्रत्येक अथवा किसी भी निर्धारित किये समय में [...] में

प्रायोजित यज्ञ](सर्वथा यज्ञ: वर्तते) सब स्थितियों में यज्ञ कर लेना चाहिए (इति इयं वैदिकी श्रुतिः) इस प्रकार ये तीनों ही धर्म हैं, ऐसी वैदिक मान्यता है ॥ १३४ ॥

अनुशीलन : अर्थभेद-एक मत के अनुसार यहाँ प्रातः के तीन यज्ञसमयों का विकल्प है - 'उदिते'=सूर्योदय होने पर, 'अनुदिते'=सूर्योदय से पूर्व नक्षत्र दीखने तक, 'समयाध्युषिते' = नक्षत्रदर्शन बन्द होने से सूर्यदर्शन से पूर्व तक। ऐसा अर्थ करने पर सायंकाल का परिगणन नहीं होता। इस टीका का अर्थ ही व्यापक एवं पूर्ण है।

ब्रह्मावर्त्त देश की सीमा—

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥ १३६ ॥ [२ । १७] (७२)

(देवनद्योः सरस्वती–दृषद्वत्योः) देव अर्थात् दिव्यगुण और दिव्य आचरण वाले विद्वानों के निवास से युक्त सरस्वती और दृषद्वती नदी-प्रदेशों के (यत्+अन्तरम्) जो बीच का स्थान है (तम्) उस (देवनिर्मितम्-देशम्) दिव्यगुण एवं आचरण वाले विद्वानों द्वारा बसाये और निवास से सुशोभित देश को ('ब्रह्मावर्तम्' प्रचक्षते) 'ब्रह्मावर्त' कहा जाता है ॥१३६॥

[देव शब्द का 'दिव्यगुण और आचरण युक्त विद्वान्' शास्त्रप्रसिद्ध अर्थ है। अधिक जानकारी के लिए ३ । ८२ पर 'देव' विषयक समीक्षा देखिए]।

महर्षि दयानन्द ने ब्रह्मावर्त्त के स्थान पर आर्यावर्त्त पाठ ग्रहण करके निम्न व्याख्या दी है—

"(देवनद्योः सरस्वती-दृषद्वत्योः) देवनदियों—देव अर्थात् विद्वानों के संग से युक्त सरस्वती और दृषद्वती नदियों, उनमें सरस्वती नदी जो पश्चिम प्रान्त में वर्तमान उत्तर देश से दक्षिण समुद्र में गिरती है, जिसे सिन्धु नदी कहा जाता है और पूर्व में जो उत्तर से दक्षिण दशीय समुद्र में गिरती है, जिसे ब्रह्मपुत्र के नाम से जानते हैं; इन दोनो नदियों के (यत् अन्तरम्) बीच (देवनिर्मितम्) विद्वानो=आर्यों द्वारा सुशोभित (देशम्) स्थान (आर्यावर्त्तं प्रचक्षते) 'आर्यावर्त्त' कहलाता है" ॥ १३६ ॥ (ऋ० दया० पत्र वि० पृ० ९९—हिन्दी में अनूदित)

उन्होंने सत्यार्थप्रकाश में इस श्लोक के साथ १४१ वां या २ । २२ वां श्लोक संयुक्त करके उसकी व्याख्या इस प्रकार की है—"उत्तर में हिमालय दक्षिण मे विंध्याचल, पूर्व और पश्चिम में समुद्र तथा सरस्वती पश्चिम में अटक नदी, पूर्व में दृषद्वती जो नेपाल के पूर्वभाग पहाड़ से निकलके बंगाल के आसाम के पूर्व और ब्रह्मा के पश्चिम और होकर दक्षिण के समुद्र में

मिली है जिसको ब्रह्मपुत्रा कहते हैं और जो उत्तर के पहाड़ों से निकलके दक्षिण के समुद्र की खाड़ी में अटक मिली है। हिमालय की मध्यरेखा से दक्षिण और पहाड़ों के भीतर और रामेश्वर पर्यन्त विन्ध्याचल के भीतर जितने देश हैं उन सबको आर्यावर्त्त इसलिए कहते हैं कि यह आर्यावर्त्त देव अर्थात् विद्वानों ने बसाया और आर्यजनों के निवास करने से आर्यावर्त्त कहाया है।" (पृ० २२४)

सदाचार का लक्षण—

तस्मिन्देशे य आचारः पारंपर्यक्रमागतः ।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥१३७॥ [२.१८] (७३)

(तस्मिन् देशे) उस ब्रह्मावर्त्त देश में (वर्णानां सान्तरालानां पारम्पर्य-क्रमागतः यः आचारः) वर्णों और आश्रमों का जो परम्परागत अर्थात् वेदों के प्रारम्भ से लेकर उत्तरोत्तर क्रम से पालित जो आचार है। (सः) वह (सदाचारः+उच्यते) सदाचार कहलाता है ॥ १३७ ॥ ❀

अनुशीलन : सान्तरालानाम् का संगत अर्थ—(१) इस श्लोक में टीकाकारों ने 'सान्तरालानाम्' पद का 'वर्णसंकर या संकीर्ण जातियां' अर्थ अशुद्ध एवं मनुविरुद्ध किया है। यहां परम्परागत आचार को 'सदाचार' के रूप में परिभाषित किया है जब कि वर्णसंकरों के आचार को मनुस्मृति में 'सदाचार' के अन्तर्गत ही नहीं माना प्रत्युत निन्द्य आचार कहा है [१०। ५–७३]। अतः यहां इस पद का अर्थ 'आश्रम' ही करना चाहिए। मनुस्मृति का प्रतिपाद्य विषय वर्णों और आश्रमों के धर्मोंका वर्णन करना है, वही प्रतिपादित है। प्रतिपाद्य विषय से भिन्न विषय को लक्षण के अन्तर्गत ग्रहण करने की कोई संगति भी सिद्ध नहीं होती। इस दृष्टि से भी 'आश्रम' अर्थ ही उपयुक्त है। १। २ श्लोक में प्रयुक्त 'अन्तरप्रभवाणाम्' पद भी 'आश्रम' अर्थ का पोषक है और पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त हुआ है (विशेष जानकारी के लिए १। २ पर 'अनुशीलन' देखिए)।

(२) **'पारंपर्यक्रम' से अभिप्राय**—यहां परम्परागत से अभिप्राय 'सृष्टि-प्रारम्भ में वेदों के विधानों से प्रचलित आचरण' से है क्योंकि वर्णों-आश्रमों की परम्परा और किसी से प्रारम्भ नहीं हुई अपितु वेदों से ही हुई है [१। २३,३१] वेदों से ही वर्ण-व्यवस्था, नामकरण आदि किये गये [१।२१,८७] ऐसी मनु की मान्यता है। इसकी पुष्टि इस बात से भी हो जाती है कि मनु वेदविहित आचरण को ही 'सदाचार' मानते हैं [४। १५५, १। १०८ आदि]

❀ [**प्रचलित अर्थ**—उस देश में ब्राह्मण आदि और अम्बष्ठ रथकार आदि वर्ण संकर जातियों का कुलपरम्परागत जो आचार है, वही 'सदाचार' कहा जाता है ॥ १३७ ॥ (२।१८)।]

सारे संसार के लोग ब्रह्मावर्त के विद्वानों से चरित्र की शिक्षा ग्रहण करें—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥१३९॥[२।२०](७४)

(एतद् देशप्रसूतस्य) इसी ब्रह्मावर्त देश [१३६—१३७] में उत्पन्न हुए (अग्रजन्मनः सकाशात्) ब्राह्मणों=विद्वानों के सान्निध्य से (पृथिव्यां-सर्वमानवाः) पृथिवी पर रहने वाले सब मनुष्य (स्वं स्वं) अपने-अपने (चरित्रं शिक्षेरन्) आचरण अर्थात् कर्त्तव्यों की शिक्षा ग्रहण करें ॥ १३९ ॥

महर्षि दयानन्द ने उसी आर्यावर्त के पाठ के अनुसार अर्थ किया है—

"इसी आर्यावर्त में उत्पन्न हुए ब्राह्मणों अर्थात् विद्वानों से भूगोल के सब मनुष्य—ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, दस्यु, म्लेच्छ आदि सब अपने अपने योग्य विद्या चरित्रों की शिक्षा और विद्याभ्यास करें।" (स० प्र० २७३)

मध्यदेश की सीमा—

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥१४०॥ [२।२१] (७५)

(हिमवद्-विन्ध्ययोः मध्यं) [उत्तरमें] हिमालय पर्वत [और दक्षिण में] विन्ध्याचल के मध्यवर्ती (विनशनात्+अपि यत् प्राक्) विनशन प्रदेश= **सरस्वती नदी के लुप्त होने के स्थान से लेकर जो पूर्वदिशा का प्रदेश है (च) और (प्रयागात् प्रत्यक्) प्रयाग प्रदेश से पश्चिम में जो प्रदेश है, वह (मध्यदेशः प्रकीर्तितः) 'मध्यदेश'** कहा जाता है ॥ १४० ॥

आर्यावर्त्त देश की सीमा—

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ॥१४१॥[२।२२] (७६)

(आ-समुद्रात्तु वै पूर्वात्) जो पूर्व समुद्र से लेकर (आ-समुद्रात्तु पश्चिमात्) पश्चिम समुद्रपर्यन्त विद्यमान (तयोः एव गिर्योः अन्तरम्) उत्तर में हिमालय और दक्षिण में स्थित विन्ध्याचल का मध्यवर्ती देश है, उसे (बुधाः आर्यावर्त्तं विदुः) विद्वान् आर्यावर्त्त कहते हैं ॥ १४१ ॥
(ऋ० दया० पत्र० विज्ञा० ९९ हिन्दी-अनुवाद)

वह आर्यावर्त्त यज्ञिय देश है, उससे परे म्लेच्छ देश—

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः ।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ॥१४२॥[२।२३](७७)

(तु) और (यत्र) जिस देश में (स्वभावतः कृष्णसारः चरति) स्वाभाविक रूप से कृष्णमृग विचरण करता है (सः) वह [१४१ में वर्णित] आर्यावर्त देश (यज्ञियः देशः ज्ञेयः) यज्ञों से सम्बद्ध=पवित्र, श्रेष्ठ अथवा श्रेष्ठ कर्मों वाले व्यक्तियों से युक्त देश है, ऐसा समझना। (अतः परः तु) इस आर्यावर्त से आगे=परे तो (म्लेच्छदेशः) म्लेच्छभाषाभाषी व्यक्तियों अथवा अशिक्षित व्यक्तियों के देश हैं ॥१४२॥ ※

"जो आर्यावर्त देश से भिन्न देश हैं वे दस्युदेश और म्लेच्छ देश कहाते हैं।" (स० प्र० २२५)

अनुशीलन : १४२ का सङ्गत अर्थ—(१) इस श्लोक का अन्य टीकाओं या भाष्यों में जो अर्थ मिलता है वह प्रासङ्गिक सिद्ध नहीं होता। (क) यतोहि, उस अर्थ के अनुसार इस श्लोक में 'यज्ञिय' और 'म्लेच्छ' देशों की एक परिभाषा-सी बन जाती है, जब कि यहां पूर्वापर प्रसङ्ग में यज्ञिय और म्लेच्छ देश की परिभाषाओं का कोई प्रसङ्ग नहीं बनता। (ख) यहाँ पूर्ववर्णन कुछ देशों की सीमाओं का है, और १४१ में उस प्रसङ्ग में आर्यावर्त की सीमा बतलायी है, अतः इस श्लोक का सम्बन्ध भी उसी के साथ बनता है। यह उसके प्रसङ्ग से विच्छिन्न श्लोक नहीं है। इस श्लोक में 'सः' पद इसे पूर्व श्लोक के साथ जोड़ने का संकेत करता है और 'तु' पद यह संकेत देता है कि उसी श्लोक की इसके साथ अनुवृत्ति है। पूर्व देश की विशेषता इसमें प्रदर्शित की है, इस प्रकार यह श्लोक उसका अर्थवाद है। (ग) पहले श्लोक में वर्णित देश का नाम 'आर्यावर्त' है और इस श्लोक में भी उसे यज्ञीय परम्पराओं के आधार पर आर्यों=श्रेष्ठों या श्रेष्ठ परम्परा वाले व्यक्तियों का देश बताया है। "**यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म**" [शत० १।७।१।५] प्रमाण के अनुसार सभी श्रेष्ठ कर्मों को यज्ञ कहते हैं। उसके साथ इस श्लोक में कृष्ण-मृग विचरण करने की एक प्राकृतिक विशेषता भी अलग से कह दी है। इस प्रकार इस भाष्य का अर्थ प्रासङ्गिक एवं मनुसम्मत है।

(२) **श्लोकार्थ में याज्ञवल्क्य स्मृति का प्रमाण**—

इस भाष्य में जो अर्थ किया गया है वही प्राचीन मान्यता के अनुरूप है, इसकी पुष्टि याज्ञवल्क्य स्मृति के एक श्लोक से हो जाती है। इस श्लोक में यज्ञीय देश की परिभाषा नहीं है, और न कृष्ण मृग को यज्ञीय देश का आधार या लक्षण माना गया है अपितु कृष्णमृग का विचरण करना आर्यावर्त की एक विशेषता मात्र प्रदर्शित की गई है। प्राचीन मान्यता भी यही है। धर्मों के कथन का प्रारम्भ करते हुए याज्ञवल्क्य स्मृति में इस बात को इसी रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा है—

मिथिलास्थः स योगीन्द्रः क्षणं ध्यात्वाऽब्रवीन्मुनीन्।

※ [**प्रचलित अर्थ**—जहाँ पर काला मृग स्वभाव से ही विचरण करता है, वह 'यज्ञीय' देश है, इसके अतिरिक्त म्लेच्छ देश है ॥१४२॥]

मनुस्मृति-वर्णित
आर्यावर्त
रू स
चीन
त्रिविष्टप
पूर्व समुद्र (बंगाल की खाड़ी)
पश्चिम सागर (अरब सागर)
ब्रह्म देश
आरा कान पर्वत

मानचित्र का विवरण

(क) आर्यावर्त की सीमाएं -

पूर्व में, पूर्व समुद्र तक और पश्चिम में, पश्चिम समुद्र तक। उत्तर में, हिमवान् (हिमालय) पर्वत (पश्चिम में हिन्दूकुश से लेकर पूर्व में असम और अराकान पर्वतमाला तक भारत की सम्पूर्ण उत्तरी सीमा पर फैली हुई पूरी पर्वत श्रेणी को हिमवान् पर्वत कहा जाता रहा है। कैलाश पर्वत आदि इसी के अंग हैं)। दक्षिण में, विन्ध्य पर्वत (आधुनिक भूगोलवेत्ताओं के अनुसार विन्ध्य पर्वत पश्चिम में गुजरात से लेकर पूर्व में बिहार तक लगभग ७०० मील तक फैला हुआ है सतपुड़ा आदि इसी के भाग हैं)। इन दोनों पर्वत प्रदेशों और उनके मध्यवर्ती भूभाग को "आर्यावर्त" कहा गया है (मनु० २।२२)।

मनुस्मृति में संक्षेप में आर्यावर्त का विस्तार प्रदर्शित किया गया है। इसमें परिगणित चारों दिशाओं के अंतिम प्रदेशों से आर्यावर्त की सीमा सुनिश्चित हो जाती है और अन्य सभी प्रदेशों का उन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है। उत्तर में शक और चीन देशों से लेकर दक्षिण में द्रविड (तमिलनाडु) तक पश्चिम में पह्लव (ईरान) प्रदेश से लेकर पूर्व में किरात प्रदेश (ब्रह्मपुत्र का पूर्व भाग) तक इसका विस्तार था। पश्चिम से पूर्व समुद्र भी इतना ही फैला है।

यहां प्रश्न होता है कि मनु ने केवल कुछ प्रदेशों का ही वर्णन क्यों किया ? उत्तर में कहा जा सकता है कि यहां प्रसंगानुसार ही केवल आर्यों की व्यवस्था के उद्भव स्थान और उसको पूर्णतः अपनाने वाले केन्द्रीय भाग का वर्णन किया है, जिसे परवर्ती साहित्य में "धर्मदेश" भी कहा गया है। आर्यावर्त के प्रदेशों में परिगणित प्रदेश "मध्यदेश" संज्ञा सापेक्षिक है, जो इस बात का संकेत देती है कि उस समय प्राच्य, प्रतीच्य, उदीच्य और दाक्षिणात्य प्रदेश भी आर्यावर्त के भाग थे, किन्तु उनमें कहीं - कहीं अनार्य या आर्यों से बहिष्कृत लोग भी बसते थे, जबकि केन्द्रीय भाग में ऐसा नहीं था (मनु० १० ।४५)। १० ।४३-४४ प्रक्षिप्त श्लोकों को यदि अनुभूति के समान मान लिया जाये तो उनसे भी यही जानकारी मिलती है कि इन श्लोकों में परिगणित देश या जातियां इन श्लोकों की रचना से पूर्व आर्य थीं। इससे आर्य देशों के सुदीर्घ विस्तार का ज्ञान होता है (द्र० महा० अनु० ३५.१७-१८)।

(ख) आर्यावर्त के प्रदेश या जनपद

(१) ब्रह्मावर्त मनुस्मृति में ब्रह्मावर्त प्रदेश को सर्वोच्च महत्त्व का प्रदेश माना है। वहां के निवासियों का आदर्श आचरण "सदाचार" है। सदाचार की शिक्षा का यह एकमात्र केन्द्र है (२।१६-१८,२०)। भौगोलिक दृष्टि से यह एक लघु प्रदेश था, जो सरस्वती और दृषदवती देवनदियों के मध्यवर्ती भूखण्ड पर स्थित था। महाभारत में भी इसे "धर्मक्षेत्र" कहा है।

वैदिक एवं लौकिक संस्कृत वाङ्मय में प्राप्त उल्लेखों के अनुसार, सरस्वती नदी, हिमालय पर्वतश्रेणी में शिवालिक-पहाड़ियों से उद्भूत होकर शिमला पटियाला (वर्तमान पंजाब प्रान्त) तथा सिरसा (वर्तमान हरियाणा प्रान्त) के क्षेत्रों से प्रवाहित होकर ब्रह्मावर्त की पश्चिमोत्तरीय सीमाओं का निर्माण करती थी। इसकी भौगोलिक स्थिति बदलती रही है। वैदिक साहित्य के अनुसार यह पश्चिम समुद्र में गिरती थी, जबकि अवान्तर साहित्य के अनुसार यह राजपूताना (वर्तमान पश्चिमी राजस्थान) की मरुभूमि में विलुप्त हो गयी थी। यही स्थान "विनशन" नाम से प्रसिद्ध हुआ (तैत्ति० सं० ७.२.१.४ ; शत० ब्रा० १.४.१.१४ ; ऐत० ब्रा० १६.१.२ ; कौषी० ब्रा० १२.२.३; महा० वन० ८२. १११, शल्य० ३७.१)।

हिमालय पर्वतश्रेणी में शिवालिक -पहाड़ियों से ही उद्भूत दृषद्वती नदी, ब्रह्मावर्त की पूर्वी और दक्षिणी सीमाओं का निर्माण करती हुई यमुना के समानान्तर प्रवाहित होकर कुरुक्षेत्र के दक्षिण की ओर से होती हुई सरस्वती नदी में मिलती थी (महा० वन० ५.२; ८३.४; २०४ २०५)। दोनों ही नदियों के तट ऋषियों, मुनियों, विद्वानों के निवास एवं आश्रमों से सुशोभित थे। इनके तटों पर यज्ञों का अनुष्ठान किया जाता था। इसी कारण मनु ने इनको "देवनदी" कहा है। सम्प्रति, दोनों ही नदियों की पहचान को लेकर भूगोलवेत्ताओं में मतभेद हैं। कुछ घग्घर को सरस्वती, चितंग या रक्षी को दृषद्वती मानते हैं। अभी इन पर सुनिश्चित शोध की आवश्यकता है।

(२) ब्रह्मर्षि देश ब्रह्मावर्त के साथ लगते पूर्व दक्षिण प्रदेश को "ब्रह्मर्षि देश" नाम दिया गया है। इसमें निम्न जनपद परिगणित हैं - कुरुक्षेत्र (वर्तमान हरियाणा में इसी नाम से प्रसिद्ध एक जिला नगर और उसके पार्श्ववर्ती प्रदेश), मत्स्य (वर्तमान राजस्थान में जयपुर और अलवर तथा भरतपुर का कुछ क्षेत्र), पंचाल (वर्तमान उत्तरप्रदेश के बरेली, बदायूं और फर्रुखाबाद जिलों के क्षेत्र), शूरसेन

(मथुरा और आसपास का क्षेत्र) (मनु० २।१६)।

हमारे शोधकार्य के अनुसार यह श्लोक प्रक्षिप्त घोषित हुआ है। इसकी पुष्टि भौगोलिक वर्णन से भी हो जाती है। यतोहि कुरुक्षेत्र ब्रह्मावर्त प्रदेश के अंतर्गत आ जाता है, और शेष तीनों जनपद "मध्यदेश" की सीमा में समाविष्ट हैं। अतः इसकी पृथक् भौगोलिक संरचना मनुसम्मत सिद्ध नहीं होती। प्रतीत होता है, ब्रह्मावर्त के अनुकरण पर परवर्ती काल में यह नामकरण किया गया और उसके उपरान्त मनुस्मृति में इसका प्रक्षेप हुआ।

(३) मध्यदेशः-

उत्तर में हिमालय पर्वत, दक्षिण में विंध्यपर्वत, पूर्व में प्रयाग प्रदेश (आधुनिक इलाहाबाद) और पश्चिम में विनशन स्थान (वर्तमान पश्चिमी राजस्थान की मरुभूमि में सरस्वती नदी के लुप्त होने का स्थल) इनका मध्यवर्ती भूभाग "मध्यदेश" कहलाता था (मनु० २।२१)। यहां प्रयाग से नगर और जनपद दोनों का ग्रहण किया गया है, जिसमें काशी भी सम्मिलित थीं।

(ग) अन्य जनपद -

मनु० १०।४३-४४ श्लाकों में बारह जातियों का नामोल्लेख है, जो देशाधारित या देश विशेष की संज्ञाएं भी हैं। इनसे इन जनपदों के अस्तित्व का संकेत मिलता है। यद्यपि हमारे शोधकार्य के अनुसार ये श्लोक भी प्रक्षिप्त हैं, तथापि सम्पूर्णता के लिए मानचित्र में इनको प्रदर्शित कर दिया गया है। वे हैं :-

(१) **पौण्ड्रक** बंगाल के दीनाजपुर, मालदह, राजशाही और बोगरा तथा रंगपुर (बाग्ला देश) के पश्चिमी क्षेत्र। राजधानी पुण्ड्रवर्धनपुर, आधुनिक "महास्थान" (जिला बोगरा)।

(२) **औड्र** आधुनिक उड़ीसा का पुरी- भुवनेश्वर का क्षेत्र और पूर्वी उत्तरी क्षेत्र। उत्तर में जाजपुर तक था।

(३) **किरात** ब्रह्मपुत्र की पूर्वी घाटी का क्षेत्र।

(४) **द्रविड** दक्षिण में कावेरी नदी के आसपास का क्षेत्र। वर्तमान तमिलनाडु प्रदेश।

(५) **पल्हव** वर्तमान ईरान (फारस) का पूर्वी क्षेत्र।

(६) **पारद** वर्तमान बलूचिस्तान (पाकिस्तान) में हिंगुला नदी प्रदेश और हिंगुलाज प्रदेशीय क्षेत्र।

(७) शक - शकों का मूलस्थान मध्य एशिया था। इनका निवास सायर और आक्सस (वक्षु) नदियों (वर्तमान रूस में) के समीपस्थ प्रदेश में माना जाता है। चीन की यूची जाति द्वारा खदेड़े जाने के बाद इन्होंने पश्चिमी सीमान्त प्रदेशों में अपने प्रदेश बसाये और शनैः शनैः भारत के भीतरी प्रदेशों पर विजय प्राप्त की।

(८) यवन - मूलतः यवन यूनान के निवासी थे। भारत से इनके सम्बन्ध अत्यन्त प्राचीन काल में थे। वहां से आकर कुछ यवन (यूनानी) आक्सस (वक्षु) नदी और हिन्दू कुश पर्वत के मध्यप्रदेश में बस गये थे। इस कारण उस क्षेत्र को "यवन देश" कहा गया है। बलख (अफगानिस्तान) इनकी राजधानी का क्षेत्र रहा है।

(९) कम्बोज - दक्षिण - पश्चिम कश्मीर, वर्तमान "पामीर" और " बदख्शां " का क्षेत्र (अफगानिस्तान)।

(१०) दरद - उत्तर-पश्चिम कश्मीर का गिलगिल, हुंजा प्रदेश।

(११) खश - गढ़वाल और उसका उत्तरवर्ती क्षेत्र।

(१२) चीन - वर्तमान चीन देश।

इनके अतिरिक्त भी दशम अध्याय में बहुत-सी ऐसी जातियों का उल्लेख है, जिन नाम पर परवर्ती काल में जनपदों का नाम पड़ा। जैसे - अन्ध, अम्बष्ठ, मगध आदि। वहां इन जातियों को देशाधारित न मानकर "वर्णसंकर" सन्तान होने के कारण उस - उस नाम से विहित किया गया है। इस कारण इस मानचित्र में उन जातियों या जनपदों का उल्लेख नहीं किया गया है।

यस्मिन् देशे मृगः कृष्णः तस्मिन् धर्मान् निबोधत ॥ आचा० २ ॥

अर्थात्—मिथिला निवासी उस योगीश्वर याज्ञवल्क्य ने थोड़ी देर विचार करके मुनियों से कहा—'जिस देश में काला-मृग विचरण करता है या पाया जाता है, उस (आर्यावर्त) देश में अनुष्ठेय धर्मों को सुनो' ॥

(२) **'म्लेच्छ' शब्द का अभिप्राय**—इस श्लोक में प्रयुक्त 'म्लेच्छ' शब्द विचारणीय है। यहाँ म्लेच्छ शब्द का उत्तरकाल में रूढ़ 'अपवित्र' या 'नीच' अर्थ नहीं है। 'म्लेच्छ अव्यक्तभाषी' अर्थवान् धातु से 'घञ्' प्रत्यय के योग से म्लेच्छ शब्द बनता है। जिसका अर्थ है—'ऐसे अशिक्षित लोग जो अस्पष्ट—अशुद्ध भाषा बोलते हैं।' दूसरे शब्दों में इनको हम यह भी कह सकते हैं—'जिन्होंने वर्णाश्रम धर्मानुसार शिक्षा-दीक्षा प्राप्त नहीं की है, ऐसे व्यक्ति।' उपर्युक्त प्रसङ्ग देशों की सीमा बतलाने का है अतः मनु कहते हैं कि उपर्युक्त देशों की सीमा के आगे म्लेच्छ व्यक्तियों के देश हैं। उस समय अशिक्षित देश भी थे, तभी तो मनु संसार के उन सभी देशों के लोगों को 'ब्रह्मावर्त' में आकर शिक्षा ग्रहण करने के लिए कह रहे हैं [१।१३९ (२।२०)]। यह सीमावर्णन का प्रसंग होने से उन लोगों के प्रति इस श्लोक में कोई हीन मान्यता का भाव प्रदर्शित नहीं किया गया है। मनु व्यक्तियों को हीन अगर मानते हैं तो कर्मणा मानते हैं, जन्मना नहीं; चाहे वह कोई भी व्यक्ति हो। ऊपर 'म्लेच्छ' का जो अर्थ प्रदर्शित किया है, उसकी पुष्टि के लए उनका ही एक प्रमाण प्रस्तुत है—

मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः ।
म्लेच्छवाचः चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥१०।४५॥

यहां 'म्लेच्छों' के लिए 'म्लेच्छवाचः' प्रयोग ध्यान देने योग्य है।

सृष्टि एवं धर्मोत्पत्ति विषय की समाप्ति का कथन, वर्णधर्मों का वर्णन प्रारम्भ—

एषा धर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्तिता ।
सम्भवश्चास्य सर्वस्य, वर्णधर्मान्निबोधत ॥१४४॥ [२।२५] (७८)

(एषा) यह (धर्मस्य योनिः) धर्म की उत्पत्ति [१।१२० से १३९ तक (अथवा २।१ से २।२०)] (च) और (अस्य सर्वस्य संभवः) इस समस्त जगत् की उत्पत्ति [१।५ से ९१ तक] (समासेन) संक्षेप से (वः प्रकीर्तिता) आप लोगों को कही, अब (वर्णधर्मान्) धर्मों को (निबोधत) सुनो—॥१४४॥

अनुशीलन : (१) **मनुस्मृति में अध्याय-विभाजन मौलिक नहीं**—प्रथम अध्याय की समाप्ति इस श्लोक के बाद होनी चाहिए ११९ वें श्लोक के पश्चात् अध्याय की समाप्ति करना त्रुटिपूर्ण है। मनुस्मृति में अध्यायों का विभाजन मौलिक न होकर परवर्ती है।

विभाजनकर्त्ता ने विषयों को अध्यायों का आधार बनाया है, जैसे—प्रथमाध्याय में सृष्टयुत्पत्ति और धर्मोत्पत्ति विषय हैं, द्वितीय में ब्रह्मचर्याश्रम के धर्म, तृतीय में गृहस्थ से सम्बद्ध धर्म, आदि। किन्तु प्रथम अध्याय का विभाजन विषयसंगत

नहीं है। पता नहीं विभाजनकर्त्ता को किस भ्रान्ति के कारण यह त्रुटि रह गयी है। प्रथम अध्याय में एक-दूसरे से सम्बद्ध दो विषय हैं—सृष्ट्युत्पत्ति और धर्मोत्पत्ति। पारस्परिक घनिष्ठ सम्बद्धता के कारण मनु ने इन दोनों विषयों को एक मुख्य विषय मानकर वर्णित किया है। १।२ में मनु से महर्षियों ने धर्मों के कथन करने की प्रार्थना की थी। धर्मकथन के लिए भूमिका के रूप में धर्मोत्पत्ति, धर्मस्रोत आदि का भी बत-लाना आवश्यक था, और ये जगदाश्रित हैं—जगदुत्पत्ति के पश्चात् ही धर्म की उत्पत्ति, आवश्यकता और स्थिति बनती है—अतः इस दृष्टि से आवश्यक समझकर मनु ने सृष्टि-उत्पत्ति का भी वर्णन किया है। १।४—५ में इस सृष्ट्युत्पत्ति विषय का संकेत-पूर्वक प्रारम्भ है और १। ६१ में कर्मों की रचना के साथ वह पूर्ण होता है तथा १०८ वें श्लोक से धर्म का प्रसंग प्रारम्भ होकर १। १४४ [अन्य संस्करणों के अनुसार २। २५] में समाप्त होता है। १। १४४ में मनु ने एकसाथ ही इन विषयों की पूर्णता का संकेत दिया है—"**एषा धर्मस्य वो योनिः**······**संभवश्चास्य सर्वस्य**···" जब मनु ने स्वयं उसका समापन एकसाथ और १४३ वें के बाद कहा है तो स्पष्ट है कि इससे पूर्व उस विषय को खण्डित नहीं किया जा सकता। यदि इन दोनों विषयों में एक सृष्ट्युत्पत्ति विषय की पूर्णता पर ही अध्याय-विभाजन किया जाता तो उसे भी एक ही विषय से युक्त होने के कारण स्वीकार्य मान लिया जा सकता था किन्तु परम्परागत अध्याय-विभाजन में तो प्रसंग भी तोड़ रखा है। धर्म के भूमिका रूप १०८—११० श्लोक तो प्रथम अध्याय में रह गये और शेष धर्म-वर्णन प्रसंग द्वितीय अध्याय में चला गया। इस प्रकार प्रसंग ही विखण्डित हो जाता है। १४४ वें के बाद अध्याय में विभाजन होने से न तो प्रसंग ही खण्डित होगा और न विषय, अपितु मनु के संकेत के अनुसार अध्याय की पूर्णता होती है। द्वितीय अध्याय के ये २५ श्लोक प्रथम अध्याय में परिगणित हो जाने से द्वितीय अध्यायों का विभाजन भी वैज्ञानिक और सुव्यवस्थित रूप से हो जायेगा। अन्य अध्यायों की भांति उसका—'ब्रह्मचर्याश्रम के धर्म' यह एक ही मुख्य विषय रह जायेगा। इस प्रकार कई त्रुटियों के कारण परम्परागत अध्यायविभाजन गलत है, प्रथम अध्याय की समाप्ति १।१४४ (२।२५ अन्य प्रकाशनों में) के बाद होना चाहिए (अन्य जानकारी के लिये भूमिका में 'अध्याय-विभाजन' शीर्षक अध्याय पढ़िये)

(२) मनुस्मृति में वर्णों और आश्रमधर्मों का साथ-साथ वर्णन—

यहां केवल '**वर्णधर्मान्निबोधत**' और १०।१३१ में "**एषा धर्मविधिः कृत्स्नश्चा-तुर्वर्ण्यस्य कीर्तितः**" इस उपसंहारात्मक पद को पढ़कर यह जिज्ञासा होती है कि मनु से प्रश्न वर्णों और आश्रमों [१। २] दोनों का किया था फिर विषय-संकेतक श्लोकों में केवल वर्णधर्म की ही बात क्यों कही? इसका समाधान मनु-शैली और अन्य श्लोकों से हो जाता है। उसे इस प्रकार समझना चाहिए—

(१) मनुस्मृति की यह शैली है कि उसमें आश्रमों के धर्म वर्णों के साथ-साथ चलते हैं। वर्णों के सुदीर्घ विषय के अन्तर्गत ही आकर वे छठे अध्याय में ब्राह्मण वर्ण के धर्मों का ··· आश्रमधर्मों की पूर्णता के

अथ द्वितीयोऽध्यायः

[हिन्दीभाष्य-'अनुशीलन' समीक्षाभ्यां सहितः]

(संस्कार एवं ब्रह्मचर्याश्रम-विषय)

(संस्कार २।१ से २।३८ तक)

संस्कारों को करने का निर्देश और उनसे लाभ—

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥१॥ [२।२६] (१)

इसी से सब मनुष्यों को उचित है कि (वैदिकैः पुण्यैः कर्मभिः) वेदोक्त पुण्यरूप कर्मों से (द्विजन्मनाम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने सन्तानों का (निषेकादिः शरीरसंस्कारः कार्यः) निषेकादि [=गर्भाधान आदि] संस्कार करें, जो (इह च प्रेत्य पावनः) इस जन्म वा परजन्म में पवित्र करने वाला है ॥ १ ॥ (स० प्र० २५७)

अनुशीलन : संस्कारों के उद्देश्य और लाभ पर प्रकाश डालते हुए ऋषि दयानन्द लिखते हैं—"जिस करके शरीर और आत्मा सुसंस्कृत होने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त हो सकता है और सन्तान अत्यन्त योग्य होते हैं। अतः संस्कारों का करना सब मनुष्यों को अति उचित है।" (स० वि० भूमिका)

संस्कारों से बुरे संस्कारों का निवारण—

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौलमौञ्जीनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥ २॥ [२।२७] (२)

(गार्भैः) गर्भशुद्धिकारक गर्भकालीन अर्थात् गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन संस्कारों से (जातकर्मचौल-मौञ्जीनिबन्धनैः) [जाते जन्मनि शैशवावस्थायां क्रियते यत् संस्कारकर्म तत् जातकर्म] जन्म होने पर शैशवावस्था में जो संस्कार किये जाते हैं वे जातकर्म कहलाते हैं। उनमें जातकर्म [२।४] नामकरण [२।५–८], निष्क्रमण [२।६], अन्न-प्राशन [२।६]; और चौल अर्थात् चूड कर्म [२।१०], तथा मेखला-बन्धन अर्थात् उपनयन एवं वेदारम्भ आदि [२।११–४३ ॥ २।४४,४६–२२४]

अथ द्वितीयोऽध्यायः

[हिन्दीभाष्य-'अनुशीलन' समीक्षाभ्यां सहितः]

(संस्कार एवं ब्रह्मचर्याश्रम-विषय)

(संस्कार २ । १ से २ । ३८ तक)

संस्कारों को करने का निर्देश और उनसे लाभ—

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥१॥ [२।२६] (१)

इसी से सब मनुष्यों को उचित है कि (वैदिकैः पुण्यैः कर्मभिः) वेदोक्त पुण्यरूप कर्मों से (द्विजन्मनाम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने सन्तानों का (निषेकादिः शरीरसंस्कारः कार्यः) निषेकादि [=गर्भाधान आदि] संस्कार करें, जो (इह च प्रेत्य पावनः) इस जन्म वा परजन्म में पवित्र करने वाला है ॥ १ ॥ (स० प्र० २५७)

अनुशीलन : संस्कारों के उद्देश्य और लाभ पर प्रकाश डालते हुए ऋषि दयानन्द लिखते हैं—"जिस करके शरीर और आत्मा सुसंस्कृत होने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त हो सकता है और सन्तान अत्यन्त योग्य होते हैं। अतः संस्कारों का करना सब मनुष्यों को अति उचित है।" (स० वि० भूमिका)

संस्कारों से बुरे संस्कारों का निवारण—

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौलमौञ्जीनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥ २॥ [२।२७] (२)

(गार्भैः) गर्भशुद्धिकारक गर्भकालीन अर्थात् गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन संस्कारों से (जातकर्मचौल-मौञ्जीनिबन्धनैः) [जाते जन्मनि शैशवावस्थायां क्रियते यत् संस्कारकर्म तत् जातकर्म] जन्म होने पर शैशवावस्था में जो संस्कार किये जाते हैं वे जातकर्म कहलाते हैं। उनमें जातकर्म [२ । ४] नामकरण [२ । ५–८], निष्क्रमण [२ । ९], अन्न-प्राशन [२ । ९]; और चौल अर्थात् चूड कर्म [२ । १०], तथा मेखला-बन्धन अर्थात् उपनयन एवं वेदारम्भ आदि [२ । ११–४३ ॥ २ । ४४,४६–२२४]

(होमैः) यज्ञ से सम्पन्न किये जाने वाले संस्कारों से (द्विजातीनाम्) द्विज बालकों के (बैजिकम्) बीज-सम्बन्धी=परम्परागत पैतृक-मातृक अंशों से उत्पन्न होने वाले (च) और (गार्भिकम्) गर्भकाल में माता-पिता से प्राप्त होने वाले (एनः) बुरे आचरण के संस्कारजन्य दोष एवं शारीरिक अशुद्धियां (अपमृज्यते) दूर हो जाते हैं अर्थात् इन संस्कारों के करने से बालकों के बुरे संस्कार मिटकर शुद्ध-श्रेष्ठ संस्कार बनते हैं ॥२॥*

अनुशीलन : इस श्लोक के अर्थ की व्यापकता पर और संस्कारों की संख्या सम्बन्धी मान्यता पर विस्तृत विवेचन करना पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। क्योंकि, प्रचलित टीकाओं में इस श्लोक का अर्थ संकुचित एवं अपूर्ण मिलता है तथा मनु ने संस्कार कितने माने हैं, इस विषय में अनेक लेखकों को भ्रान्ति हुई है।

(क) **'गार्भैः' आदि पदों में अर्थव्यापकता**—(१) सर्वप्रथम संस्कारों के परिगणन प्रसङ्ग में मनु की शैली को समझ लेना उपयोगी होगा। क्योंकि उस समय संस्कार बहुप्रचलित सर्वप्रसिद्ध कृत्य थे, अतः मनु ने कहीं किसी संस्कार का केवल नामोल्लेख ही कर दिया, जैसे—निषेक संस्कार [।१–२ में] किन्तु विधि नहीं दी। कहीं सांकेतिक रूप में एक सम्बन्ध के संस्कारों का परिगणन कर दिया है, जैसे 'गार्भैः' कहने से सभी गर्भकालीन संस्कारों=गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन का अन्तर्भाव हो गया, तो कहीं इस श्लोक में सबका नामोल्लेख न करके विधिवर्णन में उनका कथन कर दिया है, जैसे नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन का [२।४–६]। जिस संस्कार के विषय में मनु को जितना स्पष्टीकरण अभीष्ट था, उतना ही किया है।

(२) इस शैली के समझने के पश्चात् अब इस श्लोक के शब्दों के अर्थ की व्यापकता पर विचार किया जाता है। (क) इस श्लोक में 'गार्भैः' शब्द बहुवचनान्त है जिसका अर्थ है—'गर्भ-सम्बन्धी' या 'गर्भकालीन सभी संस्कार'। अगर मनु को केवल गर्भाधान संस्कार का परिगणन करना ही अभीष्ट होता तो वे बहुवचन का प्रयोग नहीं करते। यह बहुवचनान्त प्रयोग ही यह सिद्ध करता है कि मनु इस शब्द से सभी गर्भकालीन संस्कारों के परिगणन की अभीष्टता का संकेत करना चाहते हैं। वे गर्भकालीन संस्कार तीन हैं—१. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. सीमन्तोन्नयन।

(ख) इसी प्रकार इस श्लोक में 'जातकर्म' भी केवल एक संस्कार का वाचक न होकर जन्म के उपरान्त शैशव काल में होने वाले सभी संस्कारों का उपलक्षण है। यह इस बात से सिद्ध होता है कि मनु ने विधिवर्णन प्रसंग में जातकर्म के पश्चात् उन सभी का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। वे हैं—१. जातकर्म [२।४], २. नामकरण [२।५-८]; निष्क्रमण [२।६], अन्नप्राशन [२।६]।

---

*[प्रचलित अर्थ—गर्भ शुद्धि ... होम, जातकर्म ... चूडाकर्म और मौञ्जीबन्धन (यज्ञोपवीत) संस्कारों से द्विजों के वीर्य एवं गर्भ से उत्पन्न दोष नष्ट हो जाते हैं ॥२७॥

(ग) इसी प्रकार 'मौञ्जीबन्धन' भी अपने अन्तर्गत दो संस्कारों का अन्तर्भाव किये हुए है—एक उपनयन और दूसरा—वेदारम्भ। क्योंकि ब्रह्मचारी उपनयनदीक्षा के अवसरपर मेखला धारण करता है और वेदाध्ययन समाप्ति पर्यन्त उसे धारण कर रखता है। इस प्रकार इस नाम में व्यापक भाव है।

(३) मनुस्मृति में सोलह संस्कार—

इस विवेचन के उपरान्त अब इस जिज्ञासा का समाधान भी निकल आता है कि मनु ने अपनी स्मृति में कितने संस्कारों का उल्लेख किया है। कोई मनुसम्मत १२ संस्कार मानते हैं तो कोई कम-अधिक। वास्तविकता यह है कि मनु ने सांकेतिक, नामोल्लेख या विधिवर्णन के रूप में १६ संस्कारों का वर्णन किया है। पाठकों के परिज्ञान के लिए उनके वर्णन स्थल एवं अर्थ का यहां तालिका के रूप में दिग्दर्शन कराया जाता है—

सोलह संस्कारों की विवरण-तालिका

संस्कार संख्या	नाम	संस्कार का उद्देश्य एवं विधि	मनुस्मृति में वर्णनस्थल
		(प्रत्येक संस्कार यज्ञपूर्वक सम्पन्न होता है)	
१.	गर्भाधान संस्कार	सन्तानप्राप्ति के लिए वीर्यनिषेचन द्वारा गर्भस्थापन करना (गृहाश्रमी होने पर)	[२।२ में 'गार्भैः' पद से और २।१, २।११७ में]।
२.	पुंसवन	स्त्री के गर्भाधान के चिह्न प्रकट होने पर दूसरे या तीसरे मास में पुत्रोत्पत्ति के उद्देश्य से यज्ञपूर्वक की जानेवाली विधि।	[२।२ में 'गार्भैः' पद के अन्तर्गत]
३.	सीमन्तोन्नयन	गर्भ के चतुर्थ मास में गर्भस्थिरता, पुष्टि एवं स्त्री के आरोग्य के लिए की जाने वाली विधि।	[,, ,,]
४.	जातकर्म	शिशुजन्म के समय किया जाने वाला संस्कार जिसमें सोने की शलाका से बालक को असमान मात्रा में थोड़ा-सा मधु और घृत चटाया जाता है।	[२।४ में]

५.	नामकरण	जन्म के १० वें, बारहवें या किसी भी सुखमय दिन में बालक का नाम रखना।	[२।५–८ में]
६.	निष्क्रमण	अधिक से अधिक चतुर्थ मास में बालक को घर से बाहर भ्रमण कराने के लिए निकालना प्रारम्भ करना।	[२।६ में]
७.	अन्नप्राशन	लगभग छठे मास में बालक को अन्न आदि सुपाच्य पौष्टिक भोजन का प्रारम्भ कराना।	[२।६ में]
८.	मुण्डन (चूडाकर्म)	प्रथम या तृतीय वर्ष में बालक का मुण्डन संस्कार कराना अर्थात् प्रथम वार सिर के केश उतारना।	[२।३५ में]
९.	उपनयन	बालक को शिक्षा के लिए गुरु के समीप गुरुकुल में ले जाकर छोड़ना और गुरु द्वारा उसे यज्ञोपवीत की दीक्षा देना।	[२।११–४३ में]
१०.	वेदारम्भ	गुरु के पास रहकर श्रेष्ठ शिक्षा-दीक्षा ग्रहण करते हुए वेदों को पढ़ना।	[२।४४–२२४ में]
११.	केशान्त	युवावस्था के प्रारम्भ में केशकर्त्तन कराना।	[२।४०]
१२.	समावर्तन	वेदों का अध्ययन और शिक्षा प्राप्त करके गृहाश्रम को धारण करने के लिए स्नातक बनकर गुरुकुल को छोड़ घर में आना।	[३।१–३ में, २।२२०–२२२ भी द्रष्टव्य]
१३.	विवाह	गृहस्थाश्रम में जाने के लिए स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध होना (२५ वर्ष की आयु के पश्चात्)।	[३।४–६२ में]
	एवं गृहाश्रम संस्कार	विवाहोपरान्त गृहस्थ के धर्म और कृत्यों का पालन करते हुए सन्तानोत्पत्ति करना।	[३।६७–२८६, सम्पूर्ण चतुर्थ और पंचमअध्यायों में]
१४.	वानप्रस्थ	सन्तानों के स्वावलम्बी होने पर या ५०। वर्ष की आयु के पश्चात् घर को त्याग कर वन में रहते हुए तपस्या एवं ईश्वरभक्ति करना। वनस्थ की दीक्षा लेने का संस्कार।	[६।१–३२ में]

१५.	संन्यास	सांसारिक भोग आदि की भावनाओं का और सर्वस्व का त्याग करके, पूर्ण वैरागी बन, परोपकारार्थ विचरण करने की दीक्षा लेना तथा ब्रह्म में लीन रहकर मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना।	[६।३३–९७ में, १२।८२–१२५ भी द्रष्टव्य]
१६.	अन्त्येष्टि	प्राणों के निकल जाने पर शरीर का दाहकर्म होना।	[५।१६७ में]

(४) **'एनः' का अर्थ**—एनः का अर्थ यहां पापक्षीणता नहीं है अपितु 'बुरे आचरण से उत्पन्न दुष्ट संस्कार' यह अर्थ है। **'ईयते प्राप्यते दुःखम् अनेन इति एनः अधर्माचरणम् तज्जन्यः संस्कारदोषः शरीराशुद्धिश्च ।'** 'इण्गतौ' धातु से 'इणः आगसि' (उणादि ४।१९८) सूत्र से असुन् प्रत्यय और नुडागम से 'एनस्' शब्द सिद्ध होता है। इसकी पुष्टि २।७७ [२।१०२] श्लोक से भी हो जाती है। वहाँ 'एनस्' के प्रयोग के साथ 'मलम्' का भी पर्यायवाची रूप में प्रयोग है जिसका अर्थ संस्कारदोष की मलिनता का नष्ट हो जाना है।

वेदाध्ययन, यज्ञ, व्रत आदि से ब्रह्म की प्राप्ति—

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ ३ ॥ [२।२८] (३)

"(स्वाध्यायेन) सकल विद्या पढ़ने-पढ़ाने (व्रतैः) ब्रह्मचर्य सत्यभाषणादि नियम पालने (होमैः) अग्निहोत्रादि होम, सत्य का ग्रहण, असत्य का त्याग और सब विद्याओं का दान देने (त्रैविद्येन) वेदस्थ कर्म-उपासना-ज्ञान विद्या के ग्रहण (इज्यया) पक्षेष्टयादि करने (सुतैः) सुसन्तानोत्पत्ति (महायज्ञैः) ब्रह्म, देव, पितृ, वैश्वदेव और अतिथियों के सेवन रूप पंचमहायज्ञ और (यज्ञैः) अग्निष्टोमादि तथा शिल्पविद्याविज्ञानादि यज्ञों के सेवन से (इयं तनुः) इस शरीर को (ब्राह्मी क्रियते) ब्राह्मी अर्थात् वेद और परमेश्वर की भक्ति का आधार रूप ब्राह्मण का शरीर बनता है। इतने साधनों के बिना ब्राह्मण-शरीर नहीं बन सकता" ॥ ३ ॥ (स० प्र० ४८)

"(स्वाध्यायेन) पढ़ने-पढ़ाने (जपैः) विचार करने-कराने, नानाविध होम के अनुष्ठान, सम्पूर्ण वेदों को शब्द, अर्थ, सम्बन्ध, स्वरोच्चारणसहित पढ़ने-पढ़ाने (इज्यया) पौर्णमासी इष्टि आदि के करने, पूर्वोक्त विधिपूर्वक (सुतैः) धर्म से सन्तानोत्पत्ति (महायज्ञैः च) पूर्वोक्त ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, वैश्वदेवयज्ञ और अतिथियज्ञ (यज्ञैश्च) अग्निष्टोमादि यज्ञ, विद्वानों का

अंग-संस्कार, सत्यभाषण, परोपकारादि सत्कर्म और सम्पूर्ण शिल्पविद्यादि पढ़के दुराचार छोड़ श्रेष्ठाचार में वर्तने से (इयम्) यह (तनुः) शरीर (ब्राह्मी) ब्राह्मण का (क्रियते) किया जाता है।" (स० प्र० ८६)

"मनुष्यों को चाहिए कि धर्म से वेदादिशास्त्रों का पठन-पाठन, गायत्रीप्रणवादि का अर्थ विचार, ध्यान, अग्निहोत्रादि होम, कर्म-उपासना ज्ञानविद्या, पौर्णमास्यादि इष्टि, पंचमहायज्ञ, अग्निष्टोम आदि, न्याय से राज्यपालन, सत्योपदेश और योगाभ्यासादि उत्तम कर्मों से इस शरीर को (ब्राह्मी) अर्थात् ब्रह्मसम्बन्धी करें। (सं० वि० १८१)

जातकर्म संस्कार का विधान—

प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते ।
मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम् ॥ ४ ॥ [२।२९] (४)

(पुंसः) बालक का (जातकर्म) जातकर्म संस्कार (नाभिवर्धनात्-प्राक्) नाभि काटने से पहले (विधीयते) किया जाता है (च) और इस संस्कार में (अस्य) इस बालक को (मन्त्रवत्) मन्त्रोच्चारणपूर्वक (हिरण्य-मधु-सर्पिषाम्) सुवर्ण, शहद और घी अर्थात् सोने की शलाका से [असमान मात्रा में] शहद और घी (प्राशनम्) चटाया जाता है ॥ ४ ॥

अनुशीलन : 'वर्धन' शब्द का विवेचन—(१) 'वर्धनम्' शब्द 'वर्ध छेदनपूरणयोः' धातु से ल्युट् प्रत्यय के योग से बना है, अतः उसका अर्थ 'काटना' है। बालक के उत्पन्न होने के पश्चात् नाभि काटने से पूर्व इस संस्कार की श्लोकोक्त प्रक्रिया सम्पन्न की जाती है। बालक के उत्पन्न होने पर, प्रथम गर्भाशय की झिल्ली से उसके नाभिस्थ नाल को पृथक् किया जाता है, नाल के सिरे को बांध दिया जाता है। पुनः नाभि से कुछ इंच छोड़कर उस नाल को दो स्थानों से अच्छी प्रकार बांधा जाता है, जिससे कि बालक का रक्त न बहे। शेष भाग को काटकर पृथक् कर दिया जाता है। इसी को 'नाभिवर्धन' क्रिया कहते है। इस क्रिया से पूर्व शहद और घी चटाना विहित है। दूसरा इसका अभिप्राय यह है कि नाभिवर्धन से पूर्व जातकर्म संस्कार प्रारम्भ किया जाता है। प्रसव-समय निकट आने पर बालक का पिता प्रसूता पर जल प्रोक्षण करता है [द्रष्टव्य पार० गृ० सू० १।१६।१; गो० गृ० सू० २।७।१३-१७] उस समय पुरोहित यज्ञ-स्थल पर बैठकर पुण्याहवाचन करता है।

(२) महर्षि दयानन्द ने संस्कारविधि में इस प्रक्रिया को इस प्रकार विहित किया है—

"तत्पश्चात् घी और मधु दोनों बराबर मिलाके जो प्रथम सोने की शलाका

कान में "वेदोसीति"—तेरा गुप्त नाम वेद है, ऐसा सुनाके पूर्व मिलाये हुए घी और मधु को उस सोने की शलाका से बालक को नीचे लिखे मन्त्र से थोड़ा-थोड़ा चटावे।" (सं० वि० ४७)

ओं प्र ते ददामि मधुनो घृतस्य वेद सवित्रा प्रसूतं मघोनाम्।
आयुष्मान् गुप्तो देवताभिः शतं जीव शरदो लोके अस्मिन्॥
[आश्व गृ० सू० १।५१।१] (सं० वि० ४०)

(२) **जातकर्म में गृह्यसूत्रों के प्रमाण**—

गृह्यसूत्रों ने मनुविहित विधि को ही ग्रहण किया है। आश्वलायन गृह्यसूत्र १।१५।१ में जातकर्म में निम्न विधान वर्णित है—

"कुमारं जातं पुराऽन्यैरालम्भात् सर्पिमधुनी हिरण्यनिकाषं हिरण्येन प्राशयेत्॥"

अर्थात्—बालक के जन्म के पश्चात् दूसरों के हाथों में देने से पूर्व उसे स्वर्णपात्र में मिलाकर सोने की शलाका से शहद और घी चटाये।

नामकरण संस्कार—

नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वाऽस्य कारयेत्।
पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते॥५॥ [२।३०] (५)

(अस्य) इस बालक का (नामधेयं तु) नामकरण संस्कार (दशम्यां वा द्वादश्याम्) दशवें वा बारहवें दिन (वा) अथवा (पुण्ये तिथौ वा मुहूर्ते, किसी भी पुण्य=अनुकूल अर्थात् सुविधाजनक तिथि या मुहूर्त में (वा) अथवा (गुणान्विते नक्षत्रे) शुभगुण वाले नक्षत्र में (कारयेत्) करावे॥५॥

अनुशीलन : नामकरण में गृह्यसूत्रों के प्रमाण— गृह्यसूत्रों में नामकरण की विधि कुछ परिवर्तन के साथ मिलती है—

(क) **"नाम चास्मै दद्युः। घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थमभिनिष्ठानान्तं द्व्यक्षरम्। चतुरक्षरं वा। युग्मानि त्वेव पुंसाम्। अयुजानि स्त्रीणाम्॥"**

(आश्व० गृह्य० १।१५।४–१०।)

(ख) **"दशम्यामुत्थाप्य पिता नाम करोति। द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थं दीर्घाभिनिष्ठानान्तं कृतं कुर्यात् न तद्धितम् अयुजाक्षरम्-आकारान्तं स्त्रियै।"** (पार० गृह्य० १।१७।१–४)

भावार्थ—दशवें दिन पिता नामकरण संस्कार कराता है। बालक का नाम दो अक्षर का या चार अक्षर का हो और वह घोषसंज्ञक अर्थात् पांचों वर्गों के दो-दो अक्षर छोड़ के तीसरे, चौथे, पांचवें [ग, घ, ङ, ज, झ, ञ, ड, ढ, ण, द, ध,-न, ब, भ, म, ये स्पर्श] और अन्तस्थ अर्थात् य, र, ल, व से युक्त, दीर्घस्वरान्त नाम रखे। और नाम कृदन्त रखें तद्धितान्त नहीं। विषमाक्षर और आकारान्त नाम स्त्रियों के होने चाहिए।

(ग) महर्षि दयानन्द ने नामकरण का निम्न काल दिया है—

नामकरण का काल—"जिस दिन जन्म हो, उस दिन से लेके १० दिन छोड़ ११ में या १०१ एक सौ एक में अथवा दूसरे वर्ष के आरम्भ में जिस दिन जन्म हुआ हो नाम धरे"। (सं० वि० नामकरण संस्कार)

वर्णानुसार नामकरण—

मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्यबलान्वितम्।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ॥६॥ [२।३१] (६)

शर्मवद्ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम्।
वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम् ॥७॥ [२।३२] (७)

(ब्राह्मणस्य मङ्गल्यं स्यात्) ब्राह्मण का नाम शुभत्व-श्रेष्ठत्व भाव-बोधक शब्दों से [जैसे—ब्रह्मा, विष्णु, मनु, शिव, अग्नि, वायु, रवि, आदि] रखना चाहिए (क्षत्रियस्य) क्षत्रिय का (बल+अन्वितम्) बल-पराक्रम-भावबोधक शब्दों से [जैसे—इन्द्र, भीष्म, भीम, सुयोधन, नरेश, जयेन्द्र, युधिष्ठिर आदि] (वैश्यस्य धनसंयुक्तम्) वैश्य का धन-ऐश्वर्य भाव-बोधक शब्दों से [जैसे—वसुमान्, वित्तेश, विश्वम्भर, धनेश आदि] और (शूद्रस्य तु) शूद्र का (जुगुप्सितम) रक्षणीय, पालनीय भावबोधक शब्दों से [जैसे—सुदास, अकिंचन] नाम रखना चाहिए। अर्थात् व्यक्ति के **वर्णसापेक्ष गुणों** के आधार पर नामकरण करना चाहिए ॥६॥

[अथवा] (ब्राह्मणस्य शर्मवद् स्यात्) ब्राह्मण का नाम शर्मवत्=कल्याण, शुभ, सौभाग्य, सुख, आनन्द, प्रसन्नता भाव वाले शब्दों को जोड़कर रखना चाहिए। जैसे—देवशर्मा, विश्वामित्र, वेदव्रत, धर्मदत्त, आदि] (राज्ञः रक्षासमन्वितम्) क्षत्रिय का नाम रक्षक भाव वाले शब्दों को जोड़कर रखना चाहिए [जैसे—महीपाल, धनञ्जय, धृतराष्ट्र, देववर्मा, कृतवर्मा] (वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तम्) वैश्य का नाम पुष्टि-समृद्धि द्योतक शब्दों को जोड़कर [जैसे—धनगुप्त, धनपाल, वसुदेव, रत्नदेव, वसुगुप्त] और (शूद्रस्य) शूद्र का नाम (प्रेष्यसंयुतम्) सेवकत्व भाववाले शब्दों को जोड़कर रखना चाहिए [जैसे—देवदास, धर्मदास, महीदास।] अर्थात् व्यक्तियों के [illegible] कार्यों के आधार पर नामकरण करना चाहिए ॥७॥※

※[प्रचलित अर्थ—ब्राह्मण का मङ्गल-सूचक शब्द से युक्त, क्षत्रिय का बल-सूचक शब्द से युक्त, वैश्य का धन-वाचक शब्द से युक्त और शूद्र का निन्दित शब्द से युक्त नामकरण करना चाहिए ॥२।३१॥ ब्राह्मण का 'शर्मा' शब्द से युक्त, क्षत्रिय का रक्षा से युक्त, वैश्य का पुष्टि शब्द से युक्त और शूद्र का प्रेष्य (दास) शब्द से युक्त उपनाम (उपाधि) करना चाहिए ॥२।३२॥]

"जैसे ब्राह्मण का नाम विष्णुशर्मा, क्षत्रिय का विष्णुवर्मा, वैश्य का विष्णुगुप्त और शूद्र का विष्णुदास, इस प्रकार नाम रखना चाहिये। जो कोई द्विज शूद्र बनना चाहे तो अपना नाम दास शब्दान्त धर ले।"

(ऋ० प० वि० ३४९)

अनुशीलन : ६, ७ श्लोकों के संगत अर्थ—प्रचलित टीकाओं में इन दोनों श्लोकों के अर्थों में निम्न त्रुटियां पायी जाती हैं—

(१) प्रचलित टीकाओं में इन दोनों श्लोकों का जिस पद्धति से अर्थ किया गया है उससे दोनों श्लोकों का अन्तर स्पष्ट नहीं होता। इन टीकाओं के अर्थ के अनुसार पहले श्लोक में चारों वर्णों का क्रमशः मङ्गलयुक्त, बलयुक्त, धनयुक्त और निन्दायुक्त नाम रखने का विधान है और द्वितीय में शर्मायुक्त, रक्षायुक्त, पुष्टियुक्त और दासयुक्त नाम रखने का कथन है। यहां सन्देह होता है कि पहले और दूसरे श्लोकों में ये भिन्न-भिन्न विधान क्यों हैं? तथा यह शङ्का होती है कि इस प्रकार के शब्दों को संयुक्त करके नाम रखने की परम्परा प्राचीन काल में अधिक नहीं मिलती। स्वयं मनु का नाम भी इस परम्परा के अनुसार नहीं है और दूसरा कोई विधान मनु ने दिया नहीं है, यह विरोध क्यों? इन अर्थों के अनुसार दूसरे श्लोक में एकरूपता नहीं बनती। शर्मा और दास तो उपाधियाँ मान लीं तथा रक्षा और पुष्टि को भाव मानकर अर्थ किया है। या तो सभी वर्णों के साथ उपाधियों का ही कथन होना चाहिए था या भावों का ही।

(२) कुछ टीकाकारों ने द्वितीय श्लोक में 'शर्मवद्' का अर्थ—'शर्मा' उपाधिधारी, 'रक्षासमन्वितम्' का 'वर्मा' उपाधिधारी और 'पुष्टिसंयुक्तम्' का 'गुप्त' उपाधिधारी तथा 'प्रैष्यसंयुतम्' का दास उपाधिधारी नामकरण, यह भ्रान्तिपूर्ण अर्थ किया है।

(३) प्रायः सभी टीकाकारों ने 'जुगुप्सितम्' शब्द का 'निन्दायुक्त' यह अशुद्ध और मनुविरुद्ध अर्थ किया है।

इन त्रुटियों का निराकरण निम्नप्रकार से किया जा सकता है—

(१) वस्तुतः इन श्लोकों में विकल्प पूर्वक दो विधान हैं और दोनों में पर्याप्त अन्तर है। इन विधानों में दो प्रकार से भिन्नता है—

(क) प्रथम श्लोकमें इच्छित वर्णानुसार व्यक्तिपरक गुणों या प्रवृत्तियों के आधार पर नामकरण करने का विधान है। जैसे ब्राह्मण वर्ण के लोगों में शुभत्व और श्रेष्ठत्व के गुण होते हैं अतः उसी प्रकार के भावबोधक शब्दों से उनका नामकरण करना चाहिए क्षत्रिय वर्ण के लोगों में बल-पराक्रम प्रधान गुण होना चाहिए, अतः उनका नामकरण भी ऐसे शब्दों से करना चाहिए जिनमें इन भावों का आभास हो। इसी प्रकार वैश्यों में धनयुक्त होना उनका मुख्य गुण होता है, अतः उनका नाम भी धनवान्-ऐश्वर्यवान् होने के भावों को प्रकट करने वाले शब्दों द्वारा होना चाहिये। इसी प्रकार शूद्र द्विजों के आश्रय में रहता है, उन्हीं के आश्रय से उसका पालन एवं रक्षा होती है। अतः उसका

नामकरण ऐसे शब्दों से किया जाना चाहिए जिनमें उसके रक्षणीय और पालनीय होने के भाव झलकें।

दूसरे श्लोक में व्यक्तियों के वर्णगत कर्मों के आधार पर नामकरण करने का विधान है, जैसे ब्राह्मण का कार्य उपकार द्वारा लोगों का कल्याण करना, विद्यादान द्वारा सुख देना आदि तो उसके नाम में भी इस प्रकार के भावों का बोधक शब्द जोड़ने का कथन है। इसी प्रकार क्षत्रिय का कार्य रक्षा करना, वैश्य का पालन-पोषण करना, शूद्र का सेवा करना है तो उनके नामों के साथ भी तत्तत् भावबोधक शब्दों को जोड़ने का विधान है। शुभ-श्रेष्ठ, बलवान्, धनवान् होना, और आश्रित या रक्ष्य होना, ये वर्णों के व्यक्तिसापेक्ष गुण या प्रवृत्तियां हैं और सुखी बनाना, कल्याण करना, रक्षा करना, पालन-पोषण करना, सेवा करना, ये व्यक्तियों के वर्णगत कार्य हैं। इस प्रकार प्रथम श्लोक में गुण और प्रवृत्ति के अनुसार नामकरण करने का विधान है और द्वितीय में कार्यानुसार।

(ख) दूसरा अन्तर यह है कि प्रथम श्लोक में गुण या प्रवृत्ति का बोध करने वाले शब्दों से ही नाम रखने का विधान है जबकि दूसरे श्लोक में कार्यानुसारी भाव को प्रकट करने वाले शब्दों को नाम के साथ जोड़ने का कथन है। दोनों ही प्रकार की परम्परा प्राचीनकाल में चलती रही है। इनके उदाहरण श्लोकों के अर्थों के साथ दर्शाये जा चुके हैं। इस प्रकार अर्थ की स्पष्टता से सभी सन्देहों, शंकाओं व त्रुटियों का निराकरण हो जाता है।

(२) जिन टीकाकारों ने 'शर्मवत्, शब्द को शाब्दिक रूप में ग्रहण करके शर्मा, वर्मा, गुप्त और दास उपाधि-संयुक्त करने सम्बन्धी अर्थ किया है, उन्होंने इस श्लोक के अर्थ को संकुचित बना दिया है और ठीक प्रकार से नही समझा है। शायद उन्हें यह भ्रान्ति इस लिये हो गयी है कि अर्वाचीन युग में केवल इन्हीं शब्दों का प्रयोग परम्परा में अधिक प्रचलित रहता रहा है। इस श्लोक में 'शर्मवत्, से अभिप्राय 'शर्मा' शब्द लगाने से नहीं है अपितु इस भाव का कोई भी शब्द नाम के साथ जोड़ने से है। यहां इन शब्दों को शाब्दिक रूप में नहीं लेना चाहिये अपितु इनके भाव को ग्रहण करना चाहिए। इस बात में श्लोकोक्त 'रक्षा' और 'पुष्टि' भाववाचक शब्दों का प्रयोग प्रत्यक्ष प्रमाण है। यदि मनु को यहां 'शर्मा' शब्द अभीष्ट होता तो वे क्षत्रिय के साथ 'रक्षा' शब्द का उल्लेख न करके 'वर्मा' शब्द का ही उल्लेख करते। इसी प्रकार वैश्य के साथ 'गुप्त' का; किन्तु उन्होंने इन शब्दों को भाववाचक रूप में ग्रहण किया है, जिसका अभिप्राय यह हुआ कि उक्त भावों वाले किन्हीं भी शब्दों को नाम के साथ जोड़े। उनमें शर्मा, वर्मा, गुप्त, दास भी अन्तर्गत हो जाते हैं। केवल इन्हीं शब्दों को जोड़ें ऐसा अभिप्राय नहीं है जैसे—ब्राह्मण के नाम में शर्मा जोड़कर देवशर्मा भी रखा जा सकता है और मित्र, प्रिय आदि जोड़कर देवमित्र, देवप्रिय आदि भी। इसी प्रकार क्षत्रिय के नाम में वर्मा जोड़कर प्रतापवर्मा भी रखा जा सकता है और इन्द्र, पाल, निधि आदि जोड़कर प्रतापेन्द्र, विजयेन्द्र, महीपाल, बलनिधि आदि भी। इस प्रकार इस श्लोक का व्यापक भाव है।

उसे संकुचित करना भ्रान्तिपूर्ण है।

(६) **जुगुप्सित का संगत अर्थ**—प्रथम श्लोक में 'जुगुप्सितम्' शब्द का 'निन्दा या 'घृणायुक्त' अर्थ करना भी उचित नहीं है। यह शब्द 'गुपु-रक्षणे' धातु से स्वार्थ में 'सन्' प्रत्यय के योग से बना है। स्वार्थ में होनेवाले प्रत्यय का अपना कोई विशेष अर्थ नहीं होता अपितु धातु के मूलार्थ का ही बोध कराता है। अतः 'गुप्' धातु के 'रक्षा करने' अर्थ के अनुसार यहां 'जुगुप्सितम्' का रक्षणीय, पालनीय, आश्रय देने योग्य भाव वाला यह अर्थ बनता है। इस शब्द का यही मूलार्थ है। निन्दावाचक अर्थ भी प्रचलित है किन्तु वह प्रचलन की दृष्टि से परवर्ती है। 'जुगुप्सा' शब्द का आज निन्दा, घृणा आदि अर्थ अधिक प्रचलित है। इसलिए हमारे मन में यही अर्थ पहले बैठ जाता है, किन्तु मनुस्मृति के श्लोक में यह अर्थ अभिप्रेत न होकर 'रक्षणीय' अर्थ अभीष्ट है। यही अर्थ मनुस्मृति की व्यवस्थाओं के अनुरूप है, यतो हि मनु ने शूद्र को जो सब वर्णों की सेवा का कार्य सौंपा है (१। ६१) और वह उन्हीं के आश्रय से या उन्हीं की सुरक्षा में अपना निर्वाह करता है (१। ६१, ९। ३३४, १०। ९९)। इस शब्द का निन्दा अर्थ न होने में एक और प्रमाण यह है कि मनुस्मृति में शूद्र के प्रति घृणा या निन्दा की भावना कहीं नहीं है अपितु उसकी स्वल्पयोग्यता के अनुसार निर्लिप्त भाव से उसके कर्मों का कथन है और उसे शुद्ध-श्रेष्ठ और उत्तम गति के योग्य माना है (९। ३३५) अगले श्लोक में 'प्रेष्य-संयुतम्' शब्द से भी किसी प्रकार का निन्दा-घृणारूप भाव प्रकट न होकर शूद्र के 'सेवकत्व' रूप कर्म का संकेत है। अतः यहां 'जुगुप्सितम्' का 'निन्दायुक्त' अर्थ करना मनुसम्मत और उचित नहीं है।

स्त्रियों के नामकरण की विधि—

स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम्।
मंगल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत्॥ ८॥ [२।३३](८)

(स्त्रीणाम्) स्त्रियों का नाम (सुखोद्यम्) उच्चारण किया जा सकने वाला (अक्रूरम्) कोमल वर्णों वाला (विस्पष्टार्थम्) स्पष्ट अर्थ वाला (मनोहरम्) मन को आकर्षक लगने वाला (मंगल्यम्) मंगल अर्थात् शुभ-भावयुक्त (दीर्घवर्णान्तम्) अन्त में दीर्घ अक्षर वाला, तथा (आशीर्वाद+अभिधान-वत्) आशीर्वाद का वाचक होना चाहिये [जैसे—कल्याणी, वन्दना, विद्यावती, कमला, विमला, सुशीला, सुषमा, भाग्यवती, सावित्री, यशोदा, प्रियंवदा आदि] ॥ ८ ॥

"जो स्त्री हो तो एक, तीन वा पांच अक्षर का नाम रखे श्री, ह्री, यशोदा, सुखदा, सौभाग्यप्रदा इत्यादि।" (सं० वि० नामकरण सं०)

निष्क्रमण और अन्नप्राशन संस्कार—

चतुर्थे मासि कर्त्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात्।
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले॥ ९॥ [२।३४](९)

(शिशोः) बालक का (गृहात् निष्क्रमणम्) घर से बाहर निकालने का 'निष्क्रमण संस्कार' (चतुर्थे मासि) चौथे मास में (कर्त्तव्यम्) करना चाहिए और (अन्नप्राशनम्) अन्न खिलाने का संस्कार—'अन्नप्राशन' (षष्ठे मासि) छठे मास में (वा) अथवा (यत् कुले इष्टं मंगलम्) जब भी परिवार में अभीष्ट अथवा शुभ समय प्रतीत हो, तब करे ॥ ९ ॥

"निष्क्रमण संस्कार उस को कहते हैं कि जो बालक को घर से जहां का वायुस्थान शुद्ध हो वहां भ्रमण कराना होता है। उसका समय जब अच्छा देखे तभी बालक को बाहर घुमावें अथवा चौथे मास में तो अवश्य भ्रमण करावें।" (सं० वि० ५५)

अनुशीलन : निष्क्रमण और अन्नप्राशन म गृह्यसूत्रों के प्रमाण—इन संस्कारों के विषय में गृह्यसूत्रों में निम्न उल्लेख मिलता है—

(क) "चतुर्थे मासि निष्क्रमणिका सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति।"
(पार० गृह्य० १।७५।५-६)

=चतुर्थ मास में निष्क्रमण संस्कार करे। बालक को बाहर ले जाकर सूर्यदर्शन कराये।

(ख) "जननाद्यास्तृतीयो ज्यौत्स्नस्तस्य तृतीयायाम्।" (गो० गृह्य० ५।८।१)

=या फिर जन्म के पश्चात् तीसरे शुक्लपक्ष की तृतीया को निष्क्रमण करे।

(ग) "षष्ठे मासि अन्नप्राशनम्। दधिमधुघृतमिश्रितमन्नं प्राशयेत्।"
(आश्व० गृह्य० १।१६।१-५)

=छठे मास में बालक को अन्नप्राशन कराये और दही, शहद, घी मिश्रित भोजन चटाये।

"छठे महीने बालक को अन्नप्राशन करावे।" (सं० वि० ५८)

मुण्डन संस्कार—

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्त्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥१०॥ [२।३५] (१०)

(सर्वेषाम्+एव द्विजातीनां चूडाकर्म) सभी द्विजातियों=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्णों के इच्छुकों का [माता-पिता की इच्छा के आधार पर यह प्रयोग है] चूडाकर्म=मुण्डन संस्कार (धर्मतः) धर्मानुसार (श्रुतिचोदनात्) वेद की आज्ञानुसार (प्रथमे+अब्दे) प्रथम वर्ष में (वा तृतीये) अथवा तीसरे वर्ष में [अपनी सुविधानुसार] (कर्त्तव्यम्) कराना चाहिए ॥ १० ॥

"यह चूडाकर्म अर्थात् मुण्डन बालक के जन्म से तीसरे वर्ष वा एक

वर्ष में करना। उत्तरायणकाल शुक्लपक्ष में जिस दिन आनन्दमंगल हो उस दिन यह संस्कार करें।" (सं० वि० ६०)

अनुशीलन : चूडाकर्म में प्रमाण—गृह्यसूत्रों में चूडाकर्म अर्थात् मुण्डन का यही काल विहित है—

(क) "तृतीये वर्षे चौलम्।" (आश्व० गृह्य० १।१७।१)

=तृतीय वर्ष में मुण्डन संस्कार किया जाता है।

(ख) "सांवत्सरिकस्य चूडाकरणम्।" (पार० गृह्य० २।१।१)

=एक वर्ष के बालक का मुण्डन किया जाता है।

उपनयन संस्कार का सामान्य समय—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥११॥ [२।३६](११)

(ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण वर्ण के इच्छुक का [माता-पिता की इच्छा के आधार पर प्रयोग है] (उपनायनम्) उपनयन=गुरु के पास पंहुचाना अर्थात् यज्ञोपवीत संस्कार (गर्भाष्टमे+अब्दे) गर्भ से आठवें वर्ष में (कुर्वीत) करे, (राज्ञः) क्षत्रिय वर्ण के इच्छुक का (गर्भात्+एकादशे) गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में, और (विशः) वैश्य वर्ण के इच्छुक का (गर्भात् द्वादशे) गर्भ से बारहवें वर्ष में उपनयन संस्कार करना चाहिए ॥११॥ ❁

अनुशीलन : (१) 'ब्राह्मणस्य' आदि पदों का मनुसम्मत अर्थ—

(क) ११-१३ श्लोकों में 'ब्राह्मणस्य' आदि पदों का प्रचलित टीकाओं में ब्राह्मण के बालक का, राज्ञः या क्षत्रियस्य=क्षत्रिय के बालक का, वैश्यस्य या विशः=वैश्य के बालक का, यह अर्थ मिलता है। यह अर्थ श्लोक के पदप्रयोग के विरुद्ध है और मनु की मान्यता के विरुद्ध भी। श्लोक के पदों में 'बालक' अर्थ देने वाला कोई पद नहीं है जिससे कि 'ब्राह्मण के बालक' आदि अर्थ किये जायें। इसी प्रकार मनु कर्मणा वर्ण-व्यवस्था मानते हुए कर्मणा वर्ण-परिवर्तन मानते हैं [देखिए १०।६५॥१।८७-९१।१।१०७ श्लोक और उन पर समीक्षा]। इन अर्थों से ऐसा प्रतिभासित होता है जैसे जन्म के आधार पर वर्णप्रवेश है और वह भी ब्राह्मण का ब्राह्मण वर्ण में, क्षत्रिय का क्षत्रिय वर्ण में, वैश्य का वैश्य वर्ण में। यह उक्त मान्यता से मेल नहीं खाता।

(ख) यहां ये पद वस्तुतः जातिवाचक न होकर वर्णसंज्ञावाचक हैं। जिनका अर्थ है 'ब्राह्मण—वर्ण का दीक्षाकाल' 'क्षत्रियवर्ण का दीक्षाकाल' आदि। मनुसम्मत मान्यता

❁ [प्रचलित अर्थ—ब्राह्मण-बालक का गर्भ से आठवें वर्ष में, क्षत्रिय-बालक का गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में और वैश्य-बालक का गर्भ से बारहवें वर्ष में 'उपवीत' (यज्ञोपवीत) संस्कार करना चाहिये ॥३६॥

के आधार पर अध्याहार से इनका अर्थ 'ब्राह्मण वर्ण को धारण करने के इच्छुक का' आदि अर्थ किये गये हैं। इस अर्थ का संकेत मनु के **'ब्रह्मवर्चसकामस्य'** [२।१२] आदि पदों से भी प्राप्त होता है। इस अर्थ की व्यापकता के अन्तर्गत दोनों प्रकार के भावों का समावेश हो जाता है। जो वंशपरम्परानुसार अपने वर्ण में दीक्षा दिलाना चाहे वह भी इस व्यवस्थानुसार दीक्षा करा सकता है और जो परिवर्तनपूर्वक अपने बालक को दूसरे वर्ण में दीक्षित कराना चाहे तो, वह भी उस निर्धारित समय-व्यवस्थानुसार करा सकता है।

(ग) यहां यह शंका हो सकती है कि इतने अल्पवयस्क बच्चों के साथ 'इच्छुक' पद का सम्बन्ध नहीं बनता? इसका स्पष्ट-सा उत्तर है कि माता-पिता की इच्छा के आधार पर ये प्रयोग हैं। प्रारम्भ में माता-पिता अपने बच्चे को जैसा बनाना चाहते हैं उसी के अनुसार सभी संस्कार करते हैं। पुनः उसकी शिक्षा-दीक्षा को परखकर वर्ण का अन्तिम निश्चय आचार्य करता है [२।१२१ (१४६), १२३ (१४८)]। देखिए मनु ने इसी व्यवहार के आधार पर पांच वर्ष के बालक के लिए **'ब्रह्मवर्चसकामस्य'** **'बलार्थिनः**, **'वैश्यस्य इह अर्थिनः'** [२।१२] पदों का प्रयोग किया है, जबकि इतने अल्पवय बालकों को ब्रह्मवर्चसकामना आदि की इच्छा, गम्भीरता एवं परिणाम का ज्ञान नहीं होता। इस प्रमाण के आधार पर प्रस्तुत भाष्य का अर्थ भी मनु के वर्णनानुरूप ही है।

(२) **उपनयन में शूद्र का उल्लेख क्यों नहीं**—११-१३ श्लोकों में मनु ने उपनयन संस्कार का विधान करते हुए शूद्र का उल्लेख नहीं किया। यहां प्रश्न उठता है कि यदि मनु कर्मणा वर्णव्यवस्था मानते हैं तो शूद्र का उल्लेख क्यों नहीं किया? इसका समाधान इस प्रकार है—

(क) इस प्रश्न में ही इसका उत्तर भी निहित है। उपनयन में शूद्र का उल्लेख न करने से यह संकेत मिलता है कि मनु उपनयन और वेदारम्भ की दीक्षा से पूर्व किसी को जन्म से शूद्र नहीं मानते। यह द्विज-दीक्षा का संस्कार है और वे द्विज तीन ही प्रकार के होते हैं। जो व्यक्ति जिस वर्ण की दीक्षा दिलाना चाहे वह इन तीनों में से उसी वर्ण में प्रवेश ले सकता है। पुनः शिक्षा-दीक्षा के उपरान्त आचार्य अन्तिम रूप से उनके वर्णों का निश्चय करता है [२।१२१ (१४६), १२३(१४८)]।

(ख) जो व्यक्ति इन तीनों वर्णों के गुणों को धारण नहीं कर सकता और वेदारम्भ तथा उपनयन रूपी ब्रह्मजन्म को ग्रहण नहीं कर सकता वह शूद्र रह जाता है। उपनयन से पूर्व अर्थात् द्विजजन्म से पूर्व सभी वर्णों के बालक शूद्र ही होते हैं—'जन्मना जायते शूद्रः, संस्काराद् द्विज उच्यते'। इस प्रकार कोई भी बालक किसी वर्ण में दीक्षित हो सकता है। मनु ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

चतुर्थः एकजातिस्तु शूद्रः ॥१०।४॥

इस प्रकार उपनयन आदिसे पूर्व शूद्र का कोई निर्धारण न होने से उसके उल्लेख

की आवश्यकता नहीं रहती। द्विजों के 'पतित' या 'शूद्र' होने की स्थिति बाद में आती है। [२।१४–१५ (३९-४०)]।

(ग) मनु जन्मना वर्णव्यवस्था नहीं मानते, इसकी पुष्टि में यह भी एक प्रबल युक्ति है कि मनु ने यहां शूद्र के उपनयन का निषेध नहीं किया। अगर वे जन्मना शूद्र की स्थिति और वर्णव्यवस्था मानते तो यहां पृथक् से निषेध करते। [द्रष्टव्य १।३१, ८७-९१, १०७॥१०।६५ की कर्मणाव्यवस्था-सम्बन्धी समीक्षा]

(३) गृह्यसूत्रों में भी उपनयन का विधान मनु के अनुसार है, यथा—

"**अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत्। १। गर्भाष्टमे वा। २। एकादशे क्षत्रियम्। ३। द्वादशे वैश्यम्। ४।** (आश्वलायन गृह्यसूत्र)—जिस दिन जन्म हुआ हो अथवा जिस दिन गर्भ रहा हो उससे आठवें वर्ष में ब्राह्मण के, जन्म वा गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय के और जन्म वा गर्भ से बारहवें वर्ष में वैश्य के बालक का यज्ञोपवीत करें॥"

(सं० वि० ६५)

उपनयन का विशेष समय—

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे॥१२॥ [२।३७](१२)

(इह ब्रह्मवर्चस-कामस्य) इस संसार में जिसको ब्रह्मतेज=ईश्वर, विद्या आदि की शीघ्र एवं अधिक प्राप्ति की कामना हो, ऐसे (विप्रस्य) ब्राह्मण वर्ण की इच्छा रखने वाले का [माता-पिता की इच्छा के आधार पर प्रयोग है] उपनयन संस्कार (पञ्चमे कार्यम्) पांचवें वर्ष में ही करा देना चाहिये (इह बलार्थिनः राज्ञः) इस संसारमें बल-पराक्रम आदि क्षत्रिय-विद्याओं की शीघ्र एवं अधिक प्राप्ति की कामना वाले क्षत्रिय वर्ण के इच्छुक का (षष्ठे) छठे वर्ष में और (इह+अर्थिनः वैश्यस्य) इस संसार में धन-ऐश्वर्य की शीघ्र एवं अधिक कामना वाले वैश्य वर्णके इच्छुक का (अष्टमे) आठवें वर्ष में उपनयन संस्कार करा देना चाहिये॥ १२॥ ❀

"जिसको शीघ्र विद्या, बल और व्यवहार करने की इच्छा हो और बालक भी पढ़ने में समर्थ हुए हों तो ब्राह्मण के लड़के का जन्म वा गर्भ से पांचवें, क्षत्रिय के लड़के का जन्म वा गर्भ से छठे और वैश्य के लड़के का जन्म वा गर्भ से आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत करें।" (सं० वि० पृ० ६५)

❀ [**प्रचलित अर्थ**—वेदाध्ययन और ज्ञानाधिक्य आदि तेज के लिये ब्राह्मण-बालक का गर्भ से पांचवें वर्ष में, हाथी, घोड़ा और पराक्रम आदि प्राप्ति के लिये क्षत्रिय-बालक का गर्भ से छठे वर्ष में और अधिक धन तथा खेती आदि की प्राप्ति के लिये वैश्य-बालक का गर्भ से आठवें वर्ष में 'यज्ञोपवीत' संस्कार करना चाहिये॥ ३७॥]

अनुशीलन : श्लोकार्थ एवं मान्यता-सम्बन्धी समीक्षा ११ वें श्लोक पर देखिए।

उपनयन की अन्तिम अवधि—

आषोडशाद्ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते ।
आद्वाविंशात्क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः ॥१३॥ [२।३८] (१३)

(ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण वर्ण को धारण करने की इच्छा रखने वाले का (आ-षोडशात्) सोलह वर्ष तक (क्षत्रबन्धोः) क्षत्रिय वर्ण के इच्छुक का (आ-द्वाविंशात्) बाईस वर्ष तक (विशः) वैश्य वर्ण के इच्छुक का (आ-चतुर्विंशतेः) चौबीस वर्ष तक (सावित्री न+अतिवर्तते) यज्ञोपवीत का अतिक्रमण नहीं होता अर्थात् इन अवस्थाओं तक उपनयन संस्कार कराया जा सकता है ॥। १३ ॥ ❀

अनुशीलन : (१) श्लोकार्थ एवं मान्यता-सम्बन्धी समीक्षा ११ वें श्लोक पर देखिये।

(२) आश्वलायन गृह्यसूत्र में उपनयन काल के अतिक्रमण का विधान निम्न है—

"**आषोडशात् ब्राह्मणस्यानतीतकालः ॥ ५ ॥ आद्वाविंशात् क्षत्रियस्य, आचतुर्वि शाद्वैश्यस्य ॥ ६ ॥** (आश्व० गृह्यसूत्र १।१९।६)—ब्राह्मण के सोलह, क्षत्रिय के बाईस और वैश्य के बालक का चौबीस वर्ष से पूर्व-पूर्व यज्ञोपवीत होना चाहिये।"

(सं० वि० ६५)

उपनयन से पतित व्रात्यों का लक्षण—

अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः ।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः ॥१४॥ [२।३९] (१४)

(यथाकालम्+असंस्कृताः) निर्धारित समय पर संस्कार न होने पर (अतः+ऊर्ध्वम्) इस [२।१३] अवस्था के बीतने के बाद (एते त्रयः+अपि) ये तीनों [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य] ही (सावित्रीपतिताः) सावित्री-यज्ञोपवीत से पतित हुए (आर्यविगर्हिताः) आर्य=श्रेष्ठ व्यक्तियों द्वारा निन्दित (व्रात्याः भवन्ति) व्रात्या'=व्रत से पतित व्रात्यसंज्ञक कहलाते हैं ॥ १४ ॥

अनुशीलन : "**अतः ऊर्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति ॥ ६ ॥**

(आश्व० गृ० सू० १।१९।६)

❀ [**प्रचलित अर्थ**—सोलह वर्ष तक ब्राह्मण की, बाईस वर्ष तक क्षत्रिय की और चौबीस वर्ष तक वैश्य की सावित्री का उल्लंघन नहीं होता। (अतः उक्त अवस्था होने के पहले ही तीनों वर्णों का यज्ञोपवीत संस्कार हो जाना चाहिये) ॥ । ३८।]

यदि पूर्वोक्त काल में इनका यज्ञोपवीत न हो तो वे पतित माने जावें।"
(सं० वि० ६५)

व्रात्यों के साथ सम्बन्धविच्छेद का कथन—

नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित्।
ब्राह्मान्यौनांश्च सम्बन्धानाचरेद् ब्राह्मणः सह ॥१५॥

[२।४०] (१५)

(ब्राह्मण:) द्विजों में कोई भी व्यक्ति (एतैः+अपूतैः सह) इन पतितों के साथ (कर्हिचित् आपदि+अपि हि) कभी आपत्काल में भी (विधिवत्) नियम पूर्वक (ब्राह्मान्) विद्याध्ययन-अध्यापन-सम्बन्धी (च) और (यौनान्) विवाह-सम्बन्धी (सम्बन्धान्) व्यवहारों को (न आचरेत्) न करे ॥ १५ ॥

वर्णानुसार मृगचर्मों का विधान—

कार्ष्णरौरववास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः।
वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च ॥१६॥ [२।४१] (१६)

(ब्रह्मचारिण:) तीनों वर्णों के ब्रह्मचारी (आनुपूर्व्येण) क्रमशः (कार्ष्णरौरव-वास्तानि चर्माणि) [आसन के रूप में बिछाने के लिए] काला मृग, रुरुमृग और बकरे के चर्म को (च) तथा [ओढ़ने-पहरने के लिये] (शाणक्षौम-आविकानि) सन, रेशम और ऊन के वस्त्रों को (वसीरन्) धारण करें ॥ १६ ॥

"एक-एक मृगचर्म उनके बैठने के लिए··· देना चाहिए।" (सं०वि०७५)

मेखला-विधान—

मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला।
क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शणतान्तवी ॥१७॥ [२।४२] (१७)

(विप्रस्य) ब्राह्मण की (मेखला) मेखला=तगड़ी (मौञ्जी) 'मूंज' नामक घास की बनी होनी चाहिए (क्षत्रियस्य मौर्वी ज्या) क्षत्रिय की धनुष की डोरी जिससे बनती है उस 'मुरा' नामक घास की, और (वैश्यस्य) वैश्य की (शणतान्तवी) सन के सूत की बनी हो जो (त्रिवृत्-समा) तीन लड़ों को एकत्र बांटकरके (श्लक्ष्णा कार्या) चिकनी बनानी चाहिए ॥१७॥

"आचार्य सुन्दर चिकनी प्रथम बनाके रखी हुई मेखला को बालक के कटि में बांधे।"

"ब्राह्मण की मुंज वा दर्भ की, क्षत्रिय की धनुष संज्ञक तृण या वल्कल की और वैश्य की ऊन वा शण की मेखला होनी चाहिए।" (सं० वि० ७५)

मेखलाओं का विकल्प—

मुञ्जालाभे तु कर्तव्याः कुशाश्मन्तकबल्वजैः ।
त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिः पञ्चभिरेव वा ॥१८॥ [२।४३] (१८)

(मुञ्जालाभे तु) यदि उपर्युक्त मूंज आदि न मिलें तो [क्रमशः] (कुश+अश्मन्तक-बल्वजैः) कुश, अश्मन्तक और बल्वज नामक घासों से (त्रिवृता) उसी प्रकार तिगुनी=तीन बटों वाली करके (एकेन ग्रन्थिना) फिर एक गांठ लगाकर (वा) अथवा (त्रिभिः पञ्चभिः+एव) तीन या पांच गांठ लगाकर (कर्त्तव्याः) मेखलाएं बनानी चाहिएँ ॥१८॥

वर्णानुसार यज्ञोपवीत—

कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत् ।
शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम् ॥१९॥ [२।४४] (१९)

(विप्रस्य) ब्राह्मण का (उपवीतम्) यज्ञोपवीत (कार्पासम्) कपास का बना (राज्ञः) क्षत्रिय का (शणसूत्रमयम्) सन के सूत का बना और (वैश्यस्य) वैश्य का (आविक-सौत्रिकम्) भेड़ की ऊन के सूत का बना (स्यात्) होना चाहिए, वह उपवीत (ऊर्ध्ववृतम्) दाहिनी ओर से बायीं ओर का बटा हुआ, और (त्रिवृत्) तीन लड़ों से तिगुना करके बना हुआ होना चाहिए ॥१९॥

वर्णानुसार दण्डविधान—

ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ ।
पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः ॥२०॥ [२।४५] (२०)

(ब्राह्मणः) ब्राह्मण (बैल्व-पालाशौ) बेल या ढाक के (क्षत्रियः) क्षत्रिय (वाट-खादिरौ) बड़ या खैर के (वैश्यः) वैश्य (पैलव+औदुम्बरौ) पीपल या गूलर के (दण्डान्) दण्डों को (धर्मतः) नियमानुसार (अर्हन्ति) धारण कर सकते हैं ॥२०॥

दण्डों का वर्णानुसार मान—

केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः ।
ललाटसंमितो राज्ञः स्यात्तु नासान्तिको विशः ॥२१॥ [२।४६] (२१)

(प्रमाणतः) माप के अनुसार (ब्राह्मणस्य दण्डः) ब्राह्मण का दण्ड (केशान्तिकः) केशों तक (राज्ञः ललाटसंमितः) क्षत्रिय का माथे तक (कार्यः) बनाना चाहिए (तु) और (विशः) वैश्य का (नासान्तिकः स्यात्) नाक तक ऊंचा होना चाहिये ॥२१॥

दण्डों का स्वरूप—

ऋजवस्ते तु सर्वे स्युरव्रणाः सौम्यदर्शनाः ।
अनुद्वेगकरा नृणां सत्वचोऽनग्निदूषिताः ॥२२॥ [२।४७] (२२)

(ते तु सर्वे) वे सब दण्ड (ऋजवः) सीधे (अव्रणाः) बिना गाँठ वाले (सौम्यदर्शनाः) देखने में प्रिय लगने वाले (नृणाम् अनुद्वेगकराः) मनुष्यों को बुरे या डरावने न लगने वाले (सत्वचः) छालसहित और (अनग्निदूषिताः) बिना जले-झुलसे (स्युः) होने चाहियें ॥२२॥

अनुशीलन : २० से २२ तक के श्लोकों का भाव महर्षि-दयानन्द ने निम्न प्रकार दिया है—

"ब्राह्मण के बालक को खड़ा रख के भूमि से ललाट के केशों तक पलाश वा बिल्ववृक्ष का, क्षत्रिय को वट वा खदिर का ललाट भ्रू तक, वैश्य को पीलू वा गूलर वृक्ष का नासिका के अग्रभाग तक दंड प्रमाण और वे दंड चिकने, सूधे हों, अग्नि में जले, टेढ़े, कीड़ों के खाये हुये नहीं हों ।" (सं० वि० ७५)

भिक्षा-विधान—

प्रतिगृह्येप्सितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम् ।
प्रदक्षिणं परीत्याग्निं चरेद् भैक्षं यथाविधि ॥२३॥ [२।४८] (२३)

(ईप्सितं दण्डं प्रतिगृह्य) ऊपर वर्णित [२०-२२] दण्डों में अपने योग्य दण्ड धारण करके (च) और (भास्करम् उपस्थाय) सूर्य के सामने खड़ा होके (अग्निं प्रदक्षिणं परीत्य) यज्ञाग्नि की प्रदक्षिणा—परिक्रमा करके (यथाविधि) विधि-अनुसार [२।२४-२५] (भैक्षं चरेत्) भिक्षा मांगे ॥२३॥

भिक्षा-विधि—

भवत्पूर्वं चरेद् भैक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः ।
भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम् ॥२४॥ [२।४९] (२४)

(उपनीतः द्विजोत्तमः) यज्ञोपवीत संस्कार में दीक्षित ब्राह्मण (भवत्पूर्वं भैक्षं चरेत्) 'भवत्' शब्द को वाक्य के पहले जोड़कर, जैसे—'भवान् भिक्षां ददातु' या 'भवती भिक्षां ददातु' कहकर भिक्षा मांगे (तु) और (राजन्यः) क्षत्रिय (भवत्-मध्यम्) 'भवत्' शब्द को वाक्य के बीच में लगाकर, जैसे—'भिक्षां भवान् ददातु' या 'भिक्षां भवती ददातु' कहकर भिक्षा मांगे (तु) और (वैश्यः) वैश्य (भवत्+उत्तरम्) 'भवत्' शब्द को वाक्य के बाद में जोड़कर जैसे—'भिक्षां ददातु भवान्' या 'भिक्षां ददातु भवती' कहकर भिक्षा मांगे ॥२४॥

"ब्राह्मण का बालक यदि पुरुष से भिक्षा मांगे तो 'भवान् भिक्षां ददातु' और जो स्त्री से मांगे तो 'भवती भिक्षां ददातु' और क्षत्रिय का बालक 'भिक्षा भवान् ददातु' और स्त्री से 'भिक्षां भवती ददातु', वैश्य का बालक 'भिक्षां ददातु भवान्' और 'भिक्षां ददातु भवती' ऐसा वाक्य बोले।" (सं० वि० ७७)

भिक्षा किन से मांगे—

मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम्।
भिक्षेत भिक्षां प्रथमं या चैनं नावमानयेत् ॥२५॥[२।५०](२५)

[इन ब्रह्मचारियों को] (मातरं वा स्वसारम्) माता या बहन से (वा मातुः निजां भगिनीम्) अथवा माता की सगी बहन अर्थात् सगी मौसी से (च) और (या एनं न+अवमानयेत्) जो इस भिक्षार्थी का अपमान न करे उससे (प्रथमं भिक्षां भिक्षेत) पहले भिक्षा मांगे ॥२५॥

अनुशीलन : श्लोक २३ और २५ का भाव महर्षि-दयानन्द ने निम्न प्रकार ग्रहण किया है—

"तत्पश्चात् ब्रह्मचारी यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा करके कुण्ड के पश्चिम भाग में खड़ा रहके माता-पिता, बहन-भाई, मामा-मौसी, चाचा आदि से लेके जो भिक्षा देने में नकार न करें उनसे भिक्षा मांगे।" (सं० वि० ७७)

गुरु को भिक्षा-समर्पण—

समाहृत्य तु तद्भैक्षं यावदन्नममायया।
निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः ॥२६॥[२।५१](२६)

(तत् भैक्षं तु समाहृत्य) उस भिक्षा को आवश्यकतानुसार लाकर (यावत्+अन्नम्) जितनी भी वह भोज्य सामग्री हो उसे (अमायया) निष्कपट भाव से (गुरवे निवेद्य) गुरु को निवेदित करके (शुचिः) स्वच्छ होकर (प्राङ्मुखः) पूर्व की ओर मुख करके (आचम्य) आचमन करके (अश्नीयात्) खाये ॥२६॥

"जितनी भिक्षा मिले वह आचार्य के आगे धर देनी, तत्पश्चात् आचार्य उसमें से कुछ थोड़ा-सा अन्न लेके वह सब भिक्षा बालक को दे देवे और वह बालक उस भिक्षा को अपने भोजन के लिए रख छोड़े।" (सं० वि० ७८)

बिना कहीं इधर-उधर जाये ॥३१॥ (स० प्र० पृ० २६७)

अनुशीलन : उच्छिष्ट खाने में दोष— उच्छिष्ट भोजन के प्रसङ्ग में महर्षि दयानन्द ने विस्तृत प्रकाश डाला है, जो उल्लेखनीय है—

प्रश्न—एकसाथ खाने में कुछ दोष है वा नहीं ?

उत्तर—दोष है। क्योंकि एक के साथ दूसरे का स्वभाव और प्रकृति नहीं मिलती। जैसे कुष्ठी आदि के साथ खाने से अच्छे मनुष्य का रुधिर बिगड़ जाता है, वैसे दूसरे के साथ खाने में भी कुछ बिगाड़ ही होता है; सुधार नहीं।

प्रश्न—"**गुरोरुच्छिष्टभोजनम्**" इस वाक्य का क्या अर्थ होगा ?

उत्तर—इसका यह अर्थ है कि गुरु के भोजन किये पश्चात् जो पृथक् अन्न शुद्ध स्थित है, उसका भोजन करना अर्थात् गुरु को प्रथम भोजन कराके शिष्य को भोजन करना चाहिए।

प्रश्न—जो उच्छिष्ट मात्र का निषेध है तो मक्खियों का उच्छिष्ट सहत, बछड़े का उच्छिष्ट दूध और एक ग्रास खाने के पश्चात् अपना भी उच्छिष्ट होता है, पुनः उनको भी न खाना चाहिए।

उत्तर—सहत कथन मात्र ही उच्छिष्ट होता है परन्तु वह बहुत ही औषधियों का सार ग्राह्य; बछड़ा अपनी माँ के बाहर का दूध पीता है भीतर के दूध को नहीं पी सकता इसलिये उच्छिष्ट नहीं परन्तु बछड़े के पिये पश्चात् जल से उसकी माँ का स्तन धोकर शुद्ध पात्र में दोहना चाहिए। और अपना उच्छिष्ट अपने को विकारकारक नहीं होता। देखो ! स्वभाव से यह सिद्ध है कि किसी का उच्छिष्ट का कोई भी न खाये। जैसे अपने मुख, नाक, आँख, उपस्थ और गुह्येन्द्रियों के मलमूत्रादि के स्पर्श से घृणा नहीं होती वैसे किसी दूसरे के मलमूत्र के स्पर्श में होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह व्यवहार सृष्टिक्रम से विपरीत नहीं है। इसलिये मनुष्यमात्र को उचित है कि किसी का उच्छिष्ट अर्थात् झूठा न खाय।

प्रश्न—भला स्त्री-पुरुष भी परस्पर उच्छिष्ट न खावें ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि उनके भी शरीरों का स्वभाव भिन्न-भिन्न है"।

(स० प्र० दशम समुल्लास)

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥३२॥ [२।५७] (३१)

(अतिभोजनम्) अधिक भोजन करना (अनारोग्यम्) स्वास्थ्यनाशक (अनायुष्यम्) आयुनाशक (अस्वर्ग्यम्) सुख-नाशक (अपुण्यम्) अहितकर (च) और (लोकविद्विष्टम्) लोगों द्वारा निन्दित माना गया है (तस्मात्)

इसलिए (तत्) उस अधिक भोजन करने को (परिवर्जयेत्) छोड़ देवे ॥३२॥

आचमन-विधि—

ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन नित्यकालमुपस्पृशेत् ।
कायत्रैदशिकाभ्यां वा न पित्र्येण कदाचन ॥३३॥ [२।५८] (३२)
अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते ।
कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे दैवं पित्र्यं तयोरधः ॥३४॥ [२।५९] (३३)

(विप्रः) द्विज (नित्यकालम्) प्रतिदिन आचमन करते समय (ब्राह्मेण तीर्थेन) ब्राह्मतीर्थ [हाथ के अंगूठे के मूलभाग का स्थान, जिससे कलाई भाग की ओर से आचमन ग्रहण किया जाता है] से (वा) अथवा (काय-त्रैदशिकाभ्याम्) कायतीर्थ=प्राजापत्य [कनिष्ठा अंगुली के मूलभाग के पास का स्थान] से या त्रैदशिक=देवतीर्थ [-अंगुलियों के अग्रभाग का स्थान] से (उपस्पृशेत्) आचमन करे, (पित्र्येण कदाचन न) पितृतीर्थ [अंगूठे तथा तर्जनी के मध्य का स्थान] से कभी आचमन न करे ॥३३॥

(अंगुष्ठमूलस्य तले) अंगूठे के मूलभाग के नीचे का स्थान (ब्राह्म-तीर्थं प्रचक्षते) ब्राह्मतीर्थ (अंगुलिमूले कायम्) अंगुलियों के मूलभाग का स्थान कायतीर्थ (अग्रे दैवम्) अंगुलियों के अग्रभाग का स्थान दैवतीर्थ और (तयोः+अधः पित्र्यम्) अंगुलियों और अंगूठे का मध्यवर्ती मूल भाग का स्थान पितृतीर्थ (प्रचक्षते) कहा जाता है ॥३४॥

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम् ।
खानि चैव स्पृशेदद्भिरात्मानं शिर एव च ॥३५॥ [२।६०] (३४)

(पूर्वं अपः त्रिः+आचमेत्) पहले जल का तीन बार आचमन करे (ततः) उसके बाद (मुखं द्विः प्रमृज्यात्) मुख को दो बार धोये (च) और (खानि एव) नाक, कान, नेत्र आदि इन्द्रियों को (आत्मानं च शिरः एव) हृदय और सिर को भी (अद्भिः) जल से (स्पृशेत्) स्पर्श करे ॥३५॥

उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते द्विजः ।
सव्ये प्राचीन आवीती, निवीती कण्ठसज्जने ॥३८॥ [२।६३] (३५)

(द्विजः) द्विज (दक्षिणे पाणौ उद्धृते) दाहिने हाथ को ऊपर रखने की अवस्था में [अर्थात् जब द्विज यज्ञोपवीत को दायें हाथ और कन्धे के नीचे लटकाकर तथा बायें कन्धे के ऊपर रखकर पहनता है, तब] (उपवीति) 'उपवीती' (सव्ये) बायें हाथ को ऊपर रखकर पहनने की अवस्था में (प्राचीन आवीती) प्राचीन आवीती और (कण्ठसज्जने) गले में माला के

समान पहनने की अवस्था में (निवीती) 'निवीती' (उच्यते) कहलाता है ॥ ३८ ॥

मेखलादि की पुनर्ग्रहण-विधि—

मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम् ।
अप्सु प्रास्य विनष्टानि गृह्णीतान्यानि मन्त्रवत् ॥३९॥[२। ६४[(३६)

(मेखलाम्+अजिनं दण्डम्+उपवीतं कमण्डलुम्) मेखला, मृगचर्म, दण्ड, यज्ञोपवीत, कमण्डलु (विनष्टानि) इनके बेकार होने पर (अप्सु प्रास्य) इन्हें बहते जल में फेंककर (अन्यानि) दूसरे नयों को (मन्त्रवत् गृह्णीत) मन्त्रपूर्वक धारण करे ॥ ३९॥

अनुशीलन : नष्ट उपवीत, दण्ड आदि का जल में प्रक्षेपण क्यों— इस श्लोक में वर्णित पदार्थों को मनु ने जल में डालने का जो विधान किया है उससे 'बहते जल' से अभिप्राय है। क्योंकि स्थिर जल में किसी पदार्थ को डालने से गन्दगी बढ़ती है। स्थिर जल गन्दा भी होता है। इसी लिए मनु ने स्नान आदि सभी प्रयोगों के लिए बहते जल के प्रयोग का ही विधान किया है (द्रष्टव्य ४। २०३ श्लोक)।

केशान्त-संस्कार कर्म—

केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते ।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः ॥४०॥ [२६५[(३७)

(ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण के (षोडशे) सोलहवें (राजन्यबन्धोः द्वाविंशे) क्षत्रिय के बाईसवें (वैश्यस्य) वैश्य के (ततः द्व्यधिके) [उससे दो वर्ष अधिक] अर्थात् चौबीसवें (वर्षे) वर्ष में (केशान्तः विधीयते) केशान्त कर्म=क्षौर मुंडन हो जाना चाहिए।

अर्थात् इस विधि के पश्चात् केवल शिखा को रखके अन्य डाढ़ी मूंछ और शिर के बाल सदा मुंडवाते रहना चाहिए अर्थात् पुनः कभी न रखना और जो शीतप्रधान देश हो तो कामचार है, चाहे जितना केश रखे। और जो अति उष्ण देश हो तो सब शिखा सहित छेदन करा देना चाहिये, क्योंकि शिर में बाल रखने से उष्णता अधिक होती है और उससे बुद्धि कम हो जाती है। डाढ़ी मूंछ रखने से भोजन पान अच्छे प्रकार नहीं होता और उच्छिष्ट भी बालों में रह जाता है। ॥ ४० ॥ (स० प्र० २५८)

उपनयन विधि की समाप्ति एवं ब्रह्मचारी के कर्मों का कथन—

एष प्रोक्तो द्विजातीनामौपनायनिको विधिः ।
उत्पत्तिव्यञ्जकः पुण्यः, कर्मयोगं निबोधत ॥४३॥ [२।६८](३८)

(एषः) यह [२। ११—४२] (द्विजातीनाम् उत्पत्तिव्यञ्जकः) द्विजा-

तियों के द्वितीय जन्म को प्रकट करने वाली अर्थात् मनुष्यों को द्विज= ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बनाने वाली (पुण्यः) कल्याण-कारक (औपनायनिकः विधि) उपनयन संस्कार की विधि (प्रोक्तः) कही, (कर्मयोगं निबोधत) [अब उपनयन में दीक्षित होने वाले द्विज ब्रह्मचारियों के] कर्त्तव्यों को सुनो—॥ ४३ ॥

अनुशीलन : 'उत्पत्तिव्यंजकः' के अधिक स्पष्टीकरण एवं पुष्टि के लिए द्रष्टव्य हैं २।१२१—१२५ (१४६—१५०) श्लोक और उनकी समीक्षाएं।

(ब्रह्मचारियों के कर्त्तव्य)
२। ३६ से २। १६४ तक

उपनयन के पश्चात् ब्रह्मचारी को शिक्षा—

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।
आचारमग्निकार्यं च सन्ध्योपासनमेव च ॥४४॥ [२।६९] (३९)

(गुरुः) गुरु (शिष्यम् उपनीय) शिष्य का यज्ञोपवीत संस्कार करके (आदितः) पहले (शौचम्) शुद्धि=स्वच्छता से रहने की विधि (आचारम्) सदाचरण और सद्व्यवहार (अग्निकार्यम्) अग्निहोत्र की विधि (संध्योपासनम्+एव) और सन्ध्या-उपासना की विधि (शिक्षयेत्) सिखाये ॥ ४४ ॥

"**सन्ध्यायन्ति सन्ध्यायते वा परब्रह्म यस्यां सा सन्ध्या**" अर्थात् भलीभांति जिसमें परमेश्वर का ध्यान करते हैं अथवा जिसमें परमेश्वर का ध्यान किया जाये, वह 'सन्ध्या' है।

इस प्रकार गायत्री मन्त्र का उपदेश करके संध्योपासन को जो स्नान, आचमन, प्राणायाम आदि क्रिया हैं, सिखलावें। प्रथम स्नान, इसलिए है कि जिससे शरीर के बाह्य अवयवों की शुद्धि और आरोग्य आदि होते हैं।"

(स० प्र० ३६)

वेदाध्ययन से पहले गुरु को अभिवादन—

ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा।
संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः ॥४६॥ [२।७१] (४०)

(ब्रह्मारम्भे च अवसाने) वेद पढ़ने के आरम्भ और समाप्ति पर (सदा गुरोः पादौ ग्राह्यौ) सदैव गुरु के दोनों चरणों को छूकर नमस्कार करे [२।४७] (हस्तौ संहत्य अध्येयम्) दोनों हाथ जोड़कर अभिवादन करने के बाद [गुरु से] पढ़ना चाहिये; (सः हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः) इसी [हाथ जोड़ने] को 'ब्रह्माञ्जलि' कहा जाता है ॥४६ ॥

गुरु को अभिवादन करने की विधि—

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः ।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो, दक्षिणेन च दक्षिणः ॥४७॥ [२।७२] (४१)

(गुरोः उपसंग्रहणम्) गुरु के चरणों का स्पर्श (व्यत्यस्तपाणिना कार्यम्) हाथों को अदल-बदल करके [प्रणामकर्त्ता का बायां हाथ नीचे रह कर गुरु के बायें पैर का स्पर्श करे और उसके ऊपर से दायां हाथ दायें चरण को स्पर्श करे] करना चाहिए (सव्येन सव्यः) बायें हाथ से बायां चरण (च) और (दक्षिणेन दक्षिणः) दायें हाथ से दायाँ पैर का (स्प्रष्टव्यः) स्पर्श करना चाहिए ॥ ४७ ॥

अध्ययन के आरंभ एवं समाप्ति की विधि—

अध्येष्यमाणं तु गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः ।
अधीष्व भो इति ब्रूयाद्विरामोऽस्त्विति चारमेत् ॥ ४८ ॥
[२।७३] (४२)

(गुरुः नित्यकालम्) गुरु सदैव पढ़ाते समय (अतन्द्रितः) आलस्यरहित होकर (अध्येष्यमाणं तु) पढ़ने वाले शिष्य को ('भो अधीष्व' इति ब्रूयात्) 'हे शिष्य पढ़ो' इस प्रकार कहे (च) और ('विरामः+अस्तु' इति आरमेत्) 'अब विराम करो' ऐसा कहकर पढ़ाना समाप्त करे ॥ ४८ ॥

वेदाध्ययन के आद्यन्त में प्रणवोच्चारण का विधान—

ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा ।
स्रवत्यनोङ्कृतं पूर्वं, पुरस्ताच्च विशीर्यति ॥ ४९ ॥ [२।७४] (४३)

(सर्वदा ब्रह्मणः आदौ च अन्ते प्रणवं कुर्यात्) [शिष्य] सदैव वेद पढ़ने के आरम्भ और अन्त में 'ओ३म्' का उच्चारण करे (पूर्वम् अनोंकृतम्) आरम्भ में ओंकार का उच्चारण न करने से (स्रवति) पढ़ा हुआ बिखर जाता है [=भलाभांति ग्रहण नहीं हो पाता] (च) और (पुरस्तात् विशीर्यति) बाद में 'ओ३म्' का उच्चारण न करने से पढ़ा हुआ स्थिर नहीं रहता ॥ ४९ ॥

अनुशीलन : अध्ययन के आद्यन्त में ओंकारोच्चारण के लाभ—(१) 'ओ३म्' का उच्चारण करने से यहां मनु का अभिप्राय ओंकारोच्चारणपूर्वक मन को एकाग्र या समाहित करने से है। अन्यत्र भी मनु ने सन्ध्योपासन और अध्ययन से पूर्व समाहित या एकाग्रचित्त होने के लिए कहा है [२।७१]। यह बिल्कुल सही मनोवैज्ञानिक बात है कि यदि छात्र मन को एकाग्र करके अध्ययन नहीं करता तो उसे पूर्णतया ग्रहण नहीं होता, कुछ बिखरता रहता है और कुछ-कुछ ही ग्रहण होता है। इसी प्रकार अध्ययन

के पश्चात् भी एकाग्रता न रखने से पढ़ा हुआ स्थिर नहीं हो पाता। मन के एकदम अन्यत्र जाने से संचित ज्ञान में गौणता और भुलावा-सा आ जाता है, जबकि अध्ययन की समाप्ति पर अधीत विषय के प्रति एकाग्रता बनाये रखने से वह स्थिर हो जाता है। २।७४ में इसी भाव को दूसरे ढङ्ग से स्पष्ट किया है कि यदि एक भी इन्द्रिय एकाग्रता को छोड़कर अपने विषय में लग जाती है तो उसके साथ ही व्यक्ति की बुद्धि भी उतनी कम होने लगती है।

(२) इसमें कुछ योगदर्शन के प्रमाण और उन पर आधारित विचार उल्लेखनीय हैं—

(क) यह 'प्रणव' अर्थात् 'ओम्' शब्द उस अनादि-अनन्त, सर्वव्यापक सृष्टि-रचयिता परमात्मा का सबसे मुख्य नाम है। वह सबका आदि गुरु है। उसका स्मरण आदि-अन्त में करने से उसके सर्वज्ञता के गुणों की ओर प्रवृत्ति होकर बहुज्ञ बनने की भावना आती है। [**"स एषः पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्" "तस्य वाचकः प्रणवः"** योगदर्शन १।२६,२७]।

(ख) **तज्जपस्तदर्थभावनम्** । योग १।२८॥

"इसी नाम का जप अर्थात् स्मरण......करना चाहिए कि जिससे उपासक का मन एकाग्रता, प्रसन्नता और ज्ञान को यथावत् प्राप्त होकर स्थिर हो।"

(ऋ० भू० उपासना विषय)

'ओ३म्' एवं गायत्री की उत्पत्ति—

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः।
वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवःस्वरितीति च॥ ५१॥ [२७६] (४४)

(प्रजापतिः) परमात्मा ने (अकारम् उकारं च मकारं) ओ३म् शब्द के 'अ' 'उ' और 'म्' अक्षरों को [अ+उ+म्=ओम्] (च) तथा (भूः भुवः स्वः इति) 'भूः' 'भुवः' 'स्वः' गायत्री मन्त्र की इन तीन व्याहृतियों को (वेदत्रयात् निरदुहत्) तीनों वेदों से दुहकर साररूप में निकाला है।

[द्वितीय 'इति' का प्रयोग पादपूर्त्यर्थ है] ॥ ५१ ॥

अनुशीलन : **ओंकार और व्याहृतियों का विवेचन**—इस श्लोक में प्रतिपादित मनु की मान्यता की, निरुक्तकार ने भी विभिन्न आचार्यों के मतों का उल्लेख करते हुए पुष्टि की है। '**चत्वारि वाक् परिमिता पदानि**" [ऋ० १।१६४।४५] मन्त्र की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—"**कानि तानि चत्वारि पदानि ? ओंकारः, महाव्याहृतयश्च इति आर्षम्** ।"[१३।९] अर्थात् वाक्स्वरूप ब्रह्म या वेद का वर्णन करने वाले वे चार पद कौन से हैं ? ओंकार अर्थात् 'ओम्' अक्षर और 'भूः' 'भुवः' 'स्वः' ये तीन महाव्याहृतियाँ। इनको यास्क ने मनु के समान महत्त्व दिया है।

(१) 'ओम्' अक्षर के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए "**ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन्**

यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः" [ऋ० १।१६४।३६] मन्त्र की व्याख्या में आचार्य शाकपूणि और ब्राह्मण ग्रन्थ का वचन उद्धृत करते हुए कहा है कि अक्षर वह 'ओम्' ही है और यह 'ओम्' अक्षर त्रयी विद्यारूप चारों वेदों का प्रतिनिधि है—"कतमत्तदेतद् अक्षरम् ? ओमित्येषा वागिति शाकपूणिः। 'एतद्ध वा एतदक्षरं यत्सर्वां त्रयीं विद्यां प्रतिप्रतिः' इति च ब्राह्मणम्।" [१३।१०]।

महर्षि दयानन्द ने इसी आधार पर 'ओम्' को ईश्वर का सर्वप्रमुख नाम माना है—

"जो अकार उकार और मकार के योग से 'ओम्' यह अक्षर सिद्ध है, सो यह परमेश्वर के सब नामों में उत्तम नाम है। जिसमें सब नामों के अर्थ आ जाते हैं। जैसा पिता-पुत्र का प्रेम-सम्बन्ध है, वैसे ही ओंकार के साथ परमात्मा का सम्बन्ध है। इस एक नाम से ईश्वर के सब नामों का बोध होता है।" (द० ल० प० पृ० २३२)

(२) "अब तीन महाव्याहृतियों के अर्थ संक्षेप से इस प्रकार हैं—

'भूरिति वै प्राणः' 'यः प्राणयति चराचरं जगत् सः भूः स्वयंभूरीश्वरः' —जो सब जगत् के जीवन का आधार प्राण से भी प्रिय और स्वयंभू है उस प्राण का वाचक होके 'भूः' परमेश्वर का नाम है। **'भुवरित्यपानः' यः सर्वं दुःखमपानयति सोऽपानः'**—जो सब दुःखों से रहित जिसके सङ्ग से जीव सब दुःखों से छूट जाते हैं, इस लिये उस परमेश्वर का नाम 'भुवः' है। **'स्वरिति व्यानः' 'यो विविधं जगद् व्यानयति व्याप्नोति स व्यानः'**—जो नानाविध जगत् में व्यापक होके सबका धारण करता है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम स्वः' है।" (स० प्र० ३८)

त्रिभ्यः एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत्।
तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः ॥५२॥ [२।७७] (४५)

(परमेष्ठी प्रजापतिः) सबसे महान् परमात्मा ने (तत्+इति+अस्याः सावित्र्याः ऋचः) 'तत्' इस पद से प्रारम्भ होने वाली सावित्री ऋचा [=गायत्री मन्त्र] का (पादं पादम्) एक-एक पाद [प्रथम पाद है—'तत्सवितुर्वरेण्यम्,' द्वितीय पाद—'भर्गो देवस्य धीमहि', तृतीय पाद—'धियो यो नः प्रचोदयात्'] (त्रिभ्यः+एव तु वेदेभ्यः) तीनों वेदों से (अदूदुहत्) दुहकर सार रूप में बनाया है ॥५२॥

'ओ३म्' एवं गायत्री के जप का फल—

एतदक्षरमेतां च जपन्व्याहृतिपूर्विकाम्।
संध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥ ५३ ॥ [२।७८] (४६)

(एतत्+अक्षरम) इस [ओम्] अक्षर को (च) और (व्याहृतिपूर्विकाम्) भूः भुवः स्वः इन व्याहृतियों सहित (एताम्) इस गायत्री ऋचा [=मन्त्र] को ["ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यम्, भर्गो देवस्य

धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ।'' इस मन्त्र को] (वेदवित् विप्रः) वेद-पाठी द्विज (सन्ध्ययोः जपन्) दोनों संध्याओं—प्रातः, सायंकाल में जपते हुए (वेदपुण्येन युज्यते) वेदाध्ययन के पुण्य से ही युक्त होता है ॥ ५३ ॥

अनुशीलन : 'ओम्' ईश्वर का मुख्यनाम—(१) यह 'ओम्' अक्षर परमेश्वर का सब से मुख्य वाचक नाम है। पुष्टि के लिए इसमें योगदर्शन का प्रमाण है—

(क) **तस्य वाचकः प्रणवः** ॥ १ । २७ ॥

''जो ईश्वर का ओंकार नाम है, सो पिता-पुत्र के सम्बन्ध के समान है, और यह नाम ईश्वर को छोड़के दूसरे अर्थ का वाची नहीं हो सकता। ईश्वर के जितने नाम हैं, उनमें ओंकार सब से उत्तम नाम है।''

(ख) **तज्जपस्तदर्थभावनम्** । १ । २८ ॥

''इसलिए इसी नाम का जप अर्थात् स्मरण और उसी का अर्थ विचार सदा करना चाहिए कि जिससे उपासक का मन एकाग्रता, प्रसन्नता, और ज्ञान को यथावत् प्राप्त होकर स्थिर हो।'' (ऋ० भू० उपासना विषय)

इसमें अन्य शास्त्रों के प्रमाण भी उल्लेखनीय हैं—

(ग) **''ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत''** । (छान्दोग्य उपनिषद्)

(घ) **''ओमिति-एतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपाख्यानम्** ।''(माण्डूक्य उपनिषद्)

(ङ) **''ओं खम्ब्रह्म''** । यजु० ४० । १७ ॥

(कभी नष्ट न होने वाले उपासनीय परमेश्वर का 'ओम्' यह नाम है।)

(२) मनुस्मृति में अन्यत्र भी अनेक स्थानों पर ओम् और सावित्री के जप का विशेष विधान है। तुलनार्थ द्रष्टव्य है—११ । २२२, २२५, २६५ श्लोक ।

(३) गायत्री मन्त्र और उसका अर्थ—

ओ३म् भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् । (यजुर्वेद ३६ । ३ ॥ ऋग्वेद ३ । ६२ । १०) ॥

अर्थ—'(ओ३म्) यह मुख्य परमेश्वर का नाम है, जिस नाम के साथ अन्य सब नाम लग जाते हैं (भूः) जो प्राण का भी प्राण (भुवः) सब दुःखों से छुड़ाने हारा (स्वः) स्वयं सुख-स्वरूप और अपने उपासकों को सब सुखों की प्राप्ति कराने हारा है, उस (सवितुः) सब जगत् की उत्पत्ति करने वाले, सूर्य आदि प्रकाशकों के भी प्रकाशक, समग्र ऐश्वर्य के दाता (देवस्य) कामना करने योग्य, सर्वत्र विजय कराने हारे परमात्मा का जो (वरेण्यम्) अतिश्रेष्ठ ग्रहण और ध्यान करने योग्य (भर्गः) सब क्लेशों को भस्म करने हारा, पवित्र, शुद्धस्वरूप है (तत्) उसको हम लोग (धीमहि) धारण करें (यः) यह परमात्मा (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को उत्तम गुण कर्म, स्वभावों में (प्रचोदयात्) प्रेरणा करे।' (सं० वि० ७५)

(४) २। ५१ की समीक्षा भी द्रष्टव्य है। उससे इस श्लोक का भाव और अधिक स्पष्ट हो सकेगा।

इन्द्रिय-संयम का निर्देश—

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम् ॥६३॥ [२।८८] (४७)

(विद्वान् यन्ता वाजिनाम् इव) जैसे विद्वान्-सारथि घोड़ों को नियम में रखता है वैसे (विषयेषु+अपहारिषु) मन और आत्मा को खोटे कामों में खेंचने वाले विषयों में (विचरताम्) विचरती हुई (इन्द्रियाणां संयमे) इन्द्रियों के निग्रह में (यत्नम्) प्रयत्न (आतिष्ठेत्) सब प्रकार से करे ॥६३॥
(स० प्र० पृ० ४८)

"मनुष्य का यही मुख्य आचार है कि जो इन्द्रियां चित्त को हरण करने वाले विषयों में प्रवृत्त कराती हैं उनको रोकने में प्रयत्न करे, जैसे घोड़े को सारथि रोककर शुद्ध मार्ग में चलाता है; इस प्रकार इनको अपने वश में करके अधर्म-मार्ग से हटाकर धर्ममार्ग में सदा चलाया करें।'
(स० प्र० पृ० २५६)

जैसे सारथि घोड़े को कुपथ में नहीं जाने देता वैसे विद्वान् ब्रह्मचारी आकर्षण करने वाले विषयों में जाते हुए इन्द्रियों के रोकने में सदा प्रयत्न किया करे"। (सं० वि० पृ० ८४)

अनुशीलन—'इन्द्रिय की व्युत्पत्ति'—'इदि—परमैश्वर्ये' धातु से **'ऋज्रेन्द्राग्रवज्र०'** (उणादि० २। २८) सूत्र से रन् प्रत्यय के योग से 'इन्द्र' शब्द सिद्ध होता है। 'इन्द्र' प्रातिदिक से **'इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्र······इति वा'** (अ० ५। २। ८३) से 'घच्' प्रत्यय निपातित है। **इन्द्रियवान् इन्द्रः, आत्मा तत्करणं ज्ञानकर्म-ऐश्वर्यप्राप्तेः साधनम् लिङ्गं चिह्नं वा तदिन्द्रियम्, शरीरावयवम्।** अर्थात् =शरीर के वे अवयव जो आत्मा के ज्ञान-कर्म-ऐश्वर्यादि की प्राप्ति के साधन या चिह्न हैं वे इन्द्रिय हैं। आंख, नाक, कान, व हाथ, पैर, आदि मन सहित ग्यारह इन्द्रियां हैं।

ग्यारह इन्द्रियों की गणना—

एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः ।
तानि सम्यक्प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ६४ ॥ [२।८९] (४८)

(पूर्वे मनीषिणः) पहले मनीषि-विद्वानों ने (यानि एकादश+इन्द्रियाणि+आहुः) जो ग्यारह इन्द्रियां कहीं हैं (तानि यथावत्+अनुपूर्वशः) उनको यथोचित क्रम से (सम्यक् प्रवक्ष्यामि) ठीक-ठीक कहता हूँ ॥ ६४ ॥

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक्चैव दशमी स्मृता ॥६५॥ [२।६०](४६)

(श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा) कान, त्वचा, नेत्र, जीभ, (च) और (पञ्चमी) पांचवीं (नासिका) नासिका [=नाक] (पायु-उपस्थं हस्त-पादम्) गुदा, उपस्थ (=मूत्र का मार्ग) हाथ, पग (वाक्) वाणी (दशमी स्मृता) ये दश इन्द्रिय इस शरीर में हैं ॥ ६५ ॥ (सं० वि० पृ० ८४)

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ॥६६॥ [२।६१](५०)

(एषाम्) इनमें ❋ (श्रोत्रादीनि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि) कान आदि पांच ज्ञानेन्द्रिय और (पायु-आदीनि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि) गुदा आदि पांच कर्मेन्द्रिय, (प्रचक्षते) कहाती हैं ॥ ६६ ॥ (सं वि० पृ० ८४)

❋ (अनुपूर्वशः) क्रमशः.........

ग्यारहवीं इन्द्रिय मन—

एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम्।
यस्मिञ्जिते जितावेतौ भवतः पंचकौ गणौ ॥६७॥ [२।६२] (५१)

(एकादशं मनः) ग्यारहवां मन है ÷ (स्वगुणेन उभयात्मकम्) वह अपने स्तुति आदि गुणों से दोनों प्रकार के इन्द्रियों से सम्बन्ध करता है (यस्मिन् जिते) जिस मन के जीतने में (एतौ) ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों ❋ (जितौ) जीत लिये जाते हैं ॥ ६७ ॥ (सं० वि० पृ० ८४)
÷ (ज्ञेयम्) ऐसा समझना चाहिए.........। ❋(पञ्चकौ गणौ) पांचों-पांचों इन्द्रियों के दोनों समुदाय अर्थात् दसों इन्द्रियां.........।

अनुशीलन : चरक में इन्द्रियां एवं इन्द्रियों के विषय—इन्द्रियों के अधिष्ठान एवं विषयों पर चरक शास्त्र में प्रकाश डाला गया है। विशेष ज्ञानकारी के लए विवरण प्रस्तुत है। ज्ञानेन्द्रियां हैं—

(क) "तत्र चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं रसनं स्पर्शनम्-इति पञ्चेन्द्रियाणि।
पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि खं वायुर्ज्योतिरापः भूरिति।
पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानान्यक्षिणी कर्णौ नासिके जिह्वा त्वक् चेति॥
पञ्चेन्द्रियार्थाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः॥
(सूत्रस्थाने) (अ० ८। ५-६)

अर्थात्—चक्षु, श्रवण, घ्राण, रसना, स्पर्श ये पांच इन्द्रियां हैं। क्रमशः तेज, आकाश, पृथ्वी, जल और वायु ये पांच इन्द्रियों के द्रव्य हैं। क्रमशः आंख, कान, नाक,

कदापि (सिद्धिं न गच्छन्ति) सिद्ध नहीं हो सकते ॥७२॥ (सं० वि० पृ० ८४)

"जो दुष्टाचारी अजितेन्द्रिय पुरुष है उसके वेद, त्याग, यज्ञ, नियम और तप तथा अन्य अच्छे काम कभी सिद्धि को प्राप्त नहीं होते।"

(सं० वि० पृ० ४६)

"जो अजितेन्द्रिय पुरुष है उसको विप्रदुष्ट कहते हैं। उसके करने से न वेदज्ञान, न त्याग, न यज्ञ, न नियम और न धर्माचरण सिद्धि को प्राप्त होते हैं। किन्तु ये सब जितेन्द्रिय धार्मिक जन को सिद्ध होते हैं।"

(स० प्र० पृ० २५८)

अनुशीलन : इस भाव की पुष्टि और तुलना के लिए देखिए १।१०६ और २।१३५ श्लोक।

जितेन्द्रिय की परिभाषा—

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा, स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥७३॥ [२।९८] (५७)

(जितेन्द्रियः स विज्ञेयः) जितेन्द्रिय उसको कहते हैं कि (यः नरः) जो [मनुष्य] (श्रुत्वा) स्तुति सुनके हर्ष और निन्दा सुनके शोक (स्पृष्ट्वा) अच्छा स्पर्श करके सुख और दुष्ट स्पर्श से दुःख (दृष्ट्वा) सुन्दर रूप देख के प्रसन्न और दुष्टरूप देख अप्रसन्न (भुक्त्वा) उत्तम भोजन करके आनन्दित और निकृष्ट भोजन करके दुःखित (घ्रात्वा न हृष्यति ग्लायति) सुगन्ध में रुचि दुर्गन्ध में अरुचि न करता ॥ ७३ ॥ (स० प्र० पृ० २५८)

एक भी इन्द्रिय के असंयम से प्रज्ञाहानि—

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम् ॥७४॥ [२।९९] (५८)

(सर्वेषाम् इन्द्रियाणां तु) सब इन्द्रियों में यदि (एकम् इन्द्रियं क्षरति) एक भी इन्द्रिय अपने विषय में आसक्त रहने लगती है तो (तेन) उसी के कारण (अस्य प्रज्ञा क्षरति) इस मनुष्य की बुद्धि ऐसे नष्ट होने लगती है (दृतेः पादात् + उदकम् इव) जैसे चमड़े के बर्त्तन=मशक में छिद्र होने से सारा पानी बहकर नष्ट हो जाता है ॥ ७४ ॥

इन्द्रिय-संयम से सब अर्थों की सिद्धि—

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा।
सर्वान्संसाधयेदर्थानक्षिण्वन्योगतस्तनुम् ॥७५॥ [२।१००] (५९)

(इन्द्रियग्रामम्) पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय [इन दश इन्द्रियों के समूह को] (च) और (मनः) ग्यारहवें मन को (वशे कृत्वा) वश में करके

(योगतः तनुम्=अक्षिण्वन्) युक्ताहार विहार रूप योग से शरीर की रक्षा करता हुआ (सर्वान् अर्थान् संसाधयेत्) सब अर्थों को सिद्ध करे ॥ ७५ ॥
(स० प्र० पृ० २५८)

"ब्रह्मचारी पुरुष सब इन्द्रियों को वश में करके और आत्मा के साथ मन को संयुक्त करके योगाभ्यास से शरीर को किंचित्-किंचित् पीड़ा देता हुआ अपने सब प्रयोजनों को सिद्ध करे।" (सं० वि० पृ० ८४)

अनुशीलन : 'योग' के अर्थ के सम्बन्ध में विवेचन देखिए ६।६५ पर अनुशीलन में।

सन्ध्योपासन-समय—

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमर्कदर्शनात् ।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥७६॥ [२।१०१] (६०)

(अर्कदर्शनात् पूर्वां संध्याम्) दो घड़ी रात्रि से लेके सूर्योदय पर्यन्त प्रातः संध्या (सम्यक्+ऋक्षविभावनात् तु पश्चिमाम्) सूर्यास्त से लेकर [अच्छी प्रकार] तारों के दर्शन पर्यन्त सायंकाल में [(समासीनः) भलोभाँति स्थित होकर] (सावित्रीं जपन् तिष्ठेत्) सविता अर्थात् सब जगत् की उत्पत्ति करने वाले परमेश्वर की उपासना गायत्र्यादि मन्त्रों के अर्थ विचारपूर्वक नित्य करें ॥ ७६ ॥ (द० ल० पं० पृ० २३६)

संध्योपासना का फल—

पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति ।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥७७॥ [२।१०२] (६१)

[मनुष्य] (पूर्वां संध्यां जपन् तिष्ठन्) प्रातःकालीन संध्या में बैठकर जप करके (नैशम्+एनः व्यपोहति) रात्रिकालीन मानसिक मलिनता या दोषों को दूर करता है (तु पश्चिमां समासीनः) और सायंकालीन संध्या करके (दिवाकृतं मलं हन्ति) दिन में सञ्चित मानसिक मलिनता या दोषों को नष्ट करता है। [अभिप्राय यह है कि दोनों समय संध्या करने से पूर्ववेला में आये दोषों पर चिन्तन-मनन और पश्चात्ताप करके उन्हें आगे न करने के लिए संकल्प किया जाता है तथा गायत्री-जप से अपने संस्कारों को शुद्ध पवित्र बनाया जा सकता है] ॥ ७७ ॥❋

❋ [**प्रचलित अर्थ**—प्रातःकाल की संध्या में बैठकर जप करता हुआ मनुष्य रात्रि में किये हुए पापों को नष्ट करता है, तथा सायंकाल की संध्या में बैठकर जप करता हुआ मनुष्य दिन में किये पापों को नष्ट करता है ॥ १०२ ॥]

अनुशीलन : 'एन:' शब्द का यहाँ 'संस्कारजन्य दोष' अर्थ है। इस पर विस्तृत समीक्षा २। २[२। २७] पर द्रष्टव्य है।

संध्योपासन न करनेवाला शूद्रवत्—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥७८॥ [२।१०३] (६२)

(यः) जो मनुष्य (पूर्वां न तिष्ठति च पश्चिमां न उपास्ते) नित्य प्रातः और सायं संध्योपासन को नहीं करता (सः शूद्रवत्) उसको शूद्र के समान समझकर (सर्वस्मात् द्विजकर्मणः बहिष्कार्यः) [समस्त] द्विजकुल से अलग करके शूद्रकुल में रख देना चाहिए ॥ ७८ ॥ (द० ल० पं० पृ० २३६)

प्रतिदिन गायत्री-जप का विधान—

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वाऽरण्यं समाहितः ॥७९॥ [२।१०४] (६३)

(अरण्यं गत्वा) जंगल में अर्थात् एकान्त देश में जा (समाहितः) सावधान होके* (अपां समीपे नियतः) जल के समीप स्थित होके (सावित्रीम्+अपि+अधीयीत) सावित्री अर्थात् गायत्री मन्त्र का उच्चारण, अर्थ-ज्ञान और उस के अनुसार अपने चाल-चलन को करे ॥ ७९ ॥

(स० प्र० पृ० ४१)

*(नैत्यकं विधिम्+आस्थितः) नित्य चर्या का अनुष्ठान करता हुआ अर्थात् नित्यकर्मों के समान अनिवार्य रूप से ....

वेद, अग्निहोत्र आदि में अनध्याय नहीं होता—

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि ॥८०॥ [२।१०५] (६४)

(वेदोपकरणे चैव) वेद के पठन-पाठन में (च) और (नैत्यके स्वाध्याये) नित्यकर्म में आने वाले गायत्री जप या संध्योपासना [२। ७९] में (होम-मन्त्रेषु चैव) तथा यज्ञ करने में (अनध्याये अनुरोधः न अस्ति) अनध्याय का विचार या आग्रह नहीं होता अर्थात् इन्हें प्रत्येक स्थिति में करना चाहिए, इनके साथ अनध्याय का विचार लागू नहीं होता ॥ ८० ॥

"वेद के पढ़ने-पढ़ाने, संध्योपासनादि पंचमहायज्ञों के करने और होममंन्त्रों में अनध्यायविषयक अनुरोध (आग्रह) नहीं है।" (स० प्र० पृ० ४९)

"वेद-पाठ, नित्यकर्म और होम-मन्त्रों में अनध्याय नहीं है। नित्य-कर्म का अभिप्राय यह है कि अपने मन का लक्ष्य परमेश्वर को बनाया जावे,

इसलिए प्रत्येक कर्म की समाप्ति पर यह कहा जाता है कि मैं इस कर्म या इसके फल को परमेश्वर के अर्पण करता हूँ।" (पू० प्र० पृ० १४४-१४५)

नैत्यके नास्त्यनध्यायो, ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम् ।
ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम् ॥८१॥ [२।१०६] (६५)

(नैत्यके अनध्यायः न+अस्ति) नित्यकर्म में अनध्याय नहीं होता जैसे श्वासप्रश्वास सदा लिये जाते हैं, बन्ध नहीं किये जाते, वैसे नित्यकर्म प्रतिदिन करना चाहिये, न किसी दिन छोड़ना (हि) क्योंकि❀ (अनध्याय-वषट्कृतं ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यम्) अनध्याय में भी अग्निहोत्रादि उत्तमकर्म किया हुआ पुण्यरूप होता है ॥

❀ (तत् ब्रह्मसत्रं स्मृतम्) उसे ब्रह्मयज्ञ माना गया है............।

जैसे झूठ बोलने में सदा पाप और सत्य बोलने में सदा पुण्य होता है, वैसे ही बुरे कर्म करने में सदा अनध्याय और अच्छे कर्म करने में सदा स्वाध्याय ही होता है ॥ ८१ ॥ (स० प्र० ४९)

अनुशीलन : 'वषट्कार' की व्युत्पत्ति—'वह्' धातु से 'डषटि' के योग से 'वषट्' शब्द बनता है। यह अव्यय है। वषट् का अर्थ यज्ञादि धार्मिक क्रिया या आहुति है। इस प्रकार '**अनध्यायवषट्कृतम् ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यम्**' पंक्ति का अर्थ बना—'अनध्याय की स्थिति में भी की गई धार्मिक क्रिया' या अग्निहोत्रादि में आहुति दान आदि कर्म' ब्रह्मयज्ञ में दी गई उपासना रूप आहुति के सदृश पुण्यकारक होता है। ईश्वर का स्मरण होने से वह पुण्यदायक ही होता है।

स्वाध्याय का फल—

यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः ।
तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु ॥८२॥

[२।१०७] (६६)

(यः) जो व्यक्ति (अब्दं स्वाध्यायम्) जलवर्षक मेघस्वरूप स्वाध्याय को [वेदों का अध्ययन एवं गायत्री का जप यज्ञ, उपासना आदि [२।७९—८१] (शुचिः) स्वच्छ-पवित्र होकर, (नियतः) एकाग्रचित्त होकर (विधिना) विधिपूर्वक (अधीते) करता है (तस्य एषः) उसके लिए यह स्वाध्याय (नित्यं) सदा (पयः दधि घृतं मधु क्षरति) दूध, दही, घी और मधु को बरसाता है।

अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार इन पदार्थों का सेवन करने से शरीर तृप्त, पुष्ट, बलशाली और नीरोग हो जाता है, उसी प्रकार स्वा-ध्याय करने से भी मनुष्य का जीवन शान्तिमय, सुखमय, ज्ञानमय और

पुण्यमय या आनन्दमय हो जाता है, अथवा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इनकी सिद्धि हो जाती है ॥ ८२ ॥ ❀

अनुशीलन : (१) **स्वाध्याय से अभिप्राय**—इस श्लोक में आलंकारिक वर्णन है। यहाँ दूध, घी और मधु को उपलक्षण या प्रतीक रूप में लिया गया है और इस वाक्य का मुहावरे के रूप में प्रयोग है। आयुर्वेद के अनुसार दूध का मुख्य गुण तृप्ति करना, दही का पुष्टि करना, घी का बल-आयु को बढ़ाना और शहद का शरीर-दोषों का नाश करना मुख्य गुण है। इनके अनुसार वेद के स्वाध्याय में भी मानवजीवन को शान्तिमय, गुणमय, ज्ञानमय, आनन्दमय बनाने वाले गुण हैं। यही आलंकारिक वर्णन का अभिप्राय है। कुछ टीकाकारों ने इन्हें क्रमशः धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का प्रतीक माना है। यहाँ मनु ने वेद के मन्त्र का भाव ज्यों का त्यों अपने शब्दों में प्रस्तुत किया है। तुलना कीजिए; वेद का मन्त्र है—

पावमानीर्यो अध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम्।
तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिः मधूदकम् ॥ ऋ० ९। ६७। ३२॥

(२) **'अब्दम्' का संगत अर्थ**—इस श्लोक में 'अब्दम्' शब्द का प्रयोग भी यौगिक है [**अपो ददाति इति अब्दम् मेघस्वरूपम्**] और इसका अर्थ 'वर्ष' न होकर 'वृष्टिकारक मेघस्वरूप' यहाँ संगत होता है। 'अब्दम्' शब्द का 'वर्ष' अर्थ करते हुए टीकाकारों ने जो यह अर्थ किया है कि 'जो मनुष्य जितेन्द्रिय तथा पवित्र होकर एक वर्ष तक भी विधिपूर्वक वेदाध्ययन करता है, उसे वह सर्वदा दूध, दही, घृत तथा मधु देता है' यह अर्थ मनु के अभिप्राय के अनुकूल और प्रसंगानुकूल नहीं जंचता। यह अर्थ करने से निम्न आपत्तियाँ रह जाती हैं—(क) वेदाध्ययन, यज्ञ, उपासना को मनु ने द्विजमात्र का आवश्यक कर्म माना है [१। ८८—९०] और सभी स्थानों पर उसे अनिवार्य घोषित करते हुए सदैव करते रहने का आदेश है [२। ७७—८१ (१०२—१०६)]। अतः मनु द्वारा उसके कुछ समय के महत्त्व को दर्शाने की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती। (ख) मनु ने ये सभी कर्म ब्रह्मचारियों के नौ, अठारह या छत्तीस वर्ष तक नित्य-कर्म के रूप में विहित किये हैं [३। १—२]।

जब इतने वर्षों तक ब्रह्मचारी-द्विजों को ये कर्म अनिवार्य रूप से करने ही हैं तो यहाँ एक वर्ष तक के सीमित काल का उल्लेख करने का कोई प्रसंग ही नहीं बनता। (ग) 'अब्दम्' का अर्थ 'वर्ष' करने से श्लोक में 'नित्यम्' शब्द का प्रयोग भी संगत नहीं बैठता। यदि वर्ष भर की सीमाका निर्धारण ही कर दिया है तो ये लाभ स्वाध्यायी

❀ [**प्रचलित अर्थ**—जो मनुष्य जितेन्द्रिय तथा पवित्र होकर एक वर्ष तक भी विधि पूर्वक वेदाध्ययन करता है उसे यह सर्वदा दूध, दही, घी, तथा मधु देता है (जिन से वह देवों तथा पितरों को तृप्त करता है और वे सब इच्छा तथा जपयज्ञ को पूर्ण करने वाले होते हैं) ॥ २। १०७ ॥]

को वर्ष भर ही मिलेंगे, सदा कैसे मिल सकते हैं? यदि एक वर्ष तक स्वाध्याय करने से ये लाभ सदा मिल सकते हैं तो फिर एक वर्ष से अधिक स्वाध्याय की आवश्यकता और विधानों की क्या जरूरत है? शायद इसी उलझन को अनुभव करते हुए कुछ टीकाकारों ने तो श्लोकार्थ में 'नित्यम्' शब्द का अर्थ ही छोड़ दिया। वस्तुतः यहाँ यौगिकार्थ रूप में 'अब्द' का प्रयोग है। जैसे बादल वर्षयिता है, वैसे ही स्वाध्याय को भी इन लाभों का वर्षयिता=दाता माना है। श्लोक में 'क्षरति' क्रिया का प्रयोग भी इस शब्द के 'मेघ' अर्थ का पोषक है। आलंकारिक क्रिया का प्रयोग होने से अर्थ तदनुरूप ही ग्रहण करना उचित है।

(३) 'स्वाध्याय' शब्द से मनु का अभिप्राय वेदों का निरन्तर साङ्गोपाङ्ग अध्ययन, संध्योपासना और अग्निहोत्र से है। यह उन्होंने स्वयं २। ७९—८१ [२। १०४—१०६] श्लोकों में स्पष्ट कर दिया है। इसके अतिरिक्त निम्न श्लोकों में भी स्पष्टतः वेदाध्ययन आदि को ही 'स्वाध्याय' कहा है—[२। १४०—१४३(२। १६५—१६८); ४। १७—२०, १४७—१४९; ११। २४५॥]

समावर्तन तक होमादि कर्त्तव्य करने का कथन—

अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधःशय्यां गुरोर्हितम्।
आसमावर्तनात्कुर्यात्कृतोपनयनो द्विजः॥८३॥ [२।१०८](६७)

(कृतः+उपनयनः द्विजः) यज्ञोपवीत संस्कार में दीक्षित द्विज (अग्नीन्धनम्) अग्निहोत्र करना (भैक्षचर्याम्) भिक्षावृत्ति (अधःशय्याम्) भूमि में शयन (गुरोः हितम्) गुरु की सेवा (आसमावर्तनात्) समावर्तन संस्कार [वेदाध्ययन समाप्त करके घर लौटने तक ३।१—३] तक (कुर्यात्) करता रहे॥ ८३॥

पढ़ाने योग्य शिष्य—

आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः।
आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्या दश धर्मतः॥ ८४॥
[२। १०९] (६८)

(आचार्यपुत्रः) अपने आचार्य [गुरु] का पुत्र (शुश्रूषुः) सेवा करने वाला (ज्ञानदः) किसी विषय के ज्ञान का देने वाला (धार्मिकः) धर्मनिष्ठ व्यक्ति (शुचिः) छल-कपटरहित आचरण वाला (आप्तः) घनिष्ठ व्यक्ति मित्र आदि (शक्तः) विद्या ग्रहण करने में समर्थ अर्थात् बुद्धिमान् पात्र (अर्थदः) धन देने वाला (साधुः) हितैषी (स्वः) अपने परिवार का, सम्बन्धी आदि (दश धर्मतः अध्याप्याः) ये दश धर्म से अवश्य पढ़ाने योग्य हैं॥८४॥

अनुशीलन : आप्त का अर्थ और व्याकरण—आप्त का शास्त्रों में अधिक प्रचलित अर्थ 'यथार्थवक्ता' 'सत्यवक्ता' है, किन्तु साथ ही घनिष्ठ व्यक्ति भी अर्थ प्रचलित है। मनु० में देखिए अ० ८। १ श्लोक। 'आप्लृ-व्याप्तौ' धातु से 'क्त' प्रत्यय के योग से 'आप्त' शब्द सिद्ध होता है। यत् प्रत्ययान्त शब्द आप्त्या का निर्वचन करते हुए निरुक्तकार ने लिखा है—**"आप्त्या—आप्नोते"** [१६।२।१६] इस प्रकार उक्त अर्थमें आप्त की व्युत्पत्ति हुई—**'आप्नोति हृदये आत्मीयत्वेन स आप्तः।'**

प्रश्नादि के बिना उपदेश निषेध—

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्॥ ८५॥
[२।११०](६९)

(न, अपृष्टः) कभी बिना पूछे (च) वा (अन्यायेन पृच्छतः) अन्याय से पूछने वाले को जो कि कपट से पूछता हो (कस्यचिद् न ब्रूयात्) ऐसे किसी को उत्तर न देवे (मेधावी) उनके सामने❀ बुद्धिमान्+(जडवत् आचरेत्) जड़ के समान रहे, हाँ जो निष्कपट और जिज्ञासु हों उनको बिना पूछे भी उपदेश करे॥ ८५॥ (स० प्र० पृ० २५६)

❀(जानन् अपि हि) जानते हुए भी············

+ (लोके) लोक में······················।

दुर्भावनापूर्वक प्रश्न-उत्तर से हानि—

अधर्मेण च यः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाऽधिगच्छति॥८६॥ [२।१११] (७०)

"(यः) जो (अधर्मेण) अन्याय, पक्षपात, असत्य का ग्रहण, सत्य का परित्याग, हठ, दुराग्रह·········इत्यादि अधर्म कर्म से युक्त होकर छल-कपट से (पृच्छति) पूछता है (च) और (यः) जो (अधर्मेण) पूर्वोक्त प्रकार से (प्राह) उत्तर देता है, ऐसे व्यवहार में विद्वान् मनुष्य को योग्य है कि न उससे पूछे और न उसको उत्तर देवे। जो ऐसा नहीं करता तो (तयोः+अन्यतरः प्रैति) पूछने वा उत्तर देने वाले दोनों में से एक मर जाता है अर्थात् निन्दित होता है। (वा) अथवा (विद्वेषम्) अत्यन्त विरोध को (अधिगच्छति) प्राप्त होकर दोनों दुःखी होते हैं॥" ८६॥ (द० ल० भ्र० पृ० ३४७)

अनुशीलन : प्रैति से अभिप्राय—'प्रैति' का प्रयोग यहाँ मुहावरे के रूप में हुआ है। मरजाने से अभिप्राय यह भी है कि बिना उत्तर दिये सम्बन्ध तोड़ कर चले जाना। यह स्वाभाविक ही है कि जब कोई दुर्भावना से पूछता या उत्तर देता

है, तो उनमें से कोई एक व्यक्ति किनारा कर लेता है। यदि ऐसा नहीं करते तो उनमें दूसरी अवस्था विवाद और विरोध की आ जाती है।

विद्या-दान किसे न दें—

धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वाऽपि तद्विधा।
तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे ॥८७॥ [२।११२](७१)

(यत्र धर्मार्थौ न स्याताम्) जहाँ धर्म और अर्थप्राप्ति न हो (वा) और (तद्विधा शुश्रूषा अपि) गुरु के अनुरूप सेवाभावना भी न हो (तत्र विद्या न वक्तव्या) ऐसे को विद्या का उपदेश नहीं करना चाहिए, क्योंकि (ऊषरे शुभं बीजम्+इव) वह ऊसर भूमि में श्रेष्ठ बीज बोने के समान है। जैसे बंजर भूमि में बोया हुआ बीज व्यर्थ होता है उसी प्रकार उक्त व्यक्ति को दी गई विद्या भी व्यर्थ जाती है ॥ ८७ ॥

कुपात्र को विद्यादान का निषेध—

विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना।
आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत् ॥ ८८ ॥

[२।११३] (७२)

(कामम्) चाहे (ब्रह्मवादिना) वेद का विद्वान् (विद्यया+एव समं मर्त्तव्यम्) विद्या को साथ लेकर मरजाये (हि) किन्तु (घोरायाम् आपदि+अपि) भयंकर आपत्तिकाल में भी (एनाम् इरिणे तु न वपेत्) इस विद्या को बंजर भूमि में न बोये अर्थात् जहां विद्या फलवती न हो, जो उसका विनाश या दुरुपयोग करे, ऐसे कुपात्र के लिये न दे, उसे न पढ़ाये ॥ ८८ ॥

विद्यादान-सम्बन्धी आख्यान एवं निर्देश—

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम्।
असूयकाय मां मा दास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥ ८९ ॥

[२।११४] (७३)

[एक आख्यान प्रचलित है कि एक बार] (विद्या ब्राह्मणम्+एत्य+आह) विद्या विद्वान् ब्राह्मण के पास आकर बोली—(ते शेवधिः अस्मि, माम्, रक्ष) "मैं तेरा खजाना हूँ, तू मेरी रक्षा कर (माम् असूयकाय मा दाः) मुझे मेरी उपेक्षा, निन्दा या ईर्ष्या द्वेष करने वाले को मत प्रदान कर (तथा वीर्यवत्तमा स्याम्) इस प्रकार से ही मैं वीर्यवती=महत्त्वपूर्ण और शक्तिसम्पन्न बन सकूंगी" ॥ ८९ ॥

यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतब्रह्मचारिणम् ।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने ॥९०॥ [२।११५] (७४)

(यम्+एव तु शुचिं नियतब्रह्मचारिणम्) "जिसे तुम छल-कपट रहित शुद्ध श्रद्धाभाव से युक्त, जितेन्द्रिय और ब्रह्मचारी (विद्यात्) समझो (तस्मै अप्रमादिने निधिपाय मां ब्रूहि) उस आलस्यरहित और इस खजाने की रक्षा एवं वृद्धि करने में समर्थ विप्र वेदभक्त जिज्ञासु शिष्य को मुझे पढ़ाना" ॥ ९० ॥

अनुशीलन : विद्या के आख्यान का निरुक्त में वर्णन—८८-९० श्लोकों में मनु ने जिस विद्या के आख्यान को वर्णित किया है, यह प्राचीन काल में बहु-प्रचलित मार्गनिर्देशक आख्यान था। निरुक्त शास्त्र में महर्षि यास्क ने किसी प्राचीन ग्रन्थ के कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं जिनमें कुछ विस्तार से इसी आख्यान का वर्णन है। भाव एवं शब्दसाम्य द्रष्टव्य है। श्लोक इस प्रकार हैं—

१. विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि ।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ॥
२. य आतृणोत्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन् ।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्चनाह ॥
३. अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा ।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत् ॥
४. यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।
यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ॥
(निरु० २ । १ । ४)

गुरु को प्रथम अभिवादन—

लौकिकं वैदिकं वाऽपि तथाऽध्यात्मिकमेव च ।
आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत् ॥९२॥ [२।११७] (७५)

(यतः) जिससे (लौकिकम्) लोक में काम आने वाला—शस्त्रविद्या, अर्थशास्त्र, इतिहास, राजनीति विज्ञान आदि सम्बन्धी (वा) अथवा (वैदिकम्) वेदविषयक (तथा) तथा (आध्यात्मिकम्+एव) आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी (ज्ञानम्) ज्ञान (आददीत) प्राप्त करे (तम्) उसको (पूर्वम्+अभिवादयेत्) पहले नमस्कार करे ॥ ९२ ॥

गुरु की शय्या और आसन पर न बैठे—

शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत् ।

शय्यासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ॥ ९४ ॥ [२।११९] (७६)

(श्रेयसा) गुरुजन आदि बड़ों द्वारा (अध्याचरिते) प्रयोग में लायी जाने वाली (शय्या—आसने) शय्या पलंग आदि और आसन पर (न समाविशेत्) न बैठे (च) और (शय्यासनस्थ:) यदि अपनी शय्या और आसन पर लेटा या बैठा हो तो (एनम्) इन गुरुजन आदि बड़ों को (प्रत्युत्थाय+अभिवादयेत्) उनके आने पर उठकर नमस्कार करे ॥ ९४ ॥

बड़ों को अभिवादन से मानसिक प्रसन्नता—

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति ।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते ॥९५॥ [२।१२०] (७७)

(स्थविरे+आयति) विद्या, पद, आयु आदि में बड़ों के आने पर (यूनः प्राणाः) छोटों के प्राण (उत्क्रामन्ति) ऊपर को उभरने-से लगते हैं अर्थात् प्राणों में हलचल, घबराहट-सी उत्पन्न होने लगती है (हि) किन्तु (प्रत्युत्थान–अभिवादाभ्याम्) उठने और नमस्कार करने से (पुनः) फिर से (तान् प्रतिपद्यते) शिष्य प्राणों की सामान्य-स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त कर लेता है अर्थात् प्राणों की घबराहट, हलचल और उभराव दूर हो जाते हैं ॥९५॥❀

अभिवादन और सेवा से आयु, विद्या, यश, बल की वृद्धि--

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायशो बलम् ॥९६॥ [२।१२१] (७८)

(अभिवादनशीलस्य) अभिवादन करने का जिसका स्वभाव और (नित्यं वृद्धोपसेविनः) विद्या वा अवस्था में वृद्ध पुरुषों का जो नित्य सेवन करता है (तस्य आयुः विद्या यशः बलं चत्वारि वर्धन्ते) उसकी आयु, विद्या, कीर्त्ति और बल, इन चारों की नित्य उन्नति हुआ करती है ॥ ९६ ॥

(सं० वि० पृ० ८५)

"जो सदा नम्र सुशील विद्वान् और वृद्धों की सेवा करता है उसका आयु, विद्या, कीर्ति और बल ये चार सदा बढ़ते हैं और जो ऐसा नहीं करता उनके आयु आदि चार नहीं बढ़ते" । (स० प्र० पृ० ४६)

अनुशीलन : अभिवादनादि से आयु-विद्या-बल-यश की वृद्धि कैसे ? यहां प्रश्न उठता है कि अभिवादनशील और नित्यवृद्धोपसेवी व्यक्ति के आयु, विद्या, यश और बल कैसे बढ़ते हैं ? इनका परस्पर क्या सम्बन्ध है ? इन मान्यताओं का उत्तर

❀[प्रचलित अर्थ— युवा लोगों के प्राण वृद्ध लोगों के आने पर ऊपर चढ़ते हैं और अभ्युत्थान तथा प्रणाम करने से वह युवा पुरुष उन्हें पुनः प्राप्त कर लेता है ॥ १२० ॥]

मनु के भावों से खोजकर यहां स्पष्ट किया जाता है। उससे पूर्व, उत्तर से सम्बन्धित दो बातों को स्पष्ट करना आवश्यक है—एक तो यह कि जो व्यक्ति अभिवादनशील और सेवा करने की प्रवृत्ति का होता है, वह स्वभाव से ही विनम्र एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अधिक गुणग्राही होता है। उस पर सेव्य और अभिवाद्य व्यक्तियों के गुणों का प्रभाव आता रहता है। दूसरी बात यह है कि वृद्ध व्यक्तियों से यहां वयोवृद्ध व्यक्तियों के साथ-साथ विशेषरूप से विद्या-अनुभववृद्ध विद्वान् व्यक्तियों से अभिप्राय है। मनु ने यह मान्यता २। १२६–१३१ [२। १५१—१५६] श्लोकों में स्पष्ट कर दी है, विशेष रूप से निम्न श्लोक में तुलनात्मक रूप में—

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।
यो वै युवाऽप्यधीयानस्तं देवा स्थविरं विदुः॥ २॥ १३१ [२।१५६]

इनके स्पष्टीकरणके उपरान्त अब उन चार लाभों पर विचार कियाजाता है—

(१) मनु ने २। ९७ से १०१ [२। १२२ से १२६] में अभिवादन का विधान किया है और इसे प्रत्येक विद्यार्थी और व्यक्ति के लिए अच्छा गुण माना है। अभिवादनशील और वृद्धसेवी व्यक्ति विनम्र होता है। उसके आदर करने के स्वभाव, विनम्रता और सेवा-सुश्रूषा, सुशीलता आदि गुणों के कारण उसकी सभी स्थानों पर प्रशंसा होती है। इस प्रकार उसका यश बढ़ता है।

(२) अभिवादनशील और सेवा शुश्रूषा करने वाले व्यक्ति के इन गुणों से प्रभावित होकर विद्वानों की स्वाभाविक रूप से अधिक विद्या प्रदान करने की भावना बनती है। वह अपने इन गुणों के प्रभाव से विद्या-अनुभव-वयोवृद्ध विद्वानों से उनकी बुद्धि में अन्तर्निहित ज्ञान को जैसे स्वतः आकृष्ट कर लेता है। एक बहुत उपयुक्त उदाहरण द्वारा मनु ने इस बात को स्वयं समझाया है—

यथा खनन् खनित्रेण नरोवार्यधिगच्छति।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति॥ २। १९३ [२। २१८]

इन गुणों से रहित व्यक्ति को विद्या नहीं आती। यही कारण है कि विद्या प्राप्ति के इच्छुक व्यक्तियों में मनु ने और सभी शास्त्रों ने सेवा भावना को आवश्यक माना है—"**धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वाऽपि तद्विधा। तत्र विद्या न वक्तव्या =॥**" २।८७ [२। ११२], "**शुश्रूषुः......अध्याप्या दश धर्मतः**" । २।८४ [२। १०६]। इस प्रकार विद्यावृद्धि होती है। अभिवादनशील और सेवाभावी के प्रति प्रत्येक व्यक्ति का स्नेह उमड़ पड़ता है और वह चाहता है कि मैं इसका जितना हो सके भला करूं।

(३–४) जो विद्यार्थी या व्यक्ति अभिवादनशील, शुश्रूषु होकर विद्या-अनुभव-वयोवृद्ध व्यक्तियों के सान्निध्य में रहेगा तो उसे उनसे धर्म अर्थात् सदाचार शुद्धि, ईश्वरोपासना, श्रेष्ठ गुण और अनुभव, योगसिद्धि आदि का ज्ञान एवं शिक्षा-

दीक्षा प्राप्त होगी। ध्यान देने योग्य बात है कि यहाँ 'उपसेविनः' पद का प्रयोग है जिसका विशेष अर्थ है—'वृद्धों के समीप रहकर सेवा करना'। इन बातों को स्पष्ट करने के लिए मनु के उदाहरण प्रस्तुत हैं—

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेत् शौचमादितः ।
आचारमग्निकार्यं च संध्योपासनमेव च ॥ २।४४ [२।६९]

यही शिक्षाएं अभिवादनशील और विद्या-वयोवृद्धों के समीप गुरुवत् प्राप्त होती रहती हैं। तन, मन की शुद्धि से [५।१०९] नीरोग होकर, सदाचार, अग्निहोत्र-सन्ध्योपासना आदि धर्मपालन से आयु एवं बल की वृद्धि होती है। इसकी पुष्टि में मनु के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(क) शुद्धि एवं संन्ध्योपासना आदि से आयुवृद्धि—

१. **उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः ।**
पूर्वां संध्यां जपन् तिष्ठेत् स्वकाले चापरां चिरम् ॥

२. **ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वात् दीर्घमायुरवाप्नुयुः ।**
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च ॥ ४।९३-९४ ॥

(ख) सदाचार से आयु-बल वृद्धि—

१. **आचाराल्लभते ह्यायुः आचारादीप्सिताः प्रजाः ॥**

२. **सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः ।**
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥ ४।१५६, १५८ ॥

सदाचार से आयुवृद्धि और दुराचार से अल्पायु-वर्णन सम्बन्धी अन्य श्लोक ४।१५७, ४।१३४, १।४१-४२ भी द्रष्टव्य हैं।

(ग) धार्मिक-सात्त्विक व्रतों से आयु-यश आदि की वृद्धि—

१. **स्वर्ग्यायुष्ययशस्यानि व्रतानीमानि धारयेत् ॥ ४।१३।**

(वे व्रत ४।१४ से २५८ तक विहित हैं)

इन सब बल-आयु-वर्धक बातों का ज्ञान-अनुभव, विद्या-अनुभव-वयोवृद्ध व्यक्तियों के सान्निध्य से प्राप्त होता है, और उनका सान्निध्य अभिवादनशीलता, सेवा-शुश्रूषा से प्राप्त होता है। इस प्रकार श्लोकोक्त गुणों से बल और आयु की वृद्धि होती है।

अभिवादन-विधि—

अभिवादात्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन् ।
असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत् ॥९७॥ [२।१२२] (७९)

(विप्र:) द्विज (ज्यायांसम्+अभिवादयन्) अपने से बड़े को नमस्कार करते हुए (अभिवादात् परम्) अभिवादनसूचक शब्द के बाद ('अहं असौ नामा अस्मि' इति) 'मैं अमुक नाम वाला हूँ' ऐसा कहते हुए (स्वं नाम परिकीर्त्तयेत्) अपना नाम बतलाये, जैसे—अभिवादये अहं देवदत्तः............ [शेष विधि । ९९ में है] ॥ ९७ ॥

भोःशब्दं कीर्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नोऽभिवादने ।
नाम्नां स्वरूपभावो हि भो भाव ऋषिभिः स्मृतः ॥९९॥[२।१२४](८०)

[२ । ९७ में विहित प्रक्रिया पूरी होने के बाद फिर] (अभिवादने) अभिवादन में (स्वस्य नाम्नः अन्ते) अपना नाम बताने के पश्चात् ('भोः' शब्दं कीर्तयेत्) 'भोः' यह शब्द लगाये (हि) क्योंकि (ऋषिभिः) ऋषियों ने (भोभावः नाम्नां स्वरूपभावः स्मृतः) 'भोः' के अभिप्राय को नामों के स्वरूप का द्योतक ही माना है अर्थात् 'भोः' संबोधन के उच्चारण में ही नाम का अन्तर्भाव स्वतः हो जाता है [२।१०३]। जैसे—"अभिवादये अहं देवदत्तः 'भोः' ॥९९॥

अभिवादन का उत्तर देने की विधि—

आयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने ।
अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः ॥१००॥[२।१२५[(८१)

(अभिवादने) अभिवादन का उत्तर देते समय (विप्रः) द्विज को (सौम्य 'आयुष्मान् भव' 'इति वाच्यः) 'हे सौम्य ! आयुष्मान् हो' ऐसा कहना चाहिए (च) और (अस्य नाम्नः+अन्ते अकारः पूर्वाक्षरः प्लुतः) नमस्कार करने वाले के नाम के अन्तिम अकार आदि स्वरों को पहले अक्षर सहित प्लुत की ध्वनि [तीन मात्राओं के समय] में उच्चारण करे। जैसे—'देवदत्त' नाम में अन्तिम स्वर अकार है, जो 'त्' में मिला हुआ है। इस प्रकार 'त्' सहित अकार को अर्थात् अन्तिम 'त' को ही प्लुत बोले। उदाहरण है—"आयुष्मान् भव सौम्य देवदत्त ३" अथवा "आयुष्मान् भव सौम्य यज्ञदत्त३" ॥ १०० ॥

अभिवादन का उत्तर न देने वाले को अभिवादन न करें—

यो न वेत्त्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम् ।
नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः ॥१०१॥ [२।१२६] (८२)

(यः विप्रः) जो द्विज (अभिवादस्य प्रत्यभिवादनम्) अभिवादन करने के उत्तर में अभिवादन करना नहीं जानता अर्थात् नहीं करता (विदुषा सः न+अभिवाद्यः) बुद्धिमान् आदमी को उसे नमस्कार नहीं करना

चाहिए, क्योंकि (सः यथा शूद्रः तथा+एव) वह शूद्र के समान है ॥ १०१ ॥

वर्णानुसार कुशल प्रश्नविधि—

ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम् ।
वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च ॥१०२॥ [२।१२७] (८३)

[मिलने पर, नमस्कार के बाद] (ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्) ब्राह्मण से कुशलता—प्रसन्नता एवं वेदाध्ययन आदि की निर्विघ्नता, (क्षत्रबन्धुम्+अनामयम्) क्षत्रिय के बल आदि की दृष्टि से स्वास्थ्य के विषय में, (वैश्यं क्षेमम्) वैश्य से क्षेम—धन आदि की सुरक्षा और आनन्द के विषय में, (च) और (शूद्रम्+आरोग्यम्+एव) शूद्र से स्वस्थता के विषय में (पृच्छेत्) पूछे। अभिप्राय यह है कि वर्णानुसार उनके मुख्य उद्देश्यसाधक व्यवहारों की निर्विघ्नता के विषय में प्रधानता से पूछे ॥ १०२ ॥

दीक्षित के नामोच्चारण का निषेध—

अवाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानपि यो भवेत् ।
भोभवत्पूर्वकं त्वेनमभिभाषेत धर्मवित् ॥१०३॥ [२।१२८] (८४)

(दीक्षितः) उपनयन में दीक्षित (यः यवीयान्+अपि भवेत्) यदि कोई छोटा भी हो तो उसे (नाम्ना अवाच्यः) नाम लेकर नहीं पुकारना चाहिए (धर्मवित्) व्यवहार में चतुर व्यक्ति को चाहिए कि वह (एनं 'भो' 'भवत्' पूर्वकम् अभिभाषेत) अपने से छोटे व्यक्ति को 'भो' 'भवत्' जैसे आदरबोधक शब्दों से सम्बोधित करे ॥ १०३ ॥

परस्त्री के नामोच्चारण का निषेध—

परपत्नी तु या स्त्री स्यादसम्बन्धा च योनितः ।
तां ब्रूयाद्भवतीत्येवं सुभगे भगिनीति च ॥१०४॥ [२।१२९] (८५)

(या परपत्नी च योनितः असम्बन्धा स्त्री स्यात्) जो कोई दूसरे की पत्नी और योनि से सम्बन्ध न रखने वाली स्त्री अर्थात् बहन आदि न हो (ताम्) उसे ('भवति' 'सुभगे' 'भगिनी' इति+एवं ब्रूयात्) 'भवति !' [=आप] 'सुभगे !' [=सौभाग्यवति !] 'भगिनी !' [=बहन] इस प्रकार के शब्दों से सम्बोधित करे ॥ १०४ ॥

सम्मान के आधार—

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी ।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥१११॥ [२।१३६] (८६)

(वित्तं बन्धुः वयः कर्म) एक—धन, दूसरे—बंधु, कुटुम्ब, कुल, तीसरी—आयु, चौथा—उत्तम कर्म (पञ्चमी विद्या भवति) और पांचवीं—श्रेष्ठविद्या (एतानि मान्यस्थानानि) ये पांच मान्य के स्थान हैं, परन्तु (यद्-यद्+उत्तरं गरीयः) [जो-जो परला है वह अतिशयता से उत्तम है] धन से उत्तम बन्धु, बन्धु से अधिक आयु, आयु से श्रेष्ठ कर्म और कर्म से पवित्र विद्या वाले उत्तरोत्तर अधिक माननीय हैं ॥ १११ ॥

(स० प्र० पृ० २५६)

अनुशीलन : **विशिष्ट विद्वान् सर्वाधिक सम्मान्य**—लौकिक और वैदिक क्षेत्र, दोनों में ही विशिष्ट विद्वान्व्यक्ति सर्वाधिक सम्मान्य होता है। अन्य प्रमाणों से भी यह बात स्पष्ट होती है—

"**यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति, पारोवर्यवित्सु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति ।**" (निरु० १ । १४)=जगत् में अधिक विद्याज्ञाता सबसे विशेष माना जाता है, इसी प्रकार वेदविद्यावेत्ताओं में भी जो अधिक वेदविद्या का ज्ञाता है वह अधिक सम्मान्य एवं महान् है।

पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च ।
यत्र स्युः सोऽत्र मानार्हः शूद्रोऽपि दशमीं गतः ॥११२॥ [२।१३७] (८७)

(त्रिषु वर्णेषु) तीनों वर्णों में अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों में परस्पर (पञ्चानां यत्र भूयांसि गुणवन्ति स्युः) उक्त [२ । १११] पांच गुणों में उत्तरोत्तर स्तर वाले अधिक गुण जिसमें हों (अत्र सः मानार्हः) समाज में वह कम गुणवालों के द्वारा सम्मान करने योग्य है (दशमीं गतः शूद्रः+अपि) तथा दशमी अवस्था अर्थात् नब्बे वर्ष से अधिक आयुवाला शूद्र भी सब के द्वारा सम्मान देने योग्य है ॥ ११२ ॥

किस-किस के लिए मार्ग दें—

चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियाः ।
स्नातकस्य च राज्ञश्च पंथा देयो वरस्य च ॥११३॥[२।१३८](८८)

(चक्रिणः) सवारी अर्थात् रथ, गाड़ी आदि में बैठे हुए को (दशमीस्थस्य) दशमी अवस्था वाले अर्थात् नब्बे वर्ष से अधिक आयु वाले को (रोगिणः) रोगी को (भारिणः) बोझ उठाये हुए को (स्त्रियः) स्त्री को (च) और (स्नातकस्य) स्नातक को (राज्ञः) राजा को (च) तथा (वरस्य) दूल्हे को (पन्था देयः) पहले रास्ता दे देना चाहिए ॥ ११३ ॥

राजा और स्नातक में स्नातक अधिक मान्य—

तेषां तु समवेतानां मान्यौ स्नातकपार्थिवौ ।
राजस्नातकयोश्चैव स्नातको नृपमानभाक् ॥११४॥ [२।१३९] (८९)

(तेषाम् तु) उन [२ । ११३] सब के (समवेतानाम्) एकत्रित होने पर (स्नातक-पार्थिवौ मान्यौ) स्नातक और राजा सबके सम्मान के योग्य हैं (च) और (राजस्नातकयोः एव) राजा तथा स्नातक में भी (स्नातकः) स्नातक ही (नृपमानभाक्) राजा के द्वारा सम्मान पाने योग्य है अर्थात् स्नातक विद्वान् सबसे अधिक सम्मान का पात्र है ॥ ११४ ॥

आचार्य का लक्षण—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ ११५ ॥ [२ । १४०] (९०)

(यः उपनीय तु) जो यज्ञोपवीत कराके (सकल्पं च सरहस्यम्) कल्पसूत्र और वेदान्तसहित (शिष्यं वेदम्+अध्यापयेत्) शिष्य को वेद पढ़ावे (तम्+आचार्यं प्रचक्षते) उसको 'आचार्य' कहते हैं ॥ ११५ ॥

(द० ल० वे० पृ० ४)

"जो ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य गुरु अपने शिष्य को यज्ञोपवीत आदि धर्म क्रिया कराने के बाद वेद को अर्थ और कलासहित पढ़ावे तो ही उसको आचार्य कहना चाहिए।" (द० ल० शि० पृ० ८९)

अनुशीलन : **कल्प से अभिप्राय**—यहां 'कल्प' से किसी ग्रन्थ-विशेष से अभिप्राय नहीं है अपितु वेदोक्त यज्ञ, धर्मक्रियाओं आदि का निरूपण जिसमें होता है, उस विद्याविशेष से है।

उपाध्याय का लक्षण—

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः ।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ॥ ११६ ॥ [२।१४१] (९१)

(यः) जो (वृत्ति+अर्थम्) जीविका के लिए (वेदस्य एकदेशम्) वेद के किसी एक भाग या अंश को (अपि वा पुनः वेदांगानि) या फिर वेदांगों= शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दशास्त्र और ज्योतिष विद्याओं को (अध्यापयति) पढ़ाता है (सः उपाध्यायः उच्यते) वह 'उपाध्याय' कहलाता है ॥ ११६ ॥

अनुशीलन : वेदांगों से यहां तत्तद् विद्याविशेष ग्रहण करना चाहिए, कोई ग्रन्थविशेष नहीं।

पिता-गुरु का लक्षण—

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ॥ ११७ ॥

[२।१४२] (६२)

(यः) यथाविधि) जो विधि-अनुसार (निषेकादीनि कर्माणि करोति) गर्भाधान आदि संस्कारों को करता है (च) तथा (अन्नेन संभावयति) अन्न आदि भोज्य पदार्थों द्वारा बालक का पालन-पोषण करता है (स विप्रः) वह विद्वान् द्विज (गुरुः+उच्यते) 'गुरु' कहलाता है ॥ ११७ ॥

"जो वीर्यदान से लेके भोजनादि कराके पालन करता है, इससे पिता को 'गुरु' कहते हैं।" (द० ल० आ० पृ० २७६)

"निषेक—अर्थात् ऋतु-प्रदान यह प्रथम संस्कार है। पिता निषेक करता है, इसलिए पिता ही मुख्य गुरु है।" (पू० प्र० पृ० ७७)

ऋत्विक् का लक्षण—

अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान्मखान् ।
यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते ॥११८॥ [२।१४३] (६३)

(यः वृतः) जो ब्राह्मण किसी के द्वारा वरण किये जाने पर (तस्य) उस वरण करने वाले के (अग्न्याधेयम्) अग्निहोत्र (पाकयज्ञान्) बलिवैश्वदेव आदि तथा पूर्णिमा आदि विशेष उपलक्ष्यों पर किये जाने वाले यज्ञों को (अग्निष्टोम+आदिकान् मखान्) अग्निष्टोम आदि बड़े यज्ञों को (करोति) करता है (सः तस्य ऋत्विक् उच्यते) वह उस वरण करने वाले का 'ऋत्विक्' कहलाता है ॥ ११८ ॥

अनुशीलन : ऋत्विज् का अधिकारी कौन—ऋत्विज् कैसे होने चाहिएं, इस पर महर्षि दयानन्द ने प्रकाश डाला है, जो उद्धरणीय है—"ऋत्विजों के लक्षण—अच्छे विद्वान्, धार्मिक, जितेन्द्रिय, कर्म करने में कुशल, निर्लोभ, परोपकारी, दुर्व्यसनों से रहित, कुलीन, सुशील वैदिक मत वाले, वेदवित् एक, दो, तीन अथवा चार का वरण करें।" (सं० वि० सामान्य प्र०)

अध्यापक या आचार्य की महत्ता—

य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ ।
स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत्कदाचन ॥ ११९ ॥ [२।१४४[(६४)

(यः ब्रह्मणा) जो गुरु या आचार्य वेदज्ञान के द्वारा (उभौ श्रवणौ अवितथम् आवृणोति) दोनों कानों को भलीभांति परिपूर्ण करता है [सुनाता-पढ़ाता है] (सः माता सः पिता ज्ञेयः) उसे माता, पिता समझना चाहिए

(तं कदाचन न द्रुह्येत्) और उससे कभी द्रोह [=ईर्ष्या-अपमान] न करे ॥ ११६ ॥

अनुशीलन : ११६ की **निरुक्त से तुलना**—निरुक्त शास्त्र में महर्षि यास्क ने किसी प्राचीन ग्रन्थ का श्लोक उद्धृत किया है, जो मनु के श्लोक से भाव और शब्दों की दृष्टि से पर्याप्त मिलता-जुलता है। तुलना कीजिए—

य आवृणोत्यवितथेन कर्णो-अदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन् ।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्चनाह ॥ (निरु० २।१।४)

पिता से वेदज्ञानदाता आचार्य बड़ा होता है—

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता ।
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ १२१ ॥ [२।१४६] (६५)

(उत्पादक-ब्रह्मदात्रोः) उत्पन्न करने वाले पिता और विद्या या वेद-ज्ञान देनेवाले पिता आचार्य [११५] में (ब्रह्मदः पिता गरीयान्) वेदज्ञान देनेवाला आचार्य रूप पिता ही अधिक बड़ा और माननीय है (हि) क्योंकि (विप्रस्य) द्विज का (ब्रह्मजन्म) [शरीर-जन्म की अपेक्षा] ब्रह्मजन्म=उप-नयन में दीक्षित करके वेदाध्ययन एवं ईश्वरज्ञान कराना ही (इह च प्रेत्य शाश्वतम्) इस जन्म और परजन्म में स्थिर रहने वाला है अर्थात् शरीर तो इस जन्म के साथ ही नष्ट हो जाता है किन्तु योग तथा विद्या के संस्कार मुक्तिप्राप्ति तक साथ देते हैं ॥ १२१ ॥

अनुशीलन : **ब्रह्मजन्म से अभिप्राय**—आचार्य उपनयन संस्कार के द्वारा वेदाध्ययन और ईश्वरज्ञान कराके एक जन्म प्रदान करता है, जिसे इस श्लोक में 'ब्रह्मजन्म' की संज्ञा दी है। यह जन्म शाश्वत सुखदायक है अर्थात् मुक्तिपर्यन्त इस जन्म और परजन्मों में सुखदायक है। इसी जन्म के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को द्विज (**द्विर्जायते इति द्विजः**) कहा जाता है। यह अनुष्ठान वेदाधारित ही है; द्रष्टव्य है प्रमाणरूप में एक मन्त्र=जिसका भाव मनुस्मृति के २।११-१२, ४३, ४८ आदि में भी आता है—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः ।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्त्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥

(अथर्व० ११।५।१)

"आचार्य ब्रह्मचारी को प्रतिज्ञापूर्वक समीप रखके तीन रात्रि पर्यन्त संध्यो-पासनादि सत्पुरुषों के आचार की शिक्षा कर उसके आत्मा के भीतर गर्भरूप विद्या-स्थापन करने के लिए उसको पूर्ण विद्वान् करदेता और जब वह पूर्ण ब्रह्मचर्य और विद्या को पूर्ण करके घर को आता है तब उसको देखने के लिए सब विद्वान् लोग सम्मुख जाकर बड़ा मान्य करते हैं (सं० वि० ६४)

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः ।
संभूतिं तस्य तां विद्याद्यद्योनावभिजायते ।। १२२ ।।[२।१४७](९६)

(माता च पिता यत् एनं मिथः उत्पादयतः) माता और पिता जो इस बालक को मिलकर उत्पन्न करते हैं, वह (कामात्) सन्तान-प्राप्ति की कामना से करते हैं (यत्+योनौ+अभिजायते) वह जो माता के गर्भ से उत्पन्न होता है (तस्य तां संभूतिं विद्यात्) उसका वह साधारणरूप से संसार मेंप्रकट होना मात्र जन्म है अर्थात् वास्तविक जन्म तो उपनयन में दीक्षित करके शिक्षा के रूप में आचार्य ही देता है जिससे मनुष्य वास्तव में मनुष्य बनता है ।।१२२।।

आचार्य द्वारा प्रदत्त ब्रह्मजन्म स्थिर होता है—

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः ।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजरामरा ।।१२३।। [२।१४८](९७)

(वेदपारगः आचार्यः) वेदों में पारंगत आचार्य [२।११५ (२।१४०)] (विधिवत्) विधि-अनुसार (सावित्र्या) गायत्रीमन्त्र की दीक्षापूर्वक [२।४४, ४६, ५१-५३] अर्थात् उपनयन संस्कार से [२।११-१२] (अस्य) इस विद्यार्थी या व्यक्ति के (यां जातिम् उत्पादयति) जिस जन्म अर्थात् ब्रह्म-जन्म को प्रदान करता है [द्रष्टव्य २।१२१, १२२, १२५ श्लोक] (सा तु) वही जन्म तो (सत्या) वास्तविक मनुष्य जन्म है, (सा+अजरा+अमरा) वह जन्म अजरता=कभी क्षीण न होना और अमरता—मृत्यु अर्थात् विनाश को न प्राप्त होना आदि गुणों से युक्त है अर्थात् वेद और ईश्वर-ज्ञान-रूपी जन्म में दीक्षित होकर मनुष्य अजर-अमर मुक्ति पद को प्राप्त कर लेता है । यही मनुष्य का सत्य अर्थात् वास्तविक उद्देश्य, है । सुशिक्षा के बिना मनुष्य 'मनुष्य' नहीं बनता ।। १२३ ।।

अनुशीलन : **'जाति' शब्दार्थ का विवेचन**—'जन्' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय के योग से 'जाति' शब्द निष्पन्न होता है । यहां यह 'जन्म' के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त है और 'ब्रह्मजन्म' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, अन्य किसी जातिविशेष के लिए नहीं—

(क) पूर्वापर श्लोकों में इन्हीं गुण वाले ब्रह्मजन्म का प्रसंग है । १२१ में माता से प्राप्त जन्म की अपेक्षा ब्रह्मजन्म को उत्कृष्ट एवं शाश्वत बतलाया है । १२२ और १२३ श्लोक उसके अर्थवाद हैं । १२२ में माता-पिता से प्राप्त जन्म कम महत्त्व वाला किस कारण से है यह स्पष्ट किया है । १२३ में ब्रह्मजन्म किस कारण से उत्कृष्ट है, यह स्पष्ट किया है । इस प्रकार उसी अर्थ की इनमें क्रमशः अनुवृत्ति है ।

(ख) १२५ में भी ब्रह्मजन्म का कथन है, जो आचार्य या गुरु द्वारा प्राप्त होता है, उसे ही 'जाति' कहते हैं।

(ग) इस श्लोक में 'जाति' ब्रह्मजन्म के अर्थ में प्रयुक्त है। इसकी सिद्धि मनु द्वारा प्रयुक्त विशेषणों से ही हो जाती है। 'सत्या, अजरा, अमरा' विशेषण अन्य किसी जाति में नहीं घटते अपितु ब्रह्मजन्म में ही घटते हैं, क्योंकि यही मुक्तिप्राप्ति में साधक होता है। देखिए—

"**ब्राह्मीयं क्रियते तनुः**" [२।३(२।२८), २।४३ (२।६८); २।२२४ (२।२४९); ४।१४; ४।१४८, १४९; ६।८१-८५ आदि]।

(घ) जाति का अर्थ 'जन्म' है। इसकी पुष्टि मनु स्वयं ९।२०१ श्लोक द्वारा करते हैं। वहां "**जात्यन्धबधिरौ**" अर्थात् '**जन्म से** अंधे और बहरे' यह प्रयोग 'जन्म' अर्थ में है। इस प्रकार यहां भी 'जाति' शब्द का 'जन्म' अर्थ ग्रहण करना ही मनु-सम्मत है। इसी अर्थ में १०। ४ में भी इसका प्रयोग है—

१. "**चतुर्थः एकजातिस्तु शूद्रः**" [१०। ४॥]

गुरु का सामान्य लक्षण—

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः।
तमपीह गुरुं विद्यात् श्रुतोपक्रियया तया॥१२४॥ [२।१४९](९८)

(यः यस्य) जो कोई जिस किसी का (श्रुतस्य अल्पं वा बहु उपकरोति) विद्या पढ़ाकर थोड़ा या अधिक उपकार करता है (तम्+अपि+इह) उसको भी इस संसार में (तया श्रुत+उपक्रियया) उस विद्या पढ़ाने के उपकार के कारण (गुरुं विद्यात्) गुरु समझना चाहिए॥ १२४॥

विद्वान् बालक वयोवृद्ध से बड़ा होता है—

ब्राह्मस्य जन्मनः कर्त्ता स्वधर्मस्य च शासिता।
बालोऽपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः॥१२५॥[२।१५०](९९)

(ब्राह्मस्य जन्मनः कर्त्ता) ईश्वरज्ञान एवं वेदाध्ययन के जन्म को देने वाला (स्वधर्मस्य च शासिता) और उसके अपने धर्म का उपदेश देने वाला (विप्रः) विद्वान् (बालः+अपि) बालक अर्थात् अल्पायु होते हुए भी (धर्मतः) धर्म से (वृद्धस्य पिता भवति) शिक्षा प्राप्त करने वाले दीर्घायु व्यक्ति का पिता अर्थात् गुरु के समान बड़ा होता है॥ १२५॥

उक्त विषय में आङ्गिरस का दृष्टान्त—

अध्यापयामास पितॄञ्शिशुराङ्गिरसः कविः।
पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान्॥१२६॥[२।१५१](१००)

[इस प्रसंग में एक इतिवृत्त भी है] (आङ्गिरसः शिशुः कविः) आङ्गि-

वंशी 'शिशु' नामक बालक विद्वान् ने (पितॄन्) अपने पिता के समान चाचा आदि पितरों को (अध्यापयामास) पढ़ाया (ज्ञानेन परिगृह्य) ज्ञान देने के कारण (तान् 'पुत्रका:' इति ह उवाच) उनको 'हे पुत्रो' इस शब्द से सम्बोधित किया ॥ १२६ ॥

अनुशीलन:(१) 'कवि' शब्द की व्युत्पत्ति—कवि: शब्द 'कु—शब्दे' (अदादि) धातु से 'अच इ:' (उणादि ४ । १३९) सूत्र से 'इ:' प्रत्यय लगने से बनता है। इसकी निरुक्ति है—

'क्रान्तदर्शना: क्रान्तप्रज्ञा वा विद्वांस:' (ऋ० द० ऋ० भू०)
"कवि: क्रान्तदर्शनो भवति" (निरुक्त १२ । १३)

इस प्रकार विद्याओं के सूक्ष्म तत्त्वों का द्रष्टा, बहुश्रुत ऋषि व्यक्ति कवि होता है। इसे 'अनूचान' भी इस प्रसंग में कहा है [२ । १२६] ब्राह्मणो में भी कवि के इस अर्थ पर प्रकाश डाला है—"ये वा अनूचानास्ते कवय:" (ऐ० २ । २)।

"एते वै कवयो यदृषय:" (श० १ । ४ । २ । ८)।
"ये विद्वांसस्ते कवय:" (७ । २ । २ । ४)।
शुश्रुवांसो वै कवय:" (तै० ३ । २ । २ । ३)।

(२) शिशु आङ्गिरस—यह अंगिरावंश का एक विद्वान् बालक था। बाल्यावस्था में मन्त्रद्रष्टा होने के कारण यह गुणाभिधान 'शिशु' नाम से ही प्रसिद्ध हो गया। इसका यह आख्यान ताण्ड्य ब्राह्मण १३।३।२३-२४ और पञ्च ब्रा० १३।३।२४ में यथावत् आता है। वहां इसे "मन्त्रकृतां मन्त्रकृत्" कहा है। ऋ० ९।११२ सूक्त,, इसी शिशु ऋषि द्वारा दृष्ट है। सामवेद में "यत्सोम चित्रम् ......" [उ० ३।२।१३] तृच् को इसके द्वारा दृष्ट होने के कारण ही "शैशव साम" कहा गया है।

ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यव: ।
देवाश्चैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं व: शिशुरुक्तवान् ॥१२७॥ [२।१५२] (१०१)

(आगतमन्यव: ते) [उक्त संबोधन को सुनकर] गुस्से में आये हुए उन पितरों ने (तम् अर्थं देवान् अपृच्छन्त) उस 'पुत्र' सम्बोधन के अर्थ अथवा औचित्य के विषय में देवताओं=बड़े विद्वानों से पूछा (च) और तब (देवा: समेत्य एतान् ऊचु:) सब विद्वानों ने एकमत होकर इनसे कहा कि (शिशु: व: न्याय्यम् उक्तवान्) तत्त्वदर्शी 'शिशु' आङ्गिरस ने तुम्हारे लिए 'पुत्र' शब्द का सम्बोधन ठीक ही किया है ॥ १२७ ॥

विद्वत्ता के आधार पर बालक और पिता की परिभाषा—

अज्ञो भवति वै बाल: पिता भवति मन्त्रद: ।
अज्ञं हि बालमित्याहु: पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥१२८॥ [२।१५३] (१०२)

(अज्ञः वै बालः भवति) चाहे सौ वर्ष का भी हो परन्तु जो विद्या-विज्ञान से रहित है वह बालक और (मन्त्रदः पिता भवति) जो विद्या-विज्ञान का दाता है उस बालक को भी वृद्ध [=पिता] मानना चाहिए (हि) क्योंकि सब शास्त्र, आप्त विद्वान् (अज्ञं बालम्+इति) अज्ञानी को बालक (मन्त्रदं तु पिता इत्येव आहुः) और ज्ञानी को पिता कहते हैं ॥ १२८ ॥
(स० प्र० २५६)

"अज्ञ अर्थात् जो कुछ नहीं पढ़ा वह निश्चय करके बालक होता है, और जो मन्त्रद अर्थात् दूसरे को विचार देनेवाला विद्या पढ़ा विद्याविचार में निपुण है वह पिता-स्थानीय होता है, क्योंकि जिस कारण सत्पुरुषों ने अज्ञजन को बालक कहा और मन्त्रद को पिता ही कहा है, इससे प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम सम्पन्न होकर ज्ञानवान् अवश्य होना चाहिए।
(सं० वि० पृ० ८५)

अवस्था आदि की अपेक्षा वेदज्ञानी की श्रेष्ठता—

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥१२९॥ [२।१५४](१०३)

(हायनैः) अधिक वर्षों के बीतने (पलितैः) श्वेत बाल के होने (वित्तेन) अधिक धन से (बन्धुभिः) बड़े कुटुम्ब के होने से (न) वृद्ध नहीं होता (ऋषयः धर्मं चक्रिरे) किन्तु ऋषि-महात्माओं का यही नियम है कि (नः यो अनूचानः स महान्) जो हमारे बीच में विद्या-विज्ञान में अधिक है, वही वृद्ध पुरुष कहाता है ॥ १२९ ॥ (स० प्र० पृ० २५६)

धर्मवेत्ता ऋषिजनों ने न वर्षों, न पके केशों वा झूलते हुए अङ्गों न धन और न बन्धु-जनों से बड़प्पन माना किन्तु यही धर्म निश्चय किया कि जो हम लोगों में वाद-विवाद में उत्तर देनेवाला अर्थात् वक्ता हो, वह बड़ा है।" (सं० वि० पृ० ८५)

अनुशीलन : 'अनूचान' सबसे महान्—अनु+वच्+लिट् उसको कानच् होकर शब्दसिद्धि होती है। इस श्लोक में स्थापित मान्यता वैदिक क्षेत्र में यथावत् मान्य रही है। निरुक्त के निम्न वचनों में यही भाव है—

(क) "यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति, पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति।" (१। १४) "तस्माद् यदेव किञ्चिदनूचानः अभ्यूहति आर्षं तद् भवति।" (परिशिष्ट १३।१२)।

अर्थात्—जैसे जगत् में अधिक विद्याओं का ज्ञाता विशेष व्यक्ति माना जाता है उसी प्रकार वेदवेत्ताओं में वेदविद्याओं का अधिक ज्ञाता प्रशंसनीय अर्थात् सबसे महान् माना जाता है। वेद-वेदांगों में पारगत विद्वान् तर्क द्वारा जिस मन्त्रार्थ का अनुसन्धान करता है वही आर्षवत् मान्य होता है।

(ख) शतपथ ब्राह्मण में भी 'अनूचान' व्यक्ति को विद्वानों में महान् माना है—
"यो वै ब्राह्मणानामनूचानतमः स एषां वीर्यवत्तमः" ॥ ४। ६। ६। ५ ॥

अर्थात्—जो ब्राह्मणों में परम विद्वान है वही इनमें अत्यन्त बलवान् अर्थात् सब से महान् है।

वर्णों में परस्पर ज्येष्ठता के आधार—

विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ॥१३०॥[२।१५५](१०४)

(विप्राणां ज्ञानतः) ब्राह्मण ज्ञान से (क्षत्रियाणां तु वीर्यतः) क्षत्रिय बल से (वैश्यानां धनधान्यतः) वैश्य धन-धान्य से और (शूद्राणां जन्मतः एव ज्यैष्ठ्यम्) शूद्र जन्म अर्थात् अधिक आयु से वृद्ध [=बड़ा] होता है ॥१३०॥
(स० प्र० पृ० २५६)

अवस्था की अपेक्षा ज्ञान से वृद्धत्व—

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।
यो वै युवाऽप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥१३१॥[२।१५६](१०५)

(तेन वृद्धः न भवति) उस कारण से वृद्ध नहीं होता (येन+अस्य शिरः पलितम्) कि जिससे इसका शिर फूल जाये, केश पक जावें (यः+वै युवा+अपि+अधीयानः) किन्तु जो जवान भी पढ़ा हुआ विद्वान् है (तं देवा स्थविरं विदुः) उसको विद्वानों ने वृद्ध जाना और माना है ॥ १३१ ॥
(सं० वि० पृ० ८५)

"शरीर के बाल श्वेत होने से बूढ़ा नहीं होता किन्तु जो युवा विद्या पढ़ा हुआ है, उसी को विद्वान् लोग बड़ा जानते हैं।" (स० प्र० पृ० २५६)

मूर्खता की निन्दा तथा मूर्ख का जीवन निष्फल—

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥१३२॥[२।१५७](१०६)

(यथा काष्ठमयः हस्ती) जैसे काठ का कठपुतला हाथी, वा (यथा-चर्ममयः मृगः) जैसे चमड़े का बनाया हुआ मृग हो (यः+च अनधीयान विप्रः) वैसे बिना पढ़ा हुआ विप्र अर्थात् ब्राह्मण वा बुद्धिमान् जन होता है (ते त्रयः नाम बिभ्रति) उक्त वे हाथी, मृग और विप्र तीनों नाममात्र धारण करते हैं ॥ १३२ ॥ (सं० वि० पृ० ८५)

"जो विद्या नहीं पढ़ा है वह जैसा काठ का हाथी, चमड़े का मृग

होता है, वैसा अविद्वान् मनुष्य जगत् में नाममात्र मनुष्य कहाता है।"
(स० प्र० पृ० २५६)

यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला ।
यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः ॥१३३॥ [२।१५८] (१०७)

(यथा स्त्रीषु षण्ढः अफलः) जैसे स्त्रियों में नपुंसक निष्फल है अर्थात् सन्तानरूपी फल को नहीं प्राप्त कर सकता (यथा गवि गौः अफला) और जैसे गायों में गाय निष्फल है अर्थात् जैसे गाय गाय से सन्तानरूपी फल को नहीं प्राप्त कर सकती (च) और (यथा अज्ञे दानम्) जैसे अज्ञानी व्यक्ति को दान निष्फल होता है (तथा) वैसे ही (अनृचः विप्रः अफलम्) वेद न पढ़ता हुआ अथवा वेद के पाण्डित्य से रहित ब्राह्मण निष्फल है अर्थात् उसका ब्राह्मणत्व सफल नहीं माना जा सकता क्योंकि वेदाध्ययन ही ब्राह्मण का सबसे प्रधान कर्म है ॥ १३३ ॥

गुरु-शिष्यों का व्यवहार—

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् ।
वाक्चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥१३४॥ [२।१५९] (१०८)

(अहिंसया+एव भूतानाम्) (विद्वान् और विद्यार्थियों को योग्य है कि) वैरबुद्धि छोड़के सब मनुष्यों के (श्रेयः+अनुशासनं कार्यम्) कल्याण के मार्ग का उपदेश करें (च) और (मधुरा श्लक्ष्णा वाक् प्रयोज्या) उपदेष्टा मधुर, सुशीलतायुक्त वाणी बोलें (धर्मम्+इच्छता) जो धर्म की उन्नति चाहे वह सदा सत्य में चले और सत्य ही का उपदेश करे ॥ १३४ ॥
(स० प्र० पृ० ४६)

"इसलिये विद्या पढ़ विद्वान् धर्मात्मा होकर निर्वैरता से सब प्राणियों के कल्याण का उपदेश करे और उपदेश में वाणी मधुर और कोमल बोले। जो सत्योपदेश से धर्म की वृद्धि और अधर्म का नाश करते हैं वे पुरुष धन्य हैं।" (स० प्र० पृ० २५६)

पवित्र मन वाला ही वैदिक कर्मों के फल को प्राप्त करता है—

यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा ।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥१३५॥ [२।१६०] (१०९)

(यस्य वाङ्मनसी) जिस मनुष्य के वाणी और मन (शुद्धे च सम्यग्गुप्ते सर्वदा) शुद्ध तथा सुरक्षित सदा रहते हैं (सः वै) वही (सर्वं वेदान्तोप-

गतं फलं प्राप्नोति) सब वेदान्त अर्थात् सब वेदों के सिद्धान्तरूप फल को प्राप्त होता है ।। १३५ ।।

अनुशीलन : इस भाव की पुष्टि और तुलना के लिए १।१०६,२।७२ श्लोक भी द्रष्टव्य हैं।

दूसरों से द्रोह आदि का निषेध—

नारुंतुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः ।
ययास्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत् ॥१३६॥ [२।१६१](११०)

मनुष्य (आर्तः+अपि) स्वयं दुःखी होता हुआ भी (अरुंतुदः न स्यात्) किसी दूसरे को कष्ट न पहुंचावे (न परद्रोहकर्मधीः) न दूसरे के प्रति ईर्ष्या या बुरा करने की भावना मन में लाये (अस्य यया वाचा उद्विजते) इस मनुष्य के जिस वचन से कोई दुःखित हो (ताम् अलोक्यां न उदीरयेत्) उस ऐसी लोक में अप्रशंसनीय वाणी को न बोले ।। १३६ ।।

ब्राह्मण के लिए अपमान-सहन का निर्देश—

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥१३७॥[२।१६२](१११)

(ब्राह्मणः) ब्राह्मण (विषात्+इव) विष के समान (सम्मानात्) उत्तम मान से (नित्यम्+उद्विजेत) नित्य उदासीनता रखे (च) और (अमृतस्य+इव) अमृत के समान (अवमानस्य सर्वदा आकांक्षेत्) अपमान की आकांक्षा सर्वदा करे अर्थात् ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के लिए भिक्षा मात्र मांगते भी कभी मान की इच्छा न करे ।। १३७ ।। (सं० वि० पृ० ८५)

"संन्यासी जगत् के सम्मान से विष के तुल्य डरता रहे और अमृत के समान अपमान की चाहना करता रहे। क्योंकि, जो अपमान से डरता और मान इच्छा करता है, वह प्रशंसक होकर मिथ्यावादी और पतित हो जाता है। इसलिए चाहे निन्दा, चाहे प्रशंसा, चाहे मान, चाहे अपमान, चाहे जीना, चाहे मृत्यु, चाहे हानि, चाहे लाभ हो, चाहे कोई प्रीति करे, चाहे कोई वैर बांधे, चाहे अन्न, पान, वस्त्र, उत्तम स्थान न मिले चाहे शीत उष्ण कितना ही क्यों न हो इत्यादि सबका सहन करे और अधर्म का खण्डन तथा धर्म का मण्डन सदा करता रहे। इससे परे उत्तम धर्म दूसरे किसी को न माने।" (सं० वि० पृ० २१६)

"वही ब्राह्मण समग्र वेद और परमेश्वर को जानता है जो प्रतिष्ठा से विष के तुल्य सदा डरता है और अपमान की इच्छा अमृत के समान किया करता है।" (स० प्र० पृ० ५०)

अनुशीलन : अपमान सहन का कथन क्यों ?—अभिप्राय यह है कि सम्मान या लोकैषणा की भावना मनुष्यमात्र को संसार में फंसाती है। जब तक मनुष्य में यह भावना रहती है, वह विरक्त नहीं हो सकता—सांसारिक मोहों को नहीं त्याग सकता। इसी भावना से अहंकार को बल मिलता है और वह उग्र होता चला जाता है। शास्त्रों के अनुसार मनुष्यमात्र का और विशेषतः ब्राह्मण का उद्देश्य ब्रह्म-प्राप्ति करना है [२।३, अन्यत्र २।२८], अहंकार ब्रह्मप्राप्ति में सर्वाधिक बाधक है। अपमान की कामना और सहिष्णुता से अहंकार क्षीण होता है, संसार से विरक्ति की भावना बढ़ती है, अपमान को सहने अर्थात् निन्दा सहने से दुर्गुणों का ह्रास होकर चरित्र में निर्मलता आती है। इनसे ब्रह्मप्राप्ति के उद्देश्य को पाने में सहायता मिलती है। ६।५७—५८ में मनु ने स्वयं इस मान्यता का कारण स्पष्ट किया है। इन भावों की पुष्टि के लिए ६।४७-४८ भी द्रष्टव्य हैं—

(क) अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः।
अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बद्धयते ॥ ६।५८॥

(ख) अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन ॥६।४७॥

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते।
सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ॥१३८॥[२।१६३](११२)

(हि) क्योंकि (अवमतः सुखं शेते) अपमान को सहन करने का अभ्यासी मनुष्य सुखपूर्वक सोता है (च) और (सुखं प्रतिबुध्यते) सुखपूर्वक जागता है अर्थात् जागृत अवस्था में भी सुखपूर्वक रहता है।अभिप्राय यह है कि मानव को सर्वाधिक रूप में व्यथित करने वाली मान-अपमान और उन से उत्पन्न होने वाली भावनाएँ उस व्यक्ति को सोते तथा जागते व्यथित नहीं करती, वह निश्चिन्त एवं शान्तिपूर्वक रहता है। (अस्मिन् लोके सुखं चरति) वह इस संसार में सुखपूर्वक विचरण करता है, तथा (अवमन्ता) अपमान में व्यथित होने वाला व्यक्ति (विनश्यति) [चिन्ता और शोक के कारण] विनाश को प्राप्त होता है ॥१३८॥

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः।
गुरौ वसन्सञ्चिनुयाद् ब्रह्माधिगमिकं तपः ॥१३९॥ [२।१६४] (११३)

(अनेन क्रमयोगेन) इसी प्रकार से [उपर्युक्त निर्देशों के अनुसार] (संस्कृतात्मा द्विजः) कृतोपनयन द्विज कुमार और ब्रह्मचारिणी कन्या* (शनैः) धीरे-धीरे (ब्रह्माधिगमिकं तपः) वेदार्थ के ज्ञानरूप उत्तम तप को (संचिनुयात्) बढ़ाते चले जायें ॥ १३९ ॥ (स० प्र० ५०)

* (गुरौ वसन्) गुरु के समीप अर्थात् गुरुकुल में रहते हुए.........

द्विज के लिए वेदाभ्यास की अनिवार्यता—

तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः ।
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना ॥१४०॥ [२।१६५] (११४)

(द्विजन्मना) द्विजमात्र को (विधिचोदितैः तपोविशेषैः च विविधैः व्रतैः) शास्त्रों में विहित विशेष तपों [ब्रह्मचर्यपालन, वेदाभ्यास, धर्म-पालन, प्राणायाम, द्वन्द्वसहन आदि २। १४१—१४२ (१६६—१६७); ६—७०—७२] और विविध व्रतों [२। १४६—१६४ में प्रदर्शित] का पालन करते हुए (कृत्स्नः वेदः) सम्पूर्ण वेदज्ञान को (सरहस्यः) रहस्य पूर्वक अर्थात् गूढार्थज्ञान-चिन्तनपूर्वक (अधिगन्तव्यः) अध्ययन करके प्राप्त करना चाहिए ॥ १४० ॥

वेदाभ्यास परम तप है—

वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन्द्विजोत्तमः ।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥१४१॥ [२।१६६] (११५)

(द्विजोत्तमः) द्विजोत्तम अर्थात् ब्राह्मणादिकों में उत्तम सज्जन पुरुष (सदा तपः तप्स्यन्) सर्वकाल तपश्चर्या करता हुआ (वेदम्+एव अभ्यस्येत्) वेद का ही अभ्यास करे (हि) जिस कारण (विप्रस्य) ब्राह्मण वा बुद्धिमान् जन को (वेदाभ्यासः) वेदाभ्यास करना (इह) इस संसार में (परं तपः उच्यते) परम तप कहा है ॥ १४१ ॥ (सं० वि० ८५)

आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः ।
यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायः शक्तितोऽन्वहम् ॥१४२॥[२।१६७] (११६)

(यः द्विजः) जो द्विज (स्रग्वी-अपि) माला धारण करके अर्थात् गृहस्थी होकर भी (अनु+अहम्) प्रतिदिन (शक्तितः स्वाध्यायम् अधीते) पूर्ण शक्ति से अर्थात् अधिक से अधिक प्रयत्नपूर्वक वेदों का अध्ययन करता रहता है (सः) वह (आ नखाग्रेभ्यः ह+एव) निश्चय ही पैरों के नाखून के अग्रभाग तक अर्थात् पूर्णतः (परमं तपः तप्यते) श्रेष्ठ तप करता है ॥१४२॥

अनुशीलन : स्रग्वी शब्द पर विचार—मनु ने माला आदि अलंकृत करने वाली वस्तुओं का धारण करना ब्रह्मचारी के लिए निषिद्ध किया है, [२। १५२ (१७७) ॥], किन्तु गृहस्थेच्छुक के लिए समावर्तन के अवसर पर माला धारण करने का विधान है [३। ३] "**स्रग्विणं तल्पआसीनम्**......"। प्रतीत होता है कि माला धारण करना गृहस्थाश्रम में प्रवेश की द्योतक एक परम्परा थी। शायद वही परम्परा आज वर-वधू द्वारा परस्पर माला डालने के रूप में प्रचलित है। यह माल्यार्पण

विवाह संस्कार से पूर्व होता है। इस प्रकार 'सर्वो' प्रयोग गृहस्थ के लिए रूढ शब्द है, अतः यहां इससे गृहस्थ अर्थ ग्रहण किया गया है।

वेदाभ्यास के बिना शूद्रत्व प्राप्ति—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥१४३॥[२।१६८](११७)

(यः द्विजः) जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य (वेदम् अनधीत्य) वेद को न पढ़कर (अन्यत्र श्रमं कुरुते) अन्य शास्त्र में श्रम करता है (सः) वह (जीवन्+एव) जीवता ही (सान्वयः) अपने वंश के सहित * (शूद्रत्वं गच्छति) शूद्रपन को प्राप्त हो जाता है ॥ १४३ ॥ (सं० वि० ८५)

* (आशु) शीघ्र ही······ ।

"जो वेद को न पढ़के अन्यत्र श्रम किया करता है, वह अपने पुत्र-पौत्र सहित शूद्रभाव को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।" (स० प्र० ५०)

अनुशीलन : वेद त्याग से कुटुम्ब की शूद्रता कैसे ? यहां शंका उत्पन्न होती है कि वेदाध्ययन में श्रम न करने वाले व्यक्ति के साथ उसका कुटुम्ब क्यों और कैसे शूद्रत्व को प्राप्त करता है ? इसका उत्तर यह है कि ऐसा व्यक्ति शूद्र नहीं बनता अपितु 'शूद्रत्व' को प्राप्त करता है। जो व्यक्ति वेदाध्ययन में यत्न न करके अन्यत्र श्रम करता है, उसमें विद्वत्ता और धार्मिकता का ह्रास होता जायेगा। अविद्वत्ता के कारण वह शूद्रपन के स्तर पर आ जायेगा। जब घर का प्रमुख व्यक्ति विद्वान् नहीं होगा तो उसके आश्रित पुत्र-पौत्रादि भी अशिक्षा से ग्रस्त होकर शूद्रभाव को प्राप्त करेंगे। द्विजों का मुख्य उद्देश्य वेदाध्ययन है। इसे त्यागकर अन्य कार्यों में श्रम करने वाला व्यक्ति द्विजत्वरहित हो जाता है। जैसे शूद्र वेदाध्ययन से रहित होता है वैसा ही वह व्यक्ति हो जाता है।

गुरुकुल में रहते हुए ब्रह्मचारी के पालनीय विविध नियम—

सेवेतेमांस्तु नियमान्ब्रह्मचारी गुरौ वसन्।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्ध्यर्थमात्मनः॥ १५० ॥[२।१७५] (११८)

(गुरौ वसन्) गुरु के समीप अर्थात् गुरुकुल में रहते हुए (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (आत्मनः तपोवृद्ध्यर्थम्) अपने विद्यारूप तप की वृद्धि के लिये (इन्द्रियग्रामं सन्नियम्य) इन्द्रियों के समूह [२। ६४-६७] को वश में करके (इमाम्+तु नियमान् सेवेत) इन आगे वर्णित नियमों का पालन करे ॥१५०॥

अनुशीलन : 'ब्रह्मचारी' शब्द की व्युत्पत्ति—ब्रह्मचारी शब्द 'ब्रह्मन्' शब्द उपपद में होने से 'चर गतौ' (भ्वादि) धातु से णिनिः प्रत्यय के योग से बनता है। विग्रह है—ब्रह्मणि वेदे चरितुं शीलं यस्य सः ब्रह्मचारी=वेदाध्ययन में जो निरन्तर रहता है वह 'ब्रह्मचारी' कहलाता है। प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्याश्रम है। इस

आश्रम में रहते हुए ब्रह्मचारी यज्ञोपवीत धारण करने के पश्चात् दीक्षित होकर गुरुकुल में अपने गुरु के साथ निवास करता है, तथा जबतक गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट नहीं हो जाता तब तक वेदाध्ययन के साथ-साथ ब्रह्मचर्याश्रम के नियमों का पालन करता है।

ब्रह्मचारी के दैनिक नियम—

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद् देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताऽभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च ॥१५१॥[२।१७६](११६)

[ब्रह्मचारी] (नित्यम्) प्रतिदिन (देव–ऋषि–पितृ–तर्पणम्) विद्वानों, ऋषियों, ज्ञानवयोवृद्ध व्यक्तियों की अभिवादन आदि प्रसन्नताकारक कार्यों, से तृप्ति=संतुष्टि (च) और (स्नात्वा शुचिः) स्नान करके, शुद्ध होकर (देवता+अभ्यर्चनम्) परमात्मा की उपासना (च) तथा (समिद्+आधानम्) अग्निहोत्र भी (कुर्यात्) किया करे॥ १५१ ॥❁

अनुशीलन : ब्रह्मचारी के लिए देव-ऋषि-पितर कौन ?—कई व्याख्याकारों ने इस श्लोक का अर्थ भ्रान्तिपूर्ण एवं मनुमान्यता से विरुद्ध किया है। इस श्लोक में गुरुकुल में रहते हुए ब्रह्मचारी के लिए देव-ऋषि-पितृ-तर्पण और 'देवता-अभ्यर्चन' का कथन है। यहां इन शब्दों के अर्थ एवं श्लोकाभिप्राय को विवेचनापूर्वक स्पष्ट करना आवश्यक है, जिससे किसी प्रकार की भ्रान्ति उत्पन्न न हो—

(१) देव, ऋषि, पितर ये विद्वानों और पालन-पोषणकर्त्ता ज्ञानवयोवृद्ध व्यक्तियों के स्तर विशेष हैं। पितृयज्ञ में 'मृतपितृतर्पण' की मान्यता को स्वीकारने वाले व्यक्ति भी इस बातको शतप्रतिशत रूपमें स्वीकार करते हैं कि पितृयज्ञ का विधान केवल गृहस्थों-वनस्थों के लिए ही है, ब्रह्मचारी के लिए नहीं। लेकिन मनु ने ब्रह्मचारी के लिए भी 'देवर्षिपितृतर्पण' की बात कही है तो इसका स्पष्ट अभिप्राय यह हुआ कि 'पितृतर्पण' का अर्थ मृतकों के लिए श्राद्ध करना नहीं है, अपितु यह एक ऐसा कार्य है जिसे ब्रह्मचारी भी कर सकते हैं। गुरुकुल में रहने वाले ब्रह्मचारी के लिए कौन देव, ऋषि और पितर हो सकते हैं, इसका २। ११५—१३१ श्लोकों में मनु ने गुरुजनों का वर्णन करके स्वयं संकेत दे दिया है। बाद में बताये हुए ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य उन्हीं विभिन्न स्तरीय गुरुजनों के साथ लागू हो सकते हैं। अतः वे ही उसके देव, ऋषि, पितर हैं, न कि कोई कल्पित देव या मृत पितर आदि। विभिन्नस्तरीय इन संज्ञा शब्दों के अर्थज्ञान और इनके स्वरूप को समझने के लिए ३। ८२ की समीक्षा में प्रमाणयुक्त विवेचन देखिये।

❁[**प्रचलित अर्थ**—ब्रह्मचारी नित्य स्नान कर देवताओं, ऋषियों तथा पितरों का तर्पण, शिव और विष्णु आदि देवमूर्तियों का पूजन तथा प्रातः एवं सायंकाल हवन करे ॥ १७६ ॥]

(२) **'देवता-अभ्यर्चन' से अभिप्राय—**

निरुक्त में कहा गया है कि **"यो देवः सा देवता"** [७।४।१५] देव को ही देवता कहा जाता है। देव शब्द से तल् और टाप् प्रत्यय के योग से देवता शब्द सिद्ध हुआ है। चेतन देवों के सन्दर्भ में देव शब्द का सबसे प्रमुख अर्थ 'परमात्मा' होता है। क्योंकि परमात्मदेव ही सब देवताओं का देवता है। जड़ देव उपयोग के योग्य होते हैं, चेतन देव (विद्वान्, माता, पिता आदि) सत्कार और सेवा के द्वारा प्रसन्न करने योग्य, लेकिन उपासना के योग्य केवल एक परमात्मा ही होता है, अन्य नहीं। अतः यहां 'देवताऽभ्यर्चनम्' से अभिप्राय परमात्मदेव की उपासना करने से है; यदि कहीं अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि नामों से देवताओं की स्तुति का वर्णन मिलता है तो वह भी उनके माध्यम से परमात्मा की ही स्तुति अभिप्रेत है। क्योंकि ये परमात्मा की ही दिव्यशक्तियां या गुण हैं, उसी के प्रत्यङ्ग हैं। भिन्न-भिन्न देवों की स्तुति से अभिप्राय होता है परमात्मा के उस-उस गुण की स्तुति करना। इस प्रकार सभी देव एक परमात्मा में ही समाहित होते हैं। निरुक्तकार ने इसको इस प्रकार स्पष्ट किया है—

(अ) **"महाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।**
एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।
कर्मजन्मानः आत्मजन्मानः, आत्मैवैषां रथो भवति,
आत्माश्वः, आत्मायुधम्, आत्मेषवः, सर्वं देवस्य देवस्य।" (निरुक्त ७।१।४)

अर्थात्—एक परमात्मा देव ही मुख्य देव है। सर्वशक्तिमत्त्वादि अनेक-विध ऐश्वर्यों से युक्त होने के कारण अनेक नामों-गुणों से उसकी स्तुति की जाती है, अन्य सभी देव इस महादेव परमात्मा के प्रत्यङ्गरूप हैं। उनका इसी में समाहार हो जाता है। उस एक अद्वितीय परमेश्वर के ही प्रकाश, धारण, उत्पादन करने से वे सब व्यवहार के देव प्रकाशित हो रहे हैं। इनका जन्म, कर्म और ईश्वर के सामर्थ्य से होता है। इनका रथ अर्थात् जो रमण का स्थान, अश्व अर्थात् शीघ्र सुखप्राप्ति का कारण, गमनहेतु; आयुध = शत्रुओं का नाश करके विजय प्राप्त कराने हारा; इषु = बाण के समान सब दुष्टगुणों और दुःखों का छेदन करने वाला शस्त्र, वही परमात्मा है। परमात्मा ने जितना-जितना जिस-जिस में दिव्यगुण रखा है उतना-उतना ही उन द्रव्यों में देवपन है अधिक नहीं। इस प्रकार अन्य सब देवता परमेश्वरवाची ही हैं।

इसमें वेदों का प्रमाण है—

(आ) **इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।**
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
(ऋ० १०।१६४।४६)

(इ) **तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः।**
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥ (यजु० ३२।१॥)

स्वयं मनुस्मृति के प्रमाण देखिए—

(ई) आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥ १२ । ११९ ॥

(उ) एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ १२ । १२३ ॥

(ऊ) मनु ने अनेक स्थानों पर उपास्य के रूप में केवल परमात्मा को ही स्वीकार किया है। प्रमाणरूप में द्रष्टव्य हैं—२।७६–७८ (२।१०१–१०३), ४।९२-९३, १२।११८, ११९, १२२, १२५ ॥

इस सम्पूर्ण विवेचन और प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि 'देवता-अभ्यर्चनम्' का यहां अर्थ परमात्मदेव की उपासना अर्थात् संध्या करने से है। अन्य अर्थ भ्रान्तिपूर्ण हैं। इस श्लोक में शिव, विष्णु की प्रतिमाओं के पूजन की कल्पना मनगढ़न्त है और अप्रामाणिक है।

(३) तर्पण का सही अभिप्राय—

'तृप्-तृप्तौ' धातु से ल्युट् प्रत्यय के योग से 'तर्पण' शब्द सिद्ध होता है। जिस का अर्थ है—प्रसन्न करना। "येन कर्मणा विदुषः देवान्, ऋषीन्, पितृंश्च तर्पयन्ति = सुखयन्ति, तत् तर्पणम् ।"=जिस कर्म से विद्वान् देवों, ऋषियों और पितरों को तृप्त अर्थात् सुख और प्रसन्नतायुक्त करते हैं, वह तर्पण है।' इसी प्रकार 'यत्तेषां श्रद्धया सेवनं क्रियते तत् श्राद्धम्' श्रद्धा से उनकी सेवा आदि करना श्राद्ध कहलाता है। इस प्रकार तर्पण करना मृत में नहीं अपितु जीवित व्यक्ति में ही संभव होता है। मनु इस श्लोक में यह कहना चाहते हैं कि ब्रह्मचारी को प्रतिदिन विद्वान्, देवों, ऋषियों और पितरों को प्रसन्न करने वाले सेवा, अन्न-भोजन, दान, अभिवादन, मधुरभाषण आदि कार्य करने चाहिएँ, यही उनका तर्पण है। ब्रह्मचारी का यह कर्त्तव्य है। इस प्रकार के आचरण से उसे विद्या की प्राप्ति शीघ्र और सुगमता से होती है। तर्पण के इस अर्थ की पुष्टि में मनु के निम्न श्लोक प्रत्यक्ष प्रमाण हैं—

(अ) यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥ २ । १९३॥

(आ) स्वाध्यायेनार्चयेद्-ऋषीन् होमैर्देवान् यथाविधि ।
पितॄन् श्राद्धैश्च नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा ॥३ । ८१॥

(इ) कुर्यादहरहः श्राद्धम् अन्नाद्येनोदकेन वा ।
पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥ ३ । ८२ ॥

(४) प्रमुख गुण के आधार पर ऋषि, देव, पितरों में अन्तर—

इस प्रकार २। ११५–१३१ श्लोकों में वर्णित विभिन्न अध्यापयिता विद्वान्

ही स्तर के अनुसार ऋषि, देव और पितर हैं। इनमें किसी विद्या के साक्षात् द्रष्टा, विशेषज्ञ 'ऋषि' कहलाते हैं। दिव्य-गुण आचरण की प्रधानता वाले विद्वान् 'देव' और पालक गुण की प्रधानता वाले वयोवृद्ध व्यक्ति एवं माता-पिता आदि गुरुजन 'पितर' होते हैं। ब्रह्मचारी को इनकी सेवा करनी चाहिए।

मद्य, मांस आदि का त्याग—

वर्जयेन्मधुमांसं च गन्धं माल्यं रसान्स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥१५२॥[२।१७७](१२०)

ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी (मधु-मांसं गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः) गंध,※ माला, रस, स्त्री और पुरुष का संग (सर्वाणि यानि शुक्तानि) सब खटाई (प्राणिनां हिंसनम्) प्राणियों की हिंसा············(वर्जयेत्) छोड़ देवें ॥ १५२ ॥

※(मधु-मांसम्) मदकारक मदिरा आदि पदार्थ और मांस···
(स० प्र० पृ० ५०)

अनुशीलन : मधु का अर्थ—इस श्लोक में मधु का अर्थ मदिरा है। 'माद्यते इति सतः' जो मद=नशा उत्पन्न करे अर्थात् मदिरा भांग आदि पदार्थ। मांस के साथ इस शब्द का प्रयोग और वह भी निषेधात्मक रूप में होने से इस अर्थ की पुष्टि स्वतः हो जाती है। शहद अर्थवाचक मधु को मनु अभक्ष्य नहीं मानते। यतो हि जातकर्म में उसका भक्षण के लिए विधान है—

"मन्त्रवत् प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम्" २।४ [२।२९]

अंजन, छाता, जूता आदि धारण का निषेध—

अभ्यङ्गमंजनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् ॥१५३॥[२।१७८](१२१)

(अभ्यंगम्) अंगों का मर्दन—बिना निमित्त उपस्थेन्द्रिय का स्पर्श (अक्ष्णोः च अञ्जनम्) आंखों में अञ्जन (उपानत्-छत्र-धारणम्) जूते, और, छत्र का धारण (कामं क्रोधं लोभं च) काम, क्रोध लोभ, मोह, भय, शोक, ईर्ष्या, द्वेष; [चकार से मोह, भय, शोक, ईर्ष्या, द्वेष, का ग्रहण किया है।] (च) और (नर्त्तनं गीत-वादनम्) नाच, गान, बाजा बजाना [इनको भी छोड़ देवे' यह पूर्वश्लोक से अनुवृत्ति आती है] ॥१५३॥ (स० प्र० पृ० ५०)

जुआ, निन्दा, स्त्रीदर्शन आदि का निषेध—

द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथाऽनृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥१५४॥[२।१७९](१२२)

(द्यूतम्) जूआ (जनवादम्) किसी की कथा (परिवादम्) निन्दा

(अनृतम्) मिथ्याभाषण (स्त्रीणां प्रेक्षण+आलम्भम्) स्त्रियों का दर्शन, आश्रय (परस्य उपघातम्) दूसरे की हानि आदि कुकर्मों को सदा छोड़ देवें।
॥ १५४ ॥ (स० प्र० ५०)

एकाकी शयन का विधान—

एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित् ।
कामाद्धि स्कन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥१५५॥[२।१८०](१२३)

(सर्वत्र एकः शयीत) सर्वत्र एकाकी सोवे (रेतः क्वचित् न स्कन्दयेत्) वीर्यस्खलित कभी न करे (कामात् हि रेतः स्कन्दयन्) काम से वीर्यस्खलित कर दे तो जानो कि (आत्मनः व्रतं हिनस्ति) अपने ब्रह्मचर्य व्रत का नाश कर दिया ॥ १५५ ॥ (स० प्र० पृ० ५०)

भिक्षासम्बन्धी नियम—

उदकुम्भं सुमनसो गोशकृन्मृत्तिकाकुशान् ।
आहरेद्यावदर्थानि भैक्षं चाहरहश्चरेत् ॥ १५७ ॥[२।१८२](१२४)

(उदकुम्भम्) पानी का घड़ा (सुमनसः) फूल (गोशकृत्) गोबर (मृत्तिका) मिट्टी (कुशान्) कुशाओं को (यावत्+अर्थानि) जितनी आवश्यकता हो उतनी ही (आहरेत्) लाकर रखे (च) और (भैक्षम्) भिक्षा भी (अहः+अहः चरेत्) प्रतिदिन-प्रतिदिन मांगकर खाये ॥ १५७ ॥

किनसे भिक्षा ग्रहण करे—

वेद-यज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु ।
ब्रह्मचार्याहरेद्भैक्षं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम् ॥१५८॥[२।१८३](१२५)

(ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (स्वकर्मसु प्रशस्तानाम्) अपने कर्त्तव्यों का पालन करने में सावधान रहने वालों के और (वेदयज्ञैः+अहीनानाम्) वेदाध्ययन और पञ्चमहायज्ञों से जो हीन नहीं अर्थात् जो प्रतिदिन इनका पालन करते हैं ऐसे श्रेष्ठ व्यक्तियों के (गृहेभ्यः) घरों से (प्रयतः) प्रयत्न पूर्वक (अन्वहम्) प्रतिदिन (भैक्षम् आहरेत्) भिक्षा ग्रहण करे ॥ १५८ ॥

किन-किन से भिक्षा ग्रहण न करे—

गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु ।
अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत् ॥ १५९ ॥[२।१८४] (१२६)

ब्रह्मचारी (गुरोः कुले न भिक्षेत) गुरु के परिवारों तथा मित्रों में भी भिक्षा न मांगे (अन्य गेहानाम् अलाभे तु) अन्य घरों से यदि भिक्षा न मिले तो (पूर्वं-पूर्वं विवर्जयेत्) पूर्व-पूर्व घरों को छोड़ते हुए भिक्षा प्राप्त कर ले

अर्थात् पहले मित्रों, परिचितों या घनिष्ठों के घरों से भिक्षा मांगे, वहां न मिले तो सम्बन्धियों में, वहां भी न मिले तो गुरु के परिवार से भिक्षा मांग सकता है ॥ १५९ ॥

पापकर्म करने वालों से भिक्षा न लें—

सर्वं वाऽपि चरेद् ग्रामं पूर्वोक्तानामसम्भवे ।
नियम्य प्रयतो वाचमभिशस्तांस्तु वर्जयेत् ॥ १६० ॥ [२।१८५](१२७)

(पूर्वोक्तानाम्+असंभवे) पूर्व [२।१५८-१५९] कहे हुए घरों के अभाव में (सर्वं वा+अपि ग्रामं चरेत्) सारे ही गांव में भिक्षा मांग ले (तु) किन्तु (प्रयतः) प्रयत्नपूर्वक (वाचं नियम्य) अपनी वाणी को नियन्त्रण में रखता हुआ (अभिशस्तान्) पापी व्यक्तियों को (वर्जयेत्) छोड़ देवे अर्थात् पापी लोगों के सामने किसी भी अवस्था में भिक्षा-याचना के लिए वाणी न खोले ॥ १६० ॥

सायं-प्रातः अग्निहोत्र का पुनः विशेष विधान—

दूरदाहृत्य समिधः सन्निदध्याद्विहायसि ।
सायम्प्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः ॥ १६१ ॥ [२।१८६](१२८)

(दूरात् समिधः आहृत्य) दूरस्थान अर्थात् जंगल आदि से समिधाएं लाकर (विहायसि संनिदध्यात्) उन्हें खुले [=हवादार] स्थान में रख दे (ताभिः) और फिर उनसे (अतन्द्रितः) आलस्यरहित होकर (सायं च प्रातः) सायंकाल और प्रातःकाल दोनों समय (अग्निं जुहुयात्) अग्निहोत्र करे ॥ १६१ ॥

"अग्निहोत्र सायं-प्रातः दो काल में करे। दो ही रात-दिन की संधि-वेला हैं, अन्य नहीं।" (स० प्र० पृ० ४१)

अनुशीलन : यज्ञ की समिधाएं—समिधाएं किस-किस वृक्ष की और कैसी होनी चाहिए इसके ज्ञान के लिए महर्षि दयानन्द का उद्धरण विशेष उपयोगी है—

"पलाश, शमी, पीपल, बड़, गूलर, आंब [आम] बिल्व आदि की समिधा वेदी के प्रमाण छोटी-बड़ी कटवा लेवें। परन्तु ये समिधा कीड़ा लगी, मलिन देशोत्पन्न और अपवित्र पदार्थ आदि से दूषित न हों, अच्छे प्रकार देख लेवें, और बराबर और बीच में चुनें। (सं० वि० सामान्य प्र०)

गुरु के समीप रहते ब्रह्मचारी की मर्यादाएं—

चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा ।
कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च ॥ १६६ ॥[२।१९१](१२९)

(गुरुणा चोदितः) गुरु के द्वारा प्रेरणा करने पर (वा) अथवा (अप्रचोदितः एव) बिना प्रेरणा किये भी [ब्रह्मचारी] (नित्यम्) प्रतिदिन (अध्ययने) पढ़ने में (च) और (आचार्यस्य हितेषु) गुरु के हितकारक कार्यों में (यत्नं कुर्यात्) यत्न करे ॥ १६६ ॥

गुरु के सम्मुख सावधान होकर बैठे और खड़ा हो—

शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च ।
नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम् ॥१६७॥ [२।१९२] (१३०)

[गुरु के सामने बैठने या खड़े होने की अवस्था में ब्रह्मचारी] (शरीरं च वाचं च बुद्धि+इन्द्रिय+मनांसि एव च) शरीर, वाणी, ज्ञानेन्द्रियों और मन को भी (नियम्य) वश में करके अर्थात् सावधान होकर (गुरोः मुखं वीक्षमाणः) गुरु के सामने देखता हुआ (प्राञ्जलिः) हाथ जोड़कर (तिष्ठेत्) बैठे और खड़ा होवे ॥ १६७ ॥

गुरु के आदेशानुसार चले—

नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात्साध्वाचारः सुसंयतः ।
आस्यतामिति चोक्तः सन्नासीताभिमुखं गुरोः ॥१६८॥ [२।१९३](१३१)

(नित्यम्+उद्धृतपाणिः स्यात्) सदा उद्धृतपाणि रहे अर्थात् ओढ़नेके वस्त्र से दायां हाथ बाहर रखे [ओढ़ने के वस्त्र को इस प्रकार ओढ़े कि वह दायें हाथ के नीचे से होता हुआ बायें कंधे पर जाकर टिके, जिसे दायां कन्धा और हाथ वस्त्र से बाहर निकला रहा जाये] (साधु+आचारः) शिष्टसभ्य आचरण रखे (सुसंयतः) संयमपूर्वक रहे ('आस्यताम्' इति उक्तः सन्) गुरु के द्वारा 'बैठो' ऐसा कहने पर (गुरोः अभिमुखं आसीत) गुरु के सामने उनकी ओर मुख करके बैठे ॥ १६८ ॥

गुरु से निम्न स्तर की वेशभूषा रखे—

हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ ।
उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत् ॥ १६९ ॥ [२।१९४](१३२)

(गुरु-सन्निधौ) गुरुके समीप रहते हुए (सर्वदा) सदा (हीन+अन्न+वस्त्र+वेषः स्यात्) अन्न=भोज्यपदार्थ, वस्त्र और वेशभूषा गुरु से

सामान्य [illegible] (च) और (अस्य प्रथमम् उत्तिष्ठेत्) इस गुरु से पहले जागे (च) तथा (चरमं संविशेत्) बाद में सोये ॥ १६६ ॥

बातचीत करने का शिष्टाचार—

प्रतिश्रवणसम्भाषे शयानो न समाचरेत् ।
नासीनो न च भुञ्जानो न तिष्ठन्न पराङ्मुखः ॥१७०॥[२।१६५](१३३)

(प्रतिश्रवण+संभाषे) प्रतिश्रवण अर्थात् गुरु की बात या आज्ञा का उत्तर देना या स्वीकृति देना, और संभाषा—बातचीत, ये (शयानः न समाचरेत्) लेटे हुए न करे (न+आसीनः) न बैठे-बैठे (न भुञ्जानः) न कुछ खाते हुए (च) और (न तिष्ठन्) न दूर खड़े होकर (न पराङ्मुखः) न मुंह फेरकर ये बातें करे [करणीय शिष्ट स्थितियों का वर्णन १७१-१७२ में है] ॥ १७० ॥

आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः ।
प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्धावंस्तु धावतः ॥१७१॥[२।१६६](१३४)

(आसीनस्य स्थितः) बैठे हुए गुरु से खड़ा होकर (तिष्ठतः तु अभिगच्छन्) खड़े हुए गुरु के सामने जाकर (आव्रजतः तु प्रति+उद्गम्य) अपनी ओर आते हुए गुरु से उसकी ओर शीघ्र आगे बढ़कर (धावतः तु पश्चात् धावन्) दौड़ते हुए के पीछे दौड़कर (कुर्यात्) प्रतिश्रवण और बातचीत [२ । १७०] करे ॥ १७१ ॥

पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैत्य चान्तिकम् ।
प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः ॥१७२॥ [२।१६७](१३५)

(पराङ्मुखस्य+अभिमुखः) गुरु यदि मुँह फेरे हों तो उनके सामने होकर (च) और (दूरस्थस्य अन्तिकम् एत्य) दूर खड़े हों तो पास जाकर (शयानस्य तु) लेटे हों (च) और (निदेशे एव तिष्ठतः) समीप ही खड़े हों तो (प्रणम्य) विनम्र होकर प्रतिश्रवण और बातचीत करे ॥ १७२ ॥

गुरु से निम्न आसन पर बैठे—

नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ ।
गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत् ॥ १७३ ॥ [२।१६८] (१३६)

(गुरुसन्निधौ) गुरु के समीप रहते हुए (अस्य) इस ब्रह्मचारी का (शय्या+आसनम्) बिस्तर और आसन (सर्वदा) सदा ही (नीचम्) गुरु के आसन से नीचा या साधारण रहना चाहिए (गुरोः तु चक्षुः विषये) और

गुरु की आंखों के सामने (यथेष्टासनः न भवेत्) कभी मनमाने आसन से न बैठे अर्थात् शिष्टतापूर्वक बैठे ॥ १७३ ॥

गुरु का नाम न ले—

नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम् ।
न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम् ॥ १७४ ॥ [२।१९९] (१३७)

(परोक्षम् अपि) पीछे से भी (अस्य) **अपने गुरु का (केवलं नाम** न +उदाहरेत्) केवल नाम न ले [अर्थात् जब भी गुरु के नाम का उच्चारण करना पड़े तो 'आचार्य' 'गुरु' आदि सम्मानबोधक शब्दों के साथ करना चाहिए, अकेला नाम नहीं] (च) और (अस्य) इस गुरु की (गति+भाषित +चेष्टितम्) चाल, वाणी तथा चेष्टाओं का (न अनुकुर्वीत) अनुकरण= नकल न उतारे ॥ १७४ ॥

गुरु की निन्दा न सुने—

गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वाऽपि प्रवर्त्तते ।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः ॥१७५॥ [२।२००] (१३८)

(यत्र) जहां (गुरोः परीवादः अपि वा निन्दा प्रवर्त्तते) गुरु की बुराई अथवा निन्दा हो रही हो (तत्र) वहां (कर्णौ पिधातव्यौ) अपने कान बन्द कर लेने चाहिएं अर्थात् उसे नहीं सुनना चाहिए (वा) अथवा (ततः अन्यतः गन्तव्यम्) उस जगह से कहीं अन्यत्र चला जाना चाहिए ॥ १७५ ॥ ❀

अनुशीलन : 'कर्णौ पिधातव्यौ' मुहावरा—इस श्लोक में 'कर्णौ पिधातव्यौ' मुहावरे के रूप में प्रयुक्त है। इसका अभिप्राय कान बन्द कर लेना नहीं है अपितु 'न सुनना' या 'ध्यान न देना' है। इसका हिन्दी में अनूदित मुहावरा आज भी उसी अर्थ में प्रचलित है—'कान बन्द रखना' अर्थात् ध्यान न देना या न सुनना। इस के विपरीत 'कान धरना' या 'कान खुले रखना' मुहावरे प्रचलित हैं। जिन का अर्थ है—ध्यान से सुनना।

गुरु को कब अभिवादन न करे—

दूरस्थो नार्चयेदेनं न क्रुद्धो नान्तिके स्त्रियाः ।
यानासनस्थश्चैवैनमवरुह्याभिवादयेत् ॥१७७॥ [२।२०२] (१३९)

(एनम्) शिष्य अपने गुरु को (दूरस्थः) दूर से (न+अर्चयेत्) नमस्कार न करे (न क्रुद्धः) न क्रोध में (न स्त्रियाः अन्तिके) जब अपनी स्त्री के पास

❀ [**प्रचलित अर्थ**—जहां गुरु की बुराई या निन्दा होती हो वहां ब्रह्मचारी कानों को बन्द करले या वहां से अन्यत्र चला जावे ॥ २०० ॥]

अधर्म से हटाकर धर्म का उपदेश करने वालों में भी (नित्या एतत्+एव वृत्तिः) सदैव यही [ऊपर वर्णित] बर्ताव करे ॥ १८१ ॥

युवती गुरुपत्नी के चरणस्पर्श का निषेध और उसमें कारण—

गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः ।
पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता ॥१८७॥ [२।२१२] (१४४)

(पूर्णविंशतिवर्षेण) जिसके बीस वर्ष पूर्ण हो चुके हैं ऐसे (गुणदोषौ विजानता) गुण और दोषों को समझने में समर्थ युवक शिष्य को (युवतिः गुरुपत्नी तु) जवान गुरुपत्नी का (पादयोः न अभिवाद्या) चरणों का स्पर्श करके अभिवादन नहीं करना चाहिए [अर्थात् बिना चरणस्पर्श किये ही उसका अभिवादन करे । उसकी विधि २ । १९१ में वर्णित है] ॥ १८७ ॥

युवति के चरण स्पर्श से हानि—

स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम् ।
अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः ॥१८८॥ [२।२१३] (१४५)

(इह) इस संसार में (एषः स्वभावः) यह स्वाभाविक ही है कि (नारीणां नराणां दूषणम्) स्त्री-पुरुषों का परस्पर के संसर्ग से दूषण हो जाता है—दोष लग जाता है (अतः अर्थात्) इस कारण (विपश्चितः) बुद्धिमान् व्यक्ति (प्रमदासु) स्त्रियों के साथ व्यवहारों में (न प्रमाद्यन्ति) कभी असावधानी नहीं करते अर्थात् ऐसा कोई वर्ताव नहीं करते जिससे सदाचार के मार्ग से भटक जाने की आशंका हो ॥ १८८ ॥ ❀

अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः ।
प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम् ॥१८९॥ [२।२१४](१४६)

(लोके) संसार में (प्रमदाः) स्त्रियाँ (काम-क्रोध-वश+अनुगम) काम और क्रोध के वशीभूत होने वाले (अविद्वांसम्) अविद्वान् को (वा) अथवा (विद्वांसम्+अपि) विद्वान् व्यक्ति को भी (उत्पथं नेतुम्) उसके मार्ग से उखाड़ने में अर्थात् उद्देश्य से पथभ्रष्ट करने में (हि) निश्चय से (अलम्) पूर्णतः समर्थ हैं ॥ १८९ ॥

अभिप्राय यह है कि स्त्रियों में हाव-भाव और रूप सौन्दर्य के द्वारा

❀ [प्रचलित अर्थ—स्त्रियों का यह स्वभाव है कि इस जगत् में शृङ्गार-चेष्टाओं के द्वारा व्यामोहित कर पुरुषों में दूषण उत्पन्न कर देती हैं, अत एव विद्वान् पुरुष स्त्रियों के विषय में असावधानी नहीं करते किन्तु सर्वदा उनसे अलग ही रहते हैं ॥ २१३ ॥]

पुरुषों को मोहित कर लेने का पूर्ण सामर्थ्य है। उनके इन गुणों के कारण पुरुष उनके संसर्ग से स्वयं अथवा उन्हीं के प्रयत्न से सदाचार के मार्ग से भ्रष्ट हो सकता है।

स्त्रीवर्ग के साथ एकान्तवास निषेध—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥१९०॥[२।२१५](१४७)

[मनुष्य को चाहिए कि] (मात्रा स्वस्रा वा दुहित्रा) माता, बहन अथवा पुत्री के साथ भी (विविक्त+आसनः न भवेत्) एकान्त आसन पर न बैठे या न रहे, अर्थात् एकान्तनिवास न करे क्योंकि (बलवान्+इन्द्रिय-ग्रामः) शक्तिशाली इन्द्रियां (विद्वांसम्+अपि) विद्वान्=विवेकी व्यक्ति को भी (कर्षति) खींचकर अपने वश में कर लेतीं हैं अर्थात् अपने-अपने विषयों में फंसाकर पथभ्रष्ट कर देती हैं ॥ १९० ॥

"इस वाक्य का अर्थ—इन्द्रियाँ इतनी प्रबल हैं कि माता तथा बहनों के साथ रहने में भी सावधान रहना चाहिए।" (पू० प्र० १५)

युवति गुरुपत्नी के अभिवादन की विधि—

कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भुवि।
विधिवद्वन्दनं कुर्यादसावहमिति ब्रुवन् ॥१९१॥[२।२१६] (१४८)

(कामं तु) अच्छा तो यही है कि (युवा) युवक शिष्य (युवतीनां गुरुपत्नीनाम्) जवान गुरुपत्नियों को (असौ+अहम्+इति ब्रुवन्) 'यह मैं अमुक नाम वाला हूँ' ऐसा कहते हुए (विधिवत्) पूर्ण विधि के अनुसार [२।९७, ९९] (भुवि) भूमि पर झुककर ही (वन्दनं कुर्यात्) अभिवादन करे ॥ १९१ ॥

विप्रोष्य पादग्रहणमन्वहं चाभिवादनम्।
गुरुदारेषु कुर्वीत सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ १९२ ॥[२।२१७] (१४९)

शिष्य (सतां धर्मम्+अनुस्मरन्) श्रेष्ठों के धर्म को स्मरण करते हुए अर्थात् यह विचारते हुए कि स्त्रियों को अभिवादन करना शिष्ट व्यक्तियों का कर्त्तव्य है (गुरुदारेषु) गुरुपत्नियों को (अन्वहम् अभिवादनं कुर्वीत) प्रतिदिन अभिवादन करे (च) और (विप्रोष्य) परदेश से लौटकर (पादग्रहणम्) चरणस्पर्श कर अभिवादन करे ॥ १९२ ॥

गुरु सेवा का फल—

यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥१९३॥ [२।२१८](१५०)

(यथा खनित्रेण खनन् नरः) जैसे फावड़े से खोदता हुआ मनुष्य (वारि+अधिगच्छति) जल को प्राप्त करता है (तथा) वैसे (शुश्रूषु) गुरु की सेवा करने वाला पुरुष (गुरुगतां विद्याम्) गुरुजनों ने जो विद्या प्राप्त की है, उसको (अधिगच्छति) प्राप्त होता है ॥ १९३ ॥ (सं० वि० ८५)

ब्रह्मचारी के लिए केश-सम्बन्धी तीन विकल्प एवं ग्रामनिवास का निषेध—

मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखाजटः ।
नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत्सूर्यो नाभ्युदियात्क्वचित् ॥१९४॥[२।२१९](१५१)

ब्रह्मचारी (मुण्डः वा जटिलः वा स्यात्) चाहे तो सब केश मुंडवा कर रहे, चाहे सब केश रखकर रहे (अथवा) या फिर (शिखाजटः) केवल शिखा रखकर [शेष केश मुंडवाकर] (स्यात्) रहे । (एनम्) इस ब्रह्मचारी को (क्वचित् ग्रामे) किसी निवास स्थान में रहते (सूर्यः) सूर्य (न अभिनिम्लोचेत्) न तो अस्त हो (न=अभ्युदियात्) न कभी उदय हो अर्थात् प्रमाद के कारण उसके निवास स्थान पर रहते-रहते सूर्य अस्त नहीं होना चाहिए और न ही सोते-सोते सूर्योदय होना चाहिए अपितु उससे पूर्व ही संध्योपासन आदि नित्यकर्मों के लिये वन-प्रदेश में निकल जाना चाहिए [२। ७६, ७८, ७७, ७६] ॥ १९४ ॥

प्रमादवश सोते रहने पर प्रायश्चित्त—

तं चेदभ्युदियात्सूर्यः शयानं कामचारतः ।
निम्लोचेद्वाऽप्यविज्ञानाज्जपन्नुपवसेद्दिनम् ॥१९५॥ [२।२२०](१५२)

(तं चेत्) यदि उसे (कामचारतः शयानम्) इच्छानुसार सोते हुए (सूर्यः अभि+उदियात्) सूर्य का उदय हो जाये (अपि वा) अथवा (अविज्ञानात् निम्लोचेत्) अनजाने में या प्रमाद के कारण सूर्य अस्त हो जाये तो (दिनं जपन्+उपवसेत्) दिनभर गायत्री का जप करते हुए उपवास करे=खाना न खाये ॥ १९५ ॥

सूर्येण ह्यभिनिर्मुक्तः शयानोऽभ्युदितश्च यः ।
प्रायश्चित्तमकुर्वाणो युक्तः स्यान्महतैनसा ॥१९६॥[२२१](१५३)

(यः) जो (सूर्येण अभिनिर्मुक्तः) प्रमाद में सूर्य के अस्त हो जाने

पर (च) और (शयानः+अभ्युदितः) सोते-सोते सूर्य उदय होने पर (प्रायश्चित्तम् अकुर्वाणः) प्रायश्चित्त नहीं करता है वह (महता+एनसा युक्तः स्यात्) बड़े अपराध का भागी बनता है अर्थात् उसे बड़ा दोषी माना जायेगा, क्योंकि संध्याकालों में ब्रह्मचारी के लिये सबसे परमावश्यक कर्म संध्योपासन का विधान है और इस कर्म में प्रमाद करने से ब्रह्मचारी के पापों में फंसने का भय रहता है ॥ १९६ ॥

अनुशीलन : 'एनः' के अर्थज्ञान के लिए २।२ [२।२७] पर भी समीक्षा द्रष्टव्य है।

संध्योपासन का विधान एवं विधि—

आचम्य प्रयतो नित्यमुभे संध्ये समाहितः।
शुचौ देशे जपञ्जप्यमुपासीत यथाविधि ॥१९७॥[२।२२२] (१५४)

ब्रह्मचारी (नित्यम्) प्रतिदिन (उभे संध्ये) प्रातः और सायं दोनों संध्याकालों में [२।७६, ७७] (शुचौ देशे) शुद्ध स्थान में (आचम्य) आचमन करके (प्रयतः) प्रयत्नपूर्वक (समाहितः) एकाग्र होकर (जप्यं जपन् उपासीत) परमेश्वर का जप करते हुए उपासना करे ॥ १९७ ॥

"नित्य संध्योपासन……………के पूर्व शुद्ध जल का आचमन किया करे।" (सं० वि० ७६)

स्त्री-शूद्रादि के उत्तम आचरण का भी अनुकरण करे—

यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयः किंचित्समाचरेत्।
तत्सर्वमाचरेद्युक्तो यत्र वाऽस्य रमेन्मनः ॥१९८॥[२।२२३](१५५)

(यदि स्त्री यदि+अवरजः) यदि स्वाश्रित स्त्री अथवा शूद्र भी (किंचित् श्रेयः समाचरेत्) कोई श्रेष्ठ कार्य करें (तत्सर्वं+आचरेत्) उनसे शिक्षा लेकर उस पर आचरण करना चाहिए (वा) अथवा (यत्र) जिस शास्त्रोक्त कर्म में (अस्य मनः रमेत्) इसका मन रमे उस श्रेष्ठ कार्य को करता रहे ॥ १९८ ॥

निम्नस्तर के व्यक्ति से भी ज्ञान-धर्म की प्राप्ति—

श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥२१३॥[२।२३८](१५६)

(शुभां विद्यां श्रद्दधानः) उत्तम विद्या प्राप्ति की श्रद्धा करता हुआ पुरुष (अवरात्+अपि आददीत) अपने से न्यून से भी विद्या पावे तो ग्रहण

करे (अन्त्यात्+अपि परं धर्मम्) नीच जाति से भी उत्तम धर्म का ग्रहण करे, और (दुष्कुलात् अपि स्त्रीरत्नम्) निंद्यकुल से भी स्त्रियों में उत्तम स्त्री का ग्रहण करे, यह नीति है ॥ २१३ ॥ (सं० वि० ८५)

उत्तम वस्तुओं का सभी स्थानों से ग्रहण—

विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम् ।
अमित्रादपि सद्वृत्तममेध्यादपि काञ्चनम् ॥२१४॥[२।२३९](१५७)

(विषात्+अपि+अमृतं ग्राह्यम्) विष से भी अमृत का ग्रहण कर लेना चाहिए, और (बालात्+अपि सुभाषितम्) बालक से भी उत्तम वचन को ग्रहण कर लेना चाहिए, और (अमित्रात्+अपि सद्-वृत्तम्) वैरी से भी श्रेष्ठ आचरण सीख लेना चाहिए, तथा (अमेध्यात्+अपि काञ्चनम्) अशुद्ध स्थान से भी स्वर्ण या मूल्यवान् वस्तु को प्राप्त कर लेना चाहिए ॥ २१४ ॥

"विष से भी अमृत का ग्रहण करना, बालक से भी उत्तम वचन को ले लेना।" (सं० वि० ८५)

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम् ।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥२१५॥[२।२४०](१५८)

"(स्त्रियः) उत्तम स्त्री (रत्नानि) नाना प्रकार के रत्न (विद्या) विद्या (धर्मः) सत्य (शौचम्) पवित्रता (सुभाषितम्) श्रेष्ठभाषण (च) और (विविधानि शिल्पानि) नाना प्रकार की शिल्पविद्या अर्थात् कारीगरी (सर्वतः समादेयानि) सब देश तथा सब मनुष्यों से ग्रहण करें" ॥ २१५ ॥ (स० प्र० ९६)

अनुशीलन : इस अध्याय का विषय विद्या या शिक्षा प्राप्ति का है। २१३–२१५ श्लोकों में विद्या-सम्बन्धी बात प्रमुखतः कहते हुए साथ ही अन्य सामान्य शिक्षाप्रद बातें भी कह दी हैं जो कि लोकोक्तिवत् प्रसिद्ध हैं। विद्या से सम्बद्ध होने के कारण ये सभी वचन प्रासंगिक एवं विषयसंगत हैं।

आपत्ति काल में अब्राह्मण से विद्याध्ययन एवं उसके नियम—

अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते ।
अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः ॥२१६॥ [२।२४१](१५९)

(आपत्काले) आपत्ति काल में (अब्राह्मणात्) अब्राह्मण अर्थात् क्षत्रिय आदि से भी (अध्ययनम्) विद्या ग्रहण करना (विधीयते) विहित है (यावत् अध्ययनम्) शिष्य जब तक पढ़े तब तक (गुरोः अनुव्रज्या च शुश्रूषा) गुरु की आज्ञा का पालन और सेवा करे ॥ २१६ ॥

अनुशीलन : अब्राह्मण से विद्या प्राप्ति--अब्राह्मण से विद्याप्राप्ति की परम्परा मनु के पश्चात् भी रही है। यद्यपि विद्यादान ब्राह्मण का प्रमुख कर्त्तव्य रहा है किन्तु अन्य वर्णों से भी विद्या प्राप्त की जा सकती है इसकी पुष्टि मनु निम्न श्लोकों में पहले भी कर चुके हैं—

(क) श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि ।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥ २। २१३ (२३८)

(ख) स्त्रियः रत्नान्यथो विद्या.........समादेयानि सर्वतः ॥ २।२१५(२४०)

(ग) सुश्रुत ने भी इसका समर्थन किया है (सूत्रस्थान द्वि० अ०)

"ब्राह्मणस्त्रयाणां वर्णानामुपनयनं कर्त्तुमर्हति, राजन्यो द्वयस्य, वैश्यो वैश्यस्यैवेति । शूद्रमपि कुलगुणसम्पन्नं मन्त्रवर्जमुपनीतमध्यापयेदित्येके ।"=ब्राह्मण तीनों वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य; क्षत्रिय, क्षत्रिय और वैश्य; तथा वैश्य एक वैश्य वर्ण को यज्ञोपवीत कराके पढ़ा सकता है। और जो कुलीन शुभलक्षणयुक्त शूद्र हो तो उसको मन्त्रसंहिता छोड़के सब शास्त्र पढ़ावे, शूद्र पढ़े परन्तु उसका उपनयन न करे यह मत अनेक आचार्यों का है (स० प्र० तृ० समु०)। उपनयन और मन्त्रसंहिताओं का निषेध यह इसलिए है कि वह निश्चित समय पर इस संस्कार का अधिकार खो बैठता है, इसी कारण वह शूद्र कहलाता है, किन्तु पढ़ना उसको भी चाहिए।

नाब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वासमात्यन्तिकं वसेत् ।
ब्राह्मणे चाननूचाने काङ्क्षन्गतिमनुत्तमाम् ॥२१७॥ [२।२४२] (१६०)

(अनुत्तमां गतिं काक्षन् शिष्यः) उत्तमगति चाहने वाले शिष्य को चाहिए कि वह (अब्राह्मणे गुरौ) अब्राह्मण गुरु के यहाँ (च) और (अन्+अनूचाने ब्राह्मणे) वेदों में अपारंगत=सांङ्गोपाङ्ग वेदों के अध्यापन में असमर्थ ब्राह्मण गुरु के समीप भी (आत्यन्तिकं वासं न वसेत्) आजीवन निवास न करे [क्योंकि इनके पास शिष्य की प्रगति रुक जाती है। सांगोपांग वेदों के ज्ञाता विद्वान् के पास रहकर ही उन्नति की उत्तम गति तक पहुंच सकता है] ॥ २१७ ॥

यदि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत गुरोः कुले ।
युक्तः परिचरेदेनमाशरीरविमोक्षणात् ॥२१८॥ [२।२४३] (१६१)

(यदि तु) यदि ब्रह्मचारी शिष्य (गुरोः कुले) गुरुकुल में (आत्यन्तिकं वासं रोचयेत) जीवन-पर्यन्त निवास करना चाहे तो (आशरीर-विमोक्षणात्) शरीर छूटनेपर्यन्त (एनम्) अपने गुरु की (युक्तः परिचरेत्) प्रयत्न पूर्वक सेवा करे ॥ २१८ ॥

समावर्तन की इच्छा होने पर गुरुदक्षिणा का विधान एवं नियम—

न पूर्वं गुरवे किञ्चिदुपकुर्वीत धर्मवित् ।
स्नास्यंस्तु गुरुणाऽऽज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत् ॥२२०॥ [२।२४५] (१६२)

(धर्मवित्) विधि का ज्ञाता शिष्य (स्नास्यन् तु) स्नातक बनने [समावर्तन कराने] की इच्छा होने पर (गुरुणा+आज्ञप्तः) गुरु से आज्ञा प्राप्त करके (शक्त्या) शक्ति के अनुसार (गुर्वर्थम्) गुरु के लिए (आहरेत्) दक्षिणा प्रदान करे। किन्तु (पूर्वं गुरवे किंचित् न उपकुर्वीत) समावर्तन से पहले गुरु को दक्षिणा या भेंट रूप में कुछ नहीं देना चाहिए ॥ २२० ॥

गुरुदक्षिणा में देय वस्तुएं—

क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमासनम् ।
धान्यं वासांसि वा शाकं गुरवे प्रीतिमावहेत् ॥२२१॥ [२।२४६] (१६३)

[शिष्य यथाशक्ति] (क्षेत्रम्) भूमि (हिरण्यम्) सोना (गाम्) गाय (अश्वम्) घोड़ा (छत्र+उपानहम्+आसनम्) छाता, जूता, आसन (धान्यम्) अन्न (वासांसि) वस्त्र (वा) अथवा (शाकम्) शाक (गुरवे) गुरु के लिए (प्रीतिम्+आवहेत्) प्रीतिपूर्वक दक्षिणा में दे ॥ २२१ ॥

आजीवन ब्रह्मचर्य पालन का फल—

एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविप्लुतः ।
स गच्छत्युत्तमस्थानं न चेहाजायते पुनः ॥ २२४ ॥ [२।२४९] (१६४)

(यः विप्रः) जो द्विज विद्वान् (एवम्) उपर्युक्त प्रकार से (अविप्लुतः) अखण्डित रूप से (ब्रह्मचर्यं चरति) ब्रह्मचर्याश्रम का सेवन करता है (सः उत्तमं स्थानं गच्छति) वह उत्तम स्थान अर्थात् ब्रह्म के पद को प्राप्त करता है (च) और (इह) इस संसार में (पुनः न आजायते) पुनर्जन्म नहीं लेता अर्थात् प्रवाह से चलने वाले जन्म-मरण से छूट जाता है। [क्योंकि मोक्षसुख भी कर्मों का फल है, अतः वह सान्तकर्मों का अनन्त फल नहीं हो सकता। अतः मोक्ष-सुख की अवधि पूरी होने पर जीव का फिर जन्म अवश्य होता है।] ॥ २२४ ॥

इति महर्षि-मनुप्रोक्तायां सुरेन्द्रकुमारकृत हिन्दीभाष्यसमन्वितायाम्
'अनुशीलन' समीक्षाविभूषितायाञ्च विशुद्धमनुस्मृतौ
संस्कार-ब्रह्मचर्याश्रमात्मको द्वितीयोऽध्यायः ॥